हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किए जाएं। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाए जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

"कराधान : एक सैद्धान्तिक विवेचन" नामक पुस्तक सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसमें कराधान के विभिन्न पहलुओं पर प्रसिद्ध ग्रन्थों एवं पत्रिकाओं में अधिकारी विद्वानों के चुने हुए लेखों का हिन्दी अनुवाद एवं विषय-प्रवेश का मौलिक लेखन श्री लक्ष्मीनारायण नाथूरामका ने किया है। लेखों के चयन में डा० राजा जे० चेल्लैया, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अनुवाद का पुनरीक्षण डा० इन्द्रदेव, केन्द्र के भूतपूर्व कार्यवाहक निदेशक, द्वारा किया गया है। आशा है भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में, विशेषतया सार्वजनिक वित्त के पाठकों द्वारा स्वागत किया जाएगा।

प्राक्कथन

भारतीय विश्वविद्यालयों में स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी के निरन्तर बढ़ते हुए उपयोग से विभिन्न विषयों में हिन्दी में प्रामाणिक एवं उच्चस्तरीय साहित्य की मांग तेजी से बढ़ रही है। शिक्षा के स्तर को ऊँचा बनाये रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि एक तरफ विद्वान् अधिकारियों द्वारा हिन्दी में मौलिक रचनाएं प्रस्तुत की जाएं और दूसरी तरफ विभिन्न विषयों पर उपलब्ध अंग्रेजी के ग्रन्थों एवं ख्यातिप्राप्त पत्रिकाओं में प्रकाशित उच्चकोटि के उपयोगी लेखों का शुद्ध, सरल एवं सुन्दर अनुवाद भी शीघ्रतापूर्वक प्रकाशित किया जाय। मेरी यह मान्यता है कि अंग्रेजी से हिन्दी माध्यम में परिवर्तन की अवधि यथासंभव कम की जानी चाहिए, अन्यथा शैक्षणिक स्तरों में होने वाली गिरावट को रोक सकना कठिन हो जायेगा। इसके लिए व्यापक पैमाने पर श्रेष्ठ रचनाओं के हिन्दी अनुवाद विद्यार्थियों को उपलब्ध किये जाने चाहिए।

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि हमारे विश्वविद्यालय के तत्वावधान में 'सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र' की ओर से कराधान के विभिन्न पहलुओं पर अधिकृत सामग्री का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है यह ग्रन्थ 'सार्वजनिक वित्त' के कराधान-पक्ष में रुचि रखने वाले छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा और यह विभिन्न विश्वविद्यालयों के सबधित पाठ्यक्रमों में निस्सदेह शामिल किया जा सकेगा।

मेरा विश्वास है कि सुयोग्य अनुवादक व संकलनकर्ता ने बड़ी तत्परता एवं लगन से इस कार्य को सम्पादित किया है। फिर भी यदि इसमें अधिक लेखों का समावेश हो सकता तो इस रचना की उपयोगिता और भी बढ़ सकती थी, लेकिन मुझे यह बतलाया गया है कि अनुवादाधिकार प्राप्त करने में काफी समस्याएं हैं जिनके कारण प्रथम् संस्करण में इससे आगे जा सकना दुष्कर था। संभवतः आगामी संस्करणों में यह अभाव दूर किया जा सकेगा।

प्रबुद्ध बिहारी माथुर

उप-कुलपति

23 दिसम्बर, 1966. राजस्थान विश्वविद्यालय

आभार-प्रकाश

हम उन लेखकों व प्रकाशकों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं जिनके लेखों एवं पुस्तकों के अध्यायों का हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ में शामिल किया गया है। प्रथम अध्याय में डेविड वाकर के सुप्रसिद्ध लेख "The Direct-Indirect Tax Problem : Fifteen Years of Controversy" का अनुवाद है जो नीदरलैंड से प्रकाशित होने वाले Public Finance के खण्ड x/x-m Anne'e संख्या 2, 1955 में छपा था। दूसरे अध्याय में भारत के कराधान-जांच-आयोग की रिपोर्ट, खण्ड I, 1953-54 से आठवें अध्याय : Outlines of Tax Policy का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में आर० ए० मसग्रेव के लेख "On Incidence" का हिन्दी अनुवाद है जो "Journal of Political Economy" खण्ड LXI, अगस्त, 1953, संख्या 4 में छपा था। यह University of Chicago Press की अनुमति से प्रकाशित किया जा रहा है। चतुर्थ अध्याय में जेम्स एम० बुकानन की पुस्तक Fiscal Theory and Political Economy—Selected Essays (1960) से "The Methodology of Incidence Theory : A Critical Review of Some Recent Contributions" नामक अध्याय का अनुवाद शामिल किया गया है। पांचवें व छठे अध्यायों में डा० राजा जे० चेल्लैया की पुस्तक "Fiscal Policy in Underdeveloped Countries" से क्रमशः "The Principle of Taxation According to Ability to Pay" (Pp 60-71) एवं "Indirect Taxation" (Pp 85-105) का हिन्दी अनुवाद जोड़ा गया है। सातवें, आठवें व नवें अध्यायों में प्रोफेसर निकोलस केल्डॉर की Indian Tax Reform नामक रिपोर्ट से क्रमशः अध्याय 1, 2 व 3 के प्रमुख प्रकरणों का अनुवाद दिया गया है।

आभार-प्रकाश

हम उन लेखकों व प्रकाशकों के प्रति अपना आभार प्रकट करते है जिनके लेखो एव पुस्तको के अध्यायों का हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ मे शामिल किया गया है। प्रथम अध्याय मे डेविड वाकर के सुप्रसिद्ध लेख "The Direct-Indirect Tax Problem : Fifteen Years of Controversy" का अनुवाद है जो नीदरलैंड से प्रकाशित होने वाले Public Finance के खण्ड x/x-m Anne'e सख्या 2, 1955 मे छपा था। दूसरे अध्याय मे भारत के कराधान-जाच-आयोग की रिपोर्ट खण्ड 1, 1953-54 से आठवें अध्याय : Outlines of Tax Policy का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय मे आर० ए० मसग्रेव के लेख "On Incidence" का हिन्दी अनुवाद है जो "Journal of Political Economy" खण्ड LXI, अगस्त, 1953, सख्या 4 मे छपा था। यह University of Chicago Press की अनुमति से प्रकाशित किया जा रहा है। चतुर्थ अध्याय मे जेम्स एम० बुकानन की पुस्तक Fiscal Theory and Political Economy—Selected Essays (1960) से "The Methodology of Incidence Theory : A Critical Review of Some Recent Contributions" नामक अध्याय का अनुवाद शामिल किया गया है। पांचवें व छठे अध्यायो मे डा० राजा जे० चेल्लैया की पुस्तक "Fiscal Policy in Underdeveloped Countries" से क्रमश "The Principle of Taxation According to Ability to Pay" (Pp 60-71) एव "Indirect Taxation" (Pp 85-105) का हिन्दी अनुवाद जोड़ा गया है। सातवें, आठवें व नवें अध्यायो मे प्रोफेसर निकोलस केल्डॉर की Indian Tax Reform नामक रिपोर्ट से क्रमश. अध्याय 1, 2 व 3 के प्रमुख प्रकरणों का अनुवाद दिया गया है।

आभार-प्रकाश

हम उन लेखकों व प्रकाशकों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं जिनके लेखों एवं पुस्तकों के अध्यायों का हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ में शामिल किया गया है। प्रथम अध्याय में डेविड वाकर के सुप्रसिद्ध लेख "The Direct-Indirect Tax Problem: Fifteen Years of Controversy" का अनुवाद है जो नीदरलैंड से प्रकाशित होने वाले Public Finance के खण्ड x/x-m Anne'e संख्या 2, 1955 में छपा था। दूसरे अध्याय में भारत के कराधान-जांच-आयोग की रिपोर्ट, खण्ड I, 1953-54 से आठवें अध्याय : Outlines of Tax Policy का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में आर० ए० मसग्रेव के लेख "On Incidence" का हिन्दी अनुवाद है जो "Journal of Political Economy" खण्ड LXI, अगस्त, 1953, संख्या 4 में छपा था। यह University of Chicago Press की अनुमति से प्रकाशित किया जा रहा है। चतुर्थ अध्याय में जेम्स एम० बुकानन की पुस्तक Fiscal Theory and Political Economy—Selected Essays (1960) से "The Methodology of Incidence Theory : A Critical Review of Some Recent Contributions" नामक अध्याय का अनुवाद शामिल किया गया है। पांचवें व छठे अध्यायों में डा० राजा जे० चेलैया की पुस्तक "Fiscal Policy in Underdeveloped Countries" से क्रमशः "The Principle of Taxation According to Ability to Pay" (Pp 60-71) एवं "Indirect Taxation" (Pp 85-105) का हिन्दी अनुवाद जोड़ा गया है। सातवें, आठवें व नवें अध्यायों में प्रोफेसर निकोलस केल्डोर की Indian Tax Reform नामक रिपोर्ट से क्रमशः अध्याय 1, 2 व 3 के प्रमुख प्रकरणों का अनुवाद दिया गया है।

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

सरकार को अपने व्यय-कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए वित्तीय साधनों को जुटाने की आवश्यकता होती है। इन वित्तीय साधनों को विभिन्न प्रकार से जुटाया जा सकता है। अधिकांश सरकारी कार्य सामूहिक उपभोग (Collective Consumption) जैसे होते हैं, अत: ये करों के द्वारा ही पूरे किये जाने चाहिए। चूंकि इन सरकारी कार्यक्रमों के द्वारा सम्पूर्ण समाज को लाभ प्राप्त होता है, अत: इनको छोटे अंशों में बाट कर नहीं बेचा जा सकता है। सामूहिक उपभोग की वस्तुओं में हम निषेधात्मक सिद्धान्त (Principle of exclusion) को नहीं अपना सकते। इस दृष्टि से इस प्रकार के कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए सम्पूर्ण समाज से ही साधन प्राप्त किए जाने चाहिए। ये साधन करों के रूप में प्राप्त किये जाते हैं। करों की विशेषता यह होती है कि ये अनिवार्य होते हैं तथा ये समाज पर किसी मान्य आधार के अनुसार लगाये जाते हैं। अतः सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में करों का बहुत महत्त्व है। जैसा स्पष्ट है कि कर अनिवार्य रूप से देने पड़ते हैं तथा किसी व्यक्ति द्वारा करों का देना उसे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त लाभ से सम्बन्धित नहीं होता है। अतः करों के लगाने का समाज की अर्थव्यवस्था पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कर-निर्धारण में करों के प्रभाव तथा समाज के आर्थिक उद्देश्यों को दृष्टिगत रखना आवश्यक होता है।

करारोपण के विभिन्न सिद्धान्त :—करों की महत्ता एवं प्रभाव की दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम उन सिद्धान्तों का विवेचन करें जिनके आधार पर कर लगाये जाने चाहिए। सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में प्रारम्भ से ही करों के सिद्धान्तों के विषय में विचार प्रगट किये गये हैं। वणिकवादियों एवं प्रकृतिवादियों ने करों के सम्बन्ध में अपने विचार बताये तथा इसके बाद एडम स्मिथ के करों के सिद्धान्त आज तक बहुत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। मकलों (Mcculloch) जे०बी० से, जे०एस० मिल तथा एजवर्थ ने करों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक अपने-अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इस क्षेत्र में डाल्टन एवं पीगू ने भी अपने विचारों से काफी योगदान दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वणिकवादियों से लेकर पीगू एवं डाल्टन तक विभिन्न विद्वानों ने करारोपण के सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं तथा विद्वान अब भी इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं।

वास्तव मे करारोपण के सिद्धान्त कल्याणकारी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। अभी तक के करारोपण के सिद्धान्त पेरेटो के कल्याणकारी अर्थशास्त्र (Paretian Welfare Economics) पर आधारित हैं, किन्तु अब कल्याणकारी अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे प्रो० एरो (Arrow) तथा अन्य विद्वानों ने नए विचार प्रतिपादित किये हैं। इस कारण से आजकल अर्थशास्त्री पेरेटियन कल्याणकारी अर्थशास्त्र को अधिक युक्तिसंगत एवं उपयोगी नहीं मानते हैं, हालांकि अभी तक भी सम्पूर्ण करारोपण के सिद्धान्त पेरेटो के विचारों पर आधारित हैं। किन्तु पेरेटेयिन कल्याणकारी अर्थशास्त्र के आधार पर आर्थिक कल्याण को ठीक-ठीक न माप सकने के कारण ये कर के उचित ढांचे के निर्माण मे कम ही उपयोगी सिद्ध हो पाते हैं।

वास्तव मे, करारोपण के सिद्धान्तों का निर्माण समाज द्वारा स्वीकृत उद्देश्यों के आधार पर ही किया जा सकता है। ये उद्देश्य देश, काल, अर्थव्यवस्था के स्तर एवं प्रकृति तथा उस समाज की सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आदि कई बातों पर निर्भर करते हैं। किन्तु फिर भी सामान्य रूप से करारोपण के सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए प्रो. ड्यू के अनुसार निम्नलिखित चार उद्देश्य स्वीकार किये जा सकते हैं; — (1) चुनाव की अधिकतम स्वतन्त्रता (2) उपभोक्ता एवं साधनों के स्वामी प्राथमिकता के अनुसार उपलब्ध साधनों एवं तकनीक के रूप में उच्चतम् सम्भव जीवन स्तर (3) आर्थिक विकास की अधिकतम दर (4) समानता के आधार पर आय का वितरण।

इन सर्वसामान्य उद्देश्यों के आधार पर प्रोफेसर ड्यू ने करारोपण के तीन सामान्य सिद्धान्त दिये हैं। प्रो. कैल्डोर ने भी अपनी पुस्तक "Indian Tax Reform" में इन्हीं तीन आधारों पर प्रत्येक कर का विवेचन किया है। ये निम्नलिखित हैं — (1) आर्थिक प्रभाव (2) समानता (3) प्रशासनिक कुशलता।

आर्थिक प्रभाव —प्रत्येक कर के द्वारा करदाता को त्याग करना पड़ता है। इस कारण से कर अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डालता है। कर लगाते समय कर के द्वारा कार्य की प्रेरणा, बचत की प्रेरणा तथा जोखिम उठाने की प्रेरणा पर पड़ने वाले प्रभावों को दृष्टिगत रखना चाहिए। वास्तव मे वही कर श्रेष्ठ होता है जो इन तीनों पर कम से कम बुरा प्रभाव डालता है। इसके अतिरिक्त कर उपभोक्ता, उत्पादक तथा साधनों के स्वामी की प्राथमिक-

ताओं में भी परिवर्तन कर देता है। कर लगाते समय हमें यह बात भी दृष्टिगत रखनी चाहिए कि इन प्राथमिकताओं में परिवर्तन इस प्रकार से हो जिससे उच्चतम सभव स्तर तक पहुँचा जा सके अथवा उस स्तर से कम से कम सम्भव दूरी पर रहा जा सके।

समानता :—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि समाज के विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों में करों के भार को किस प्रकार से विभाजित किया जाय। "समानता" अपने आप में सामाजिक मूल्यों पर आधारित एक विचार है। सर्वाधिक समान कर-व्यवस्था वही मानी जाती है जो समाज द्वारा स्वीकृत वास्तविक आय के वितरण की समानता के स्तर के अनुरूप हो।

अर्थशास्त्रियों ने समानता की धारणा का दो प्रकार से विश्लेषण किया है। प्रथम, क्षैतिज समानता (horizontal equity) । तथा द्वितीय लम्बवत् समानता (vertical equity) क्षैतिजीय समानता से तात्पर्य यह है कि समान परिस्थितियों के व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। यहां "समान परिस्थिति" शब्द की परिभाषा एव विवेचन अपने आप में एक दुष्कर कार्य है। लम्बवत् समानता से तात्पर्य है कि विभिन्न परिस्थितियों के व्यक्तियों पर उनकी तुलनात्मक स्थिति के अनुसार ही भार पड़ना चाहिए। किन्तु इस सन्दर्भ में भी व्यक्तियों की तुलनात्मक स्थिति का ठीक ठीक पता लगाकर तुलनात्मक भार का निर्धारण करना एक बहुत पेचीदा कार्य है। किन्तु सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि करों के निर्धारण में क्षैतिजीय समानता और लम्बवत् समानता के सिद्धान्तों का ध्यान रखा जाना चाहिए।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि समानता के इन दोनों पहलुओं को ध्यान में रखते हुए करों के विभाजन का क्या आधार होना चाहिए। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के साहित्य में दो दृष्टिकोण रखे गये हैं :—

1. लाभ-आधार (The Benefit Basis)

इसे जहाँ एडम स्मिथ का समर्थन प्राप्त था वहाँ आधुनिक रूप में लिन्दहाल (Lindahl) ने इसे ऐच्छिक विनिमय सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत निजी क्षेत्र के नियम को सरकारी क्षेत्र में कर-निर्धारण के लिए लागू किया गया है। जिस प्रकार निजी क्षेत्र में एक व्यक्ति दूसरे को उसकी किसी वस्तु अथवा सेवा के बदले कुछ देता है, ठीक उसी प्रकार यहां भी प्रत्येक व्यक्ति को सरकार को उतना ही कर देना चाहिए

निर्धारण कर सरकार के कार्यों से प्राप्त लाभ के अनुसार है। पीगू महोदय ने लिखा है कहा है कि ... के अन्तर्गत ... ... का अनुमान लेने का ... (...) के रूप में होता है।

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि इस प्रकार कर को बुद्धिमत्तापूर्वक निर्धारित किया जा सकता है तथा इसमें भेदभावपूर्ण (discriminative) व्यवहार नहीं होता।

किन्तु अर्थशास्त्रियों ने इस प्रणाली में अनेक कमियाँ पाईं तथा इसकी आलोचना की। प्रथम, समाज के विभिन्न व्यक्तियों को प्राप्त लाभ की गणना नहीं की जा सकती। क्योंकि सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में विनिमय सिद्धान्त के लागू न किये जा सकने के कारण किसी सेवा की वस्तुओं के लागत करदायित्व को ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जे० एस० मिल ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि इस प्रकार कर की गई कर व्यवस्था प्रतिगामी (regressive) होगी क्योंकि सरकार के कार्यों से गरीब लोगों को अधिक लाभ प्राप्त होता है अतः उन्हें अधिक कर देना पड़ेगा। लाभ-आधार की इन कमियों के कारण दूसरा दृष्टिकोण रखा गया।

2. करदेय क्षमता (Ability to pay Approach) —

"कानून के आगे सबको बराबर समझना चाहिए" की उक्ति को करदेय क्षमता के सिद्धान्त का प्रेरक स्रोत कहा जा सकता है। इसी आधार पर यह कहा गया कि करों में समानता का अर्थ है त्याग की समानता। इस प्रकार कर-देय क्षमता के निरपेक्ष विचार को समान त्याग के सापेक्ष विचार में परिवर्तित कर दिया गया।

इस सिद्धान्त के आधार पर मिल ने प्रगामी कर को प्रतिपादित किया था। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात होता है कि समानता एवं आय की सीमान्त उपयोगिता के विभिन्न रूपों से विभिन्न परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। "समानता" शब्द का तीन प्रकार से प्रयोग किया गया है—निरपेक्ष समानता, समानुपातिक समानता एवं सीमान्त समानता। इसी प्रकार आय की सीमान्त उपयोगिता घट सकती है, घट सकती है या स्थिर रह सकती है।

कुछ विशिष्ट मान्यताओं के आधार पर यह तर्क दिया जाता है कि समान त्याग का सिद्धान्त प्रगामी कर के ढाँचे को प्रतिपादित करता है। ये मान्यतायें हैं—(1) आय की सीमान्त उपयोगिता मात्रा की दृष्टि से मापी जा

सकती है। (2) आय की सीमान्त उपयोगिता आय वृद्धि के साथ-साथ कम होती जाती है। (3) सब व्यक्तियों का आय का सीमान्त उपयोगिता वक्र समान होता है तथा अन्तर्व्यक्तिगत उपयोगिता मापी जा सकती है।

इन मान्यताओं के आधार पर प्रगामी कर का समर्थन किया गया है। किन्तु अन्य अर्थशास्त्रियों ने इन मान्यताओं को चुनौती देते हुए कहा है कि यह आवश्यक नहीं कि ये सारी मान्यताएं व्यावहारिक दृष्टि से ठीक ही उतरें। सामान्य तौर पर इन मान्यताओं का पाया जाना कठिन होता है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि समान त्याग का सिद्धान्त केवल प्रगामी कर के ढांचे को ही जन्म देता है।

वास्तव में इस समान त्याग के सिद्धान्त में न्यूनतम कुल त्याग का विचार ही अधिक आकर्षक है। इसके अनुसार करों का इस प्रकार विभाजन किया जाना चाहिए जिससे कर के रूप में सब व्यक्तियों द्वारा दिये गए धन की सीमान्त उपयोगिता सब व्यक्तियों के लिए बराबर हो। इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ मान्यताओं के आधार पर सर्वप्रथम धनवान व्यक्तियों से कर लेना चाहिए। न्यूनतम कुल त्याग का सिद्धान्त करारोपण का सामूहिक सिद्धान्त है।

समान त्याग या करदेय क्षमता के इस सिद्धान्त की भी आलोचना की गई है तथा डाल्टन एवं पीगू ने अपना एक नया सिद्धान्त दिया है। उनका कहना है कि करदेय क्षमता का सिद्धान्त एकपक्षीय है क्योंकि यह व्यय-पक्ष को दृष्टिगत नहीं रखता है। प्रो. पीगू एवं डाल्टन ने इसमें व्यय-पक्ष को सम्मिलित कर बजट के निर्धारण के अधिकतम कल्याण-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार—(1) विभिन्न सार्वजनिक उपयोगों में साधनों का इस प्रकार वितरण किया जाना चाहिए जिससे प्रत्येक व्यय से प्राप्त सीमान्त संतोष बराबर हो। (2) सार्वजनिक व्यय उस सीमा तक किया जाना चाहिए जहाँ व्यय की अन्तिम इकाई से प्राप्त लाभ करों के रूप में प्राप्त अन्तिम इकाई से उत्पन्न त्याग के बराबर हो।

यद्यपि यह सिद्धान्त ठोस धरातल पर आधारित है, किन्तु इसका व्यावहारिक दृष्टि से उपयोग करने में अनेक कठिनाइयां है।

कर-क्षमता सूचक (Index of Ability)

अर्थशास्त्रियों में जिन बातों में बड़ा मतभेद है उनमें करदेय क्षमता का आधार भी एक है। अब तक हमने सारा विवेचन आय को आधार मान

ातना वह सरकार के कार्यों से लाभ प्राप्त करता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने हा है कि "लाभ-आधार" के अन्तर्गत सरकार एवं करदाता का सम्बन्ध लेने का देना" (quid pro quo) के रूप में होता है।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना है कि इस आधार पर करों ा युक्तिपूर्वक विभाजन किया जा सकता है तथा इसका प्रेरणाहारी (disincentive) प्रभाव नहीं पड़ता।

किन्तु अर्थशास्त्रियों ने इस आधार में अनेक कमियाँ पाई तथा इसकी आलोचना की। प्रथम, समाज के विभिन्न व्यक्तियों को प्राप्त लाभ की गणना नहीं की जा सकती। क्योंकि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में निषेधात्मक सिद्धान्त के लागू न किये जा सकने के कारण निजी क्षेत्र की वस्तुओं के समान प्राथमिकता को ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जे० एस० मिल ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि इस आधार पर की गई कर व्यवस्था प्रतिगामी (regressive) होगी क्योंकि सरकार के कार्यों से गरीब लोगों को अधिक लाभ प्राप्त होता है, अतः उन्हें अधिक कर देना पड़ेगा। लाभ-आधार की इन कमियों के कारण दूसरा दृष्टिकोण रखा गया।

2. करदेय क्षमता (Ability to pay Approach)—

"कानून के आगे सबको बराबर समझना चाहिए" की उक्ति को करदेय क्षमता के सिद्धान्त का प्रेरक स्रोत कहा जा सकता है। इसी आधार पर यह कहा गया कि करो में समानता का अर्थ है त्याग की समानता। इस प्रकार कर-देय क्षमता के निरपेक्ष विचार को समान त्याग के सापेक्ष विचार मे परिवर्तित कर दिया गया।

इस सिद्धान्त के आधार पर मिल ने प्रगामी कर को प्रतिपादित किया था। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात होता है कि समानता एवं आय की सीमान्त उपयोगिता के विभिन्न रूपों से विभिन्न परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। "समानता" शब्द का तीन प्रकार से प्रयोग किया गया है—निरपेक्ष समानता, समानुपातिक समानता एवं सीमान्त समानता। इसी प्रकार आय की सीमान्त उपयोगिता घट सकती है, घट सकती है या स्थिर रह सकती है।

कुछ विशिष्ट मान्यताओं के आधार पर यह तर्क दिया जाता है कि समान . . . सिद्धान्त प्रगामी कर के ढाँचे को प्रतिपादित करता है। ये . . . की सीमान्त उपयोगिता माता की दृष्टि से मापी जा

सकती है। (2) आय की सीमान्त उपयोगिता आय वृद्धि के साथ-साथ कम होती जाती है। (3) सब व्यक्तियों का आय का सीमान्त उपयोगिता वक्र समान होता है तथा अन्तर्व्यक्तिगत उपयोगिता मापी जा सकती है।

इन मान्यताओं के आधार पर प्रगामी कर का समर्थन किया गया है। किन्तु अन्य अर्थशास्त्रियों ने इन मान्यताओं को चुनौती देते हुए कहा है कि यह आवश्यक नहीं कि ये सारी मान्यताएं व्यावहारिक दृष्टि से ठीक ही उतरें। सामान्य तौर पर इन मान्यताओं का पाया जाना कठिन होता है। अत: हम यह नहीं कह सकते कि समान त्याग का सिद्धान्त केवल प्रगामी कर के ढांचे को ही जन्म देता है।

वास्तव में इस समान त्याग के सिद्धान्त मे न्यूनतम कुल त्याग का विचार ही अधिक आकर्षक है। इसके अनुसार करो का इस प्रकार विभाजन किया जाना चाहिए जिससे कर के रूप में सब व्यक्तियों द्वारा दिये गए धन की सीमान्त उपयोगिता सब व्यक्तियों के लिए बराबर हो। इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ मान्यताओं के आधार पर सर्वप्रथम धनवान व्यक्तियों से कर लेना चाहिए। न्यूनतम कुल त्याग का सिद्धान्त करारोपण का सामूहिक सिद्धान्त है।

समान त्याग या करदेय क्षमता के इस सिद्धान्त की भी आलोचना की गई है तथा डाल्टन एवं पीगू ने अपना एक नया सिद्धान्त दिया है। उनका कहना है कि करदेय क्षमता का सिद्धान्त एकपक्षीय है क्योंकि यह व्यय-पक्ष को दृष्टिगत नहीं रखता है। प्रो. पीगू एवं डाल्टन ने इसमें व्यय-पक्ष को सम्मिलित कर बजट के निर्धारण के अधिकतम कल्याण-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार—(1) विभिन्न सार्वजनिक उपयोगों में साधनों का इस प्रकार वितरण किया जाना चाहिए जिससे प्रत्येक व्यय से प्राप्त सीमान्त सतोष बराबर हो। (2) सार्वजनिक व्यय उस सीमा तक किया जाना चाहिए जहाँ व्यय की अन्तिम इकाई से प्राप्त लाभ करों के रूप में प्राप्त अन्तिम इकाई से उत्पन्न त्याग के बराबर हो।

यद्यपि यह सिद्धान्त ठोस धरातल पर आधारित है, किन्तु इसका व्यावहारिक दृष्टि से उपयोग करने में अनेक कठिनाइयां है।

कर-क्षमता सूचक (Index of Ability)

अर्थशास्त्रियों में जिन बातों में बड़ा मतभेद है उनमें करदेय क्षमता का आधार भी एक है। अब तक हमने सारा विवेचन आय को आधार मान

र किया था। किन्तु कई विद्वान सम्पत्ति को आधार के रूप में मानते हैं। इनके अतिरिक्त प्रो. कैल्डोर ने आय की अपेक्षा उपभोग या व्यय को अधिक युक्तिसंगत आधार माना है। इस सम्बन्ध में पाठक अधिक विस्तृत विवरण इस संस्करण में शामिल किये गये 'व्यय-कर' के अन्तर्गत देख सकते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अन्य सभी आधारों के साथ आय ही अधिक उपयुक्त तथा व्यावहारिक आधार है।

प्रशासनिक कुशलता:– करारोपण का तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रशासनिक कुशलता है। करों के लागू करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इससे प्रशासनिक दृष्टि से अधिक कठिनाइयां उत्पन्न न हो जायें। कर इस प्रकार का होना चाहिए जिसे आसानी से इकट्ठा किया जा सके तथा कर प्राप्त करने में न्यूनतम व्यय हो।

अर्द्धविकसित देशों में कर-सिद्धान्त:—अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्त एक विकसित अर्थ-व्यवस्था को दृष्टिगत रखकर बनाये हैं। किन्तु आजकल अर्द्धविकसित देशों की समस्याएं अधिक गम्भीर हैं तथा इन देशों को विकसित करने की आवश्यकता है। अतः हमें करों के सम्बन्ध में किसी भी सिद्धान्त को प्रतिपादित करते समय इन अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं एवं विशेषताओं को दृष्टिगत रखना होगा। विकसित देशों के लिए बनाये गए सिद्धान्तों को हम उसी रूप में अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था के लिए लागू नहीं कर सकते।

डा. आर. एन. भार्गव ने अपनी पुस्तक "Indian Public Finance" के अन्तर्गत अर्द्धविकसित देशों की कर-व्यवस्था के लिए करदेय क्षमता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, किन्तु डा. चेल्लैया तथा कुछ अन्य विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं।

अर्द्धविकसित देशों में मुख्य समस्या आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने की है। आर्थिक विकास की योजनाओं को पूरा करने के लिए अर्थव्यवस्था में विनियोग की दर को बढ़ाना आवश्यक होता है। विकसित देशों में आर्थिक स्थिरता या स्थिर आर्थिक विकास प्रधान लक्ष्य होता है किन्तु अर्द्धविकसित देशों में तो इस विकास की गति को तीव्र करना ही मुख्य लक्ष्य होता है। दोनों के उद्देश्यों के इस अन्तर के कारण ही दोनों अर्थव्यवस्थाओं में करों के उद्देश्य एवं सिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न होते हैं। विकसित देशों में

करों का प्रधान कार्य प्रसार को रोकना होता है, किन्तु अर्द्धविकसित देशों में प्रसार को रोकने के लिए विनियोग को कम नही किया जा सकता, अपितु यहाँ कर इस प्रकार से लगाना चाहिए जिससे बचत की ऊँची दर प्राप्त करके विनियोग की दर को बढ़ाया जा सके। इकाफे पत्रिका मे इन देशो मे करो के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है "इसलिए करारोपण ही निजी उपभोग एवं विनियोग को कम करके साधनों को आर्थिक विकास के लिए सरकार की तरफ हस्तान्तरित करने का एकमात्र प्रभावपूर्ण वित्तीय साधन है।" वास्तव मे इन देशो मे मुख्य समस्या कुल विनियोग को बढ़ाने की है। अतः यहाँ केवल निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र मे साधनो का हस्तातरण करना ही पर्याप्त नही है, अपितु इस प्रकार का कर का ढांचा भी तैयार करना आवश्यक है जिससे निजी क्षेत्र मे विनियोग बढ़ जावे या सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग में वृद्धि निजी क्षेत्र मे हुई कमी से अधिक हो। इसी आधार पर डा. चेलैया ने इन अर्द्धविकसित देशो के लिए करदेय-क्षमता के आधार को अनुपयुक्त बताते हुए एक नया आधार आर्थिक-बचत या आधिक्य (Economic Surplus) के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि इन देशों में सम्भाव्य बचत (Potential Saving) वास्तविक बचत से अधिक होती है। अतः इस सम्भाव्य बचत को प्राप्त करने का प्रयास किया जाना चाहिए। उन्होंने इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उसकी अप्रयुक्त क्षमता या आर्थिक विकास के लिए देने की क्षमता के अनुसार कर देने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। आर्थिक आधिक्य के विचार के आधार पर ही उन्होने भारत जैसे अर्द्धविकसित देशों के लिए करारोपण के सिद्धान्त भी दिये हैं। जिन्हें विस्तृत रूप से इस सकलन में देखा जा सकता है।

प्रत्यक्ष एव परोक्ष कर (Direct and Indirect Tax) :—

करों से साधन प्राप्त करने की दृष्टि से प्रत्यक्ष कर एव परोक्ष कर दोनों का ही उपयोग किया जा सकता है। कई अर्थशास्त्रियों का ऐसा मत है कि परोक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष कर अधिक श्रेष्ठ होते हैं। ये यह मत इस आधार पर व्यक्त करते हैं कि परोक्ष कर वस्तुओं एवं सेवाओं के बीच उपभोक्ताओं के चुनाव को भंग कर देते हैं, अत. ये प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा उपभोक्ता पर अधिक भार डालते हैं।

कई मान्यताओ के आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियों का ऐसा मत है कि साधनों के निर्धारण की दृष्टि से प्रत्यक्ष कर परोक्ष करों की अपेक्षा ज्यादा

श्रेष्ठ होते हैं। जोसेफ-हिक्स ने उदासीनता वक्रों की सहायता से यह समझाने का प्रयास किया है कि एक समानुपातिक आय-कर के लगाने पर उपभोक्ता एक वस्तु पर लगाये गए विशिष्ट कर (Specific Tax) की अपेक्षा एक ऊँचे उदासीनता-वक्र पर रहता है। अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष कर के द्वारा उपभोक्ता से विशिष्ट कर के बराबर धन अपेक्षाकृत कम त्याग के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु विद्वानों ने इस मत की आलोचना की है। कुछ विद्वानों ने तो आर्थिक कल्याण के प्रतीक के रूप में उदासीनता-वक्र के प्रयोग पर ही सदेह व्यक्त किया है। प्रो० वाकर ने इस तर्क को श्रम की पूर्णतया लोचदार पूर्ति एवं "आदर्श प्रारम्भिक दशा" की दो मान्यताओं पर आधारित होने के कारण अव्यावहारिक बताया है।

इसके अतिरिक्त वाल्ड ने जोसेफ-हिक्स द्वारा दिये गए चित्र का ही प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कर दोनों ही बराबर भार डालते हैं। इसके अतिरिक्त हेन्डरसन एवं आई० एम० डी० लिटिल ने भी इस विवाद में अपने अपने तर्क दिये हैं। किन्तु यह सारा विवेचन केवल सैद्धान्तिक है। वास्तव में तो प्रत्यक्ष कर का परोक्ष कर की अपेक्षा श्रेष्ठ होना या न होना एक जांच का विषय है। इस सारे विवाद का विस्तृत विवेचन डेविड वाकर ने Public Finance में अपने प्रसिद्ध लेख में किया है जिसका अनुवाद प्रस्तुत संकलन में शामिल किया गया है।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करों के इस विवाद को उत्पादन-सम्भावना-वक्र (Production Possibility Curve) के द्वारा भी समझाने प्रयास किया गया है। इसमे यह मान्यता की गई है कि कर लगाने से पूर्व साधनों के आदर्श निर्धारण (Ideal allocation of resources) की स्थिति होती है। इस स्थिति में P_1 उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों ही की दृष्टि से दोहरा संतुलन बिन्दु (Double equilibrium point) होता है। इस स्थिति में यदि समानुपातिक आय-कर (proportional income tax) लगाया जाता है तो संतुलन बिन्दु की स्थिति में कोई परिवर्तन नही आता। किन्तु यदि इसके स्थान पर वस्तु क पर कर लगाया जाता है तो एक नया P_2 दोहरा संतुलन बिन्दु प्राप्त होता है जो P_1 बिन्दु की अपेक्षा नीचे उदासीनता-वक्र पर होता है। इस आधार पर यह तर्क दिया जाता है कि प्रत्यक्ष कर परोक्ष करों की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु आलोचकों ने इसी विवेचन का प्रयोग परोक्ष करो को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए किया है। उनका कहना है कि यदि हम साधनों के आदर्श निर्धारण की स्थिति अर्थात् P_1 बिन्दु से प्रारम्भ न कर P_2 से प्रारम्भ

करें तो यह कहा जा सकता है कि समानुपातिक आय-कर लगाने पर तो स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आवेगा किन्तु वस्तु X पर कर लगाने पर हम साधनों के आदर्श निर्धारण की स्थिति से पहुँच जायेंगे । अतः यह कहा जा सकता है कि परोक्ष कर प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा श्रेष्ठ होते है ।

इसके अतिरिक्त इस समस्या के सम्बन्ध मे कुछ और भी तर्क दिये जाते हैं । साधारणतया आय-कर प्रगामी होता है । अर्थशास्त्रियो ने उदाहरणों के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया है कि एक प्रगामी आयकर असमान आय वाले व्यक्ति पर समान आय वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक भार डालता है । असमान आय की सम्भावना अधिकतर जोखमी व्यवसायों में होती है तथा समान आय सुरक्षित व्यवसायो मे होती है । इसलिए आय-कर कार्य के पारितोषिक पर कर होता है । दूसरे शब्दो में, इसे कभी-कभी आराम पर रियायत (subsidy) भी कहा जाता है । इस प्रकार कई अर्थशास्त्री आय-कर (प्रत्यक्ष कर) को कार्य करने की प्रेरणा पर बुरा प्रभाव डालने वाला बताते हैं । इसके विपरीत कुछ लोग कहते हैं कि आय-कर और उत्पादन-कर दोनों ही कार्य और आराम के बीच के चुनाव को समाप्त कर देते है किन्तु इसके अतिरिक्त उत्पादन-कर वस्तुओं के बीच चुनाव को भी समाप्त कर देता है, अतः परोक्ष कर प्रत्यक्ष कर की अपेक्षा घटिया होता है ।

मसग्रेव ने एक उदाहरण द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि परोक्ष कर प्रत्यक्ष कर की अपेक्षा घटिया नहीं होता है । उसने तीन वस्तुएँ X, Y और L (leisure) मानी हैं ।

X पर कर X और Y तथा X और L के बीच चुनाव को समाप्त कर देगा ।

Y „ „ „ „ „ Y और L „ „ „ „ कर देगा । आयकर „ „ „ तथा X और L के बीच चुनाव को समाप्त कर देगा ।

अतः मसग्रेव का तर्क है कि उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि परोक्ष कर प्रत्यक्ष कर की अपेक्षा घटिया होता है ।

इस अनिश्चयात्मक स्थिति को देखते हुए ही कुछ लोग इनके विवाद में न पड़कर दोनों को ही समान रूप से महत्व देते हैं । व्यावहारिक दृष्टि से हमें किसी एक विशेष प्रकार के कर को न चुनकर सामान्य करों को ही चुनना चाहिए ।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करों के इस सैद्धान्तिक विश्लेषण के पश्चात् व्यावहारिक दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न है वह यह है कि अर्द्धविकसित देशों में परोक्ष करों का क्या स्थान होना चाहिये। अर्द्धविकसित देशों में प्रति व्यक्ति आय कम होती है तथा कुल राष्ट्रीय आय भी कम ही होती है। ऐसी स्थिति में केवल प्रत्यक्ष करो से ही योजनाओं के लिए आवश्यक साधन नहीं जुटाए जा सकते। इस दृष्टि से अर्द्धविकसित देशों में योजनाओं के लिए वित्तीय साधन जुटाने में परोक्ष करों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। किन्तु परोक्ष करों का उपयोग केवल आय-प्राप्ति के उद्देश्य के आधार पर ही नहीं किया जा सकता। हम जानते हैं कि इनके माध्यम से उपभोग पर नियंत्रण लगाया जा सकता है और इस प्रकार बचत प्राप्त की जा सकती है। विकास योजनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न आय देश के सामान्य वर्ग को प्राप्त होती है, अतः इस बढ़ी हुई आय को उपभोग मे जाने से रोकने में वस्तु-करों का बड़ा महत्त्व होता है। किन्तु यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अर्द्धविकसित देशों में अधिकांश व्यक्ति जीवन-निर्वाह की सीमा पर होते हैं तो ऐसी स्थिति में इस प्रकार के करों का क्या महत्त्व होता है। इस सम्बन्ध में डा० चेल्लैया ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट किया है कि परोक्ष करों का कार्य किसी समय विशेष पर विनियोग की दर को बढ़ाना नहीं है, अपितु इसका कार्य तो पूर्व-विनियोग के फलस्वरूप बढ़ी हुई सम्पूर्ण आय को उपभोग में जाने से रोकना है।

उपभोग पर रोक लगाने के इस तर्क के आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि उपभोग-वस्तुओं का उत्पादन नहीं बढ़ाया जाना चाहिए, किन्तु जो कोई भी अर्द्धविकसित देशों में छिपी हुई बेरोजगारी (disguised unemployment) की समस्या से परिचित है वह इस तर्क को स्वीकार नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध मे डा० चेल्लैया ने उपभोग वस्तुओं को तीन श्रेणियों में विभक्त करके विवेचन किया है।

परोक्ष करों का अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है ? यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। क्योंकि किसी भी प्रकार के कर-ढांचे को अपनाने से पूर्व हमें उसके द्वारा उत्पन्न प्रभावों का भली-भांति विवेचन कर लेना चाहिए। परोक्ष करों के प्रभाव को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) भार-प्रभाव (2) स्थानान्तरण-प्रभाव (3) मूल्य-प्रभाव (4) वितरण-प्रभाव।

इन चारों प्रभावों तथा परोक्ष करों से सम्बन्धित अन्य समस्याओं एवं अर्द्धविकसित देशों में इनके महत्त्व के विस्तृत विवेचन के लिए प्रस्तुत

ग्रन्थ में डा॰ चेल्लैया की पुस्तक से लिया गया सम्बन्धित अंश देखा जा सकता है।

भारत के लिये एक उपयुक्त कर-ढांचे के सम्बन्ध में केल्डोर के सुझाव :—

भारत ने योजनाओं के माध्यम से आर्थिक विकास का मार्ग चुना है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह महसूस किया गया कि भविष्य में हमें अपनी योजनाओं के लिए वित्तीय साधन जुटाने के मार्गों के विषय में काफी अध्ययन करना होगा। इस दृष्टि से भारतीय कर-ढांचे का अध्ययन भी आवश्यक समझा गया। इस कार्य के लिए करारोपण-जांच आयोग की भारत सरकार द्वारा नियुक्ति की गई तथा इसने कर ढांचे का अध्ययन करके अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। भारतीय परिस्थितियों में कर नीति की रूपरेखा के सम्बन्ध में करारोपण जांच आयोग के विचार इस पुस्तक में शामिल किये गये हैं। इसके अतिरिक्त 1956 में प्रो॰ केल्डोर को भी भारतीय कर-ढांचे के अध्ययन का कार्य सौंपा गया था।

प्रो॰ केल्डोर ने इस समय की भारतीय कर-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा था "भारत में वर्तमान प्रत्यक्ष कर का ढांचा अकुशल तथा असमान है। यह असमान तो इसलिए है कि वर्तमान करारोपण के रूप में आय की परिभाषा दोषपूर्ण है तथा यह कुछ विशिष्ट प्रकार के करदाताओं के प्रति पक्षपातपूर्ण है। तथा यह अकुशल इसलिए है कि इसके अन्तर्गत आय, सम्पत्ति आदि के विषय में विश्वसनीय सूचना प्राप्त करने का कोई उपयुक्त तरीका नहीं है, इस कारण से करों की चोरी अथवा करों के टालने का कार्य आसान हो जाता है।"

इन दोनों प्रकार के दोषों को ... लिए प्रो॰ केल्डोर ने अपनी
सोचना रही है। इसके अन्तर्गत ... से सम्पत्ति कर, पूंजी-लाभ
कर ... व्यय कर की सिफारिश
... का कहना है कि आय कर
... को अलग करके कर
... व्यय-कर, सम्पत्ति-कर, दान-
... के अनुसार अन्तर्गत कर ढांचे
... रह से एक दूसरे पर निर्भर
... [illegible]

बढ़ा देगा। यदि व्यक्ति व्यय-कर से बचने के लिए अपने व्यय को उपहार बताता है तो उसे उपहार-कर अधिक देना पड़ेगा, अथवा यदि वह सम्पत्ति रूप में व्यय करता है तो उसे सम्पत्ति-कर देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कर-ढांचे में दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर भी सरकार को धोखा नहीं दे सकते।

प्रो० केल्डॉर ने अपने सुझाव देते समय विभिन्न करों की अधिकतम दर भी निर्धारित की थी। उनके अनुसार आय-कर की अधिकतम दर 45%, सम्पत्ति कर की $1\frac{1}{2}$% (15 लाख से अधिक की सम्पत्ति पर), व्यक्तिगत व्यय-कर की 300% (50000 प्रति वर्ष से अधिक के व्यय पर) तथा उपहार-कर की अधिकतम दर 80% (उपहार सहित 40 लाख से अधिक सम्पत्ति वाले व्यक्तियों द्वारा प्राप्त उपहार पर)। प्रो० केल्डॉर का कहना था कि समस्त पूँजी-लाभ पर आय-कर की दर से ही कर लगाया जाना चाहिए।

प्रो. केल्डॉर ने भारत के लिए उपयुक्त कर-व्यवस्था के प्रतिपादन के लिए प्रत्येक कर को तीन कसौटियों पर परखा है। ये कसौटियाँ हैं—समानता, आर्थिक प्रभाव, और प्रशासनिक कुशलता। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक में Indian Tax Reform से प्रथम अध्याय का अनुवाद शामिल किया गया है जिसमें उन्होंने भारत के लिए व्यापक कर-प्रणाली का समर्थन किया है।

प्रो. केल्डॉर के द्वारा सुझाये गये करों में से हम यहाँ दो प्रमुख करों (सम्पत्ति-कर तथा व्यय-कर) का विवेचन करेंगे।

सम्पत्ति कर (Wealth Tax)

प्रो. केल्डॉर ने अपने सुझावों में सम्पत्ति-करों को भी सम्मिलित किया था। यह कर यद्यपि बहुत अधिक प्रचलन में नहीं था, फिर भी कुछ यूरोपीय देशों में इसे लगाया गया था। प्रो० केल्डॉर ने इस कर का तीन आधारों—समानता, आर्थिक प्रभाव एवं प्रशासनिक कुशलता के आधार पर समर्थन किया है।

समानता—समानता के आधार पर तर्क देते हुए प्रो० केल्डॉर ने कहा है कि आय से प्राप्त आय तथा सम्पत्ति से प्राप्त आय एवं इसी प्रकार विभिन्न सम्पत्ति के अलग-अलग मालिकों के द्वारा प्राप्त आय के बीच कर देय क्षमता के माप के लिए अकेली आय एक अपर्याप्त मापदण्ड होती है। इसका

प्रमुख कारण यह है कि केवल किसी व्यक्ति के पास सम्पत्ति का होना ही उसे अतिरिक्त करदेय क्षमता प्रदान करता है।

प्रो० ड्यू ने कहा है कि इस प्रकार समानता के आधार पर आय-कर के पूरक के रूप में सम्पत्ति कर से तीन प्रकार के परिणाम प्राप्त होते हैं—

(1) सम्पत्ति का होना स्वयं ही, इससे प्राप्त आय के अतिरिक्त अपने आप मे आर्थिक समृद्धि का मापदण्ड है। इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पत्ति कर सम्पत्ति से आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों पर श्रम से आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक भार डालता है।

(2) सम्पत्ति कर के द्वारा आय-उत्पन्न न करने वाली सम्पत्तियाँ जैसे खाली पड़ी हुई भूमि, नकद-राशि आदि तक पहुँचा जा सकता है तथा कम उत्पादक एवं कम जोखिम वाले विनियोगों पर अधिक अच्छी प्रकार से कर लगाया जा सकता है।

(3) सम्पत्ति-कर के द्वारा मकानों के रूप में स्थिर सम्पत्ति पर अधिक अच्छी प्रकार से कर लगाया जा सकता है।

इस प्रकार केवल आय-कर की अपेक्षा सम्पत्ति-कर के होने पर कर का ढाँचा अधिक समान हो सकता है।

"समानता" के आधार पर सम्पत्ति कर की मुख्य आलोचना यह की जाती है कि सम्पत्ति-कर उन लोगों पर भार डालता है जिनके पास सम्पत्ति तो है किन्तु उससे आय प्राप्त नहीं होती है। ऐसी अवस्था में उन्हें कर देने के लिए सम्पत्ति बेचने के लिए विवश होना पड़ता है, किन्तु इस कठिनाई को छूट की सीमा आदि के द्वारा दूर किया जा सकता है।

आर्थिक प्रभाव— आर्थिक प्रभाव की दृष्टि से सम्पत्ति कर के समर्थन मे प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि यह कर आय-कर के समान सम्पत्ति को जोखिम वाले व्यवसायों मे लगाने की प्रेरणा पर बुरा असर नहीं डालता है। डा० गुलाटी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आय की ऊँची सीमा पर आय-कर की बहुत ऊँची सीमान्त दर उद्यम पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। अतः इस आधार पर आय-कर की दर को कम करके इस सम्पत्ति-कर को पुनर्स्थापित करने के समर्थन में तर्क दिया जाता है।

प्रशासनिक कुशलता :—इस आधार पर यह कहा जाता है कि अकेले आय कर के स्थान पर आय-कर एवं सम्पत्ति-कर का संयोग उपयुक्त रहेगा। इस सम्बन्ध मे Indian Tax Reform में से धन-कर से सम्बन्धित अध्याय का अनुवाद शामिल किया गया है।

आलोचना :—अनेक विद्वानों ने केल्डॉर द्वारा सुझाये गये इस कर की विभिन्न आधारो पर आलोचना की है।

(अ) यह आय उत्पन्न न करने वाली सम्पत्तियों पर अनावश्यक भार डालता है।

(ब) सम्पत्ति-कर के भार को हस्तान्तरित किया जा सकता है।

(स) सम्पत्ति के मूल्य को मापने की कठिनाई उपस्थित होती है।

(द) दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या अमूर्त (intangible) सम्पत्ति की सूचना प्राप्त करने से सम्बन्धित होती है। जैसे कूपन बॉन्ड, नकद-जमा (Cash holding), जवाहरात, सोना-चांदी आदि के रूप मे रखी हुई सम्पत्ति की ठीक-ठीक सूचना प्राप्त करना दुष्कर होता है।

(इ) कुछ विद्वानों का कहना है कि सम्पत्ति-कर बचत को कम करता है। अत यह विनियोग को कम करके राष्ट्रीय आय को भी घटाता है।

किन्तु सम्पूर्ण विवेचन को ध्यान मे रखकर यह कहा जा सकता है कि आय-कर की दर को कम करके उसके स्थान पर कुछ छूट की सीमा के साथ सम्पत्ति कर को लगाया जा सकता है।

व्यय-कर (Expenditure Tax)

डॉ० कॉल्डर ने कराधान के आधार के रूप में आय में विभिन्न कमियाँ बताते हुए व्यय को एक आदर्श आधार बतलाया है।

केल्डॉर ने इस तर्क को चुनौती दी है कि आयकरदाता की करदेय-क्षमता का सही मापदण्ड है। उन्होंने कहा है कि समान आय होने पर भी दो व्यक्तियों की पारिवारिक दशा, सम्पत्ति तथा आय की नियमितता आदि में अन्तर होने के कारण अलग-अलग करदेय क्षमता हो सकती है। आय दो प्रकार के रूप में होती है, अर्थात् अमुक राशि प्रति वर्ष के अनुसार होती है।

किन्तु मनुष्य की व्यय-शक्ति (spending power), स्टॉक, सम्पत्ति आदि के रूप में; प्रवाह (वेतन मजदूरी आदि के रूप में) तथा आकस्मिक प्राप्ति (Casual receipts) इन तीनों का योग होती है। अतः इन तीनों के संयोग से निर्मित व्यय-राशि को केवल आय के आधार पर मापना सर्वथा असंगत होगा। इसके अतिरिक्त प्रगामी आय-कर के अन्तर्गत अस्थायी या परिवर्तित आय वाले व्यक्ति पर समान रूप से प्राप्त आय वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक भार पड़ता है। आय-कर के द्वारा पूँजीगत लाभों पर भी ठीक प्रकार से कर नहीं लगाया जा सकता। वास्तव में कर का आधार वसूल की गई आय (realised income) न होकर उपार्जित आय (accrued income) ही होनी चाहिए, किन्तु उपार्जित आय की गणना करना बहुत दुष्कर होता है।

इन कारणों से केल्डॉर ने कराधान के आधार के रूप में आय-आधार को हटाकर उसके स्थान पर व्यय-आधार को प्रस्थापित किया है।

व्यय-कर के पक्ष में तर्कः—प्रो केल्डॉर ने अपनी पुस्तक "An Expenditure Tax" में इसका विस्तृत विवेचन किया है। इसके पक्ष में प्रमुख तर्क ये दिये जाते हैं—

1. एक मनुष्य विभिन्न स्रोतों से अपनी आय प्राप्त करता है, अतः इन सब स्रोतों से प्राप्त आय को एक सामान्य इकाई में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि हम वास्तविक व्यय को कर का आधार बनायें तो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आय अपने आप ही प्राप्तकर्ता द्वारा अपने व्यय के द्वारा प्रकट कर दी जाती है। यहाँ प्रो० केल्डॉर का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति व विभिन्न प्रकार की आय आदि को दृष्टिगत रखकर ही व्यय करता है। अतः ऐसी स्थिति में उसका व्यय उसकी क्षमता के आधार के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

2. प्रो० केल्डॉर व्यय-कर के पक्ष में एक अत्यन्त सुन्दर तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि व्यक्ति पर कर लगाने का आधार सामान्य समूह (common pool) में उसका योगदान न होकर उसमें से प्राप्त मात्रा ही होनी चाहिए। क्योंकि कोई भी व्यक्ति समाज पर कमाने व बचाने से नहीं अपितु उपभोग के द्वारा ही भार डालता है।

3. आय-कर बचत पर दोहरा कर है। किन्तु व्यय-कर केवल उपभोग पर ही कर आरोपित करके बचत को प्रोत्साहित करता है। अतः आर्थिक विकास

के लिए जहाँ बचत की दर में वृद्धि आवश्यक है वहाँ व्यय-कर उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसलिए प्रो० केल्डोर ने इसे भारत के लिए उपयुक्त बताया है।

4. व्यय-कर को विनियोग तथा कार्य की प्रेरणा की दृष्टि से भी आय-कर की अपेक्षा अधिक ठीक बताया जाता है।

5. इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि व्यय-कर मुद्रास्फीति को रोकने में आय-कर की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होता है। क्योंकि मुद्रास्फीति के नियंत्रण के लिए उपभोग को कम तथा बचत को बढ़ाने की आवश्यकता होती है और हम जानते हैं कि व्यय-कर यही काम करता है जब कि आय-कर उपभोग व बचत दोनों पर लगाया जाता है—

विपक्ष में तर्क :—अनेक अर्थशास्त्रियों ने व्यय-कर को करारोपण के आधार के रूप में प्रयुक्त करने के विपक्ष में अनेक तर्क दिये हैं।

1. व्यय कर का भार धनिकों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पड़ेगा क्योंकि व्यक्ति की आय ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों उपभोग पर व्यय होने वाला आय का प्रतिशत कम होता जाता है। किन्तु प्रो० केल्डोर का कहना है कि इस कठिनाई को प्रगामी कर लगाकर दूर किया जा सकता है।

2. इस कर के द्वारा संग्रह को प्रोत्साहन मिलने के कारण यह सम्पत्ति के वितरण की असमानता को और अधिक बढ़ा देगा।

3. यह कर कंजूस व्यक्ति के पक्ष में होता है। इसके अतिरिक्त बड़े परिवार वाले व्यक्ति को अधिक कर देना पड़ता है किन्तु पारिवारिक मख्या के लिए कर में विशेष व्यवस्था की जा सकती है।

4. अवसाद के काल में व्यय-कर अवसाद की क्रिया में अधिक सहायक होता है अतः इस दृष्टि से व्यय-कर आय-कर की अपेक्षा अधिक बुरा होता है।

5. डा० चेल्लैया ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि हम भारत में बचत को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता के केल्डोर के तर्क से सहमत हैं, किन्तु .. इस बात को स्वीकार नहीं करते कि भारत की परिस्थितियों में व्यय-कर ही .. [illegible] प्रोत्साहित करने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि प्रशासनिक जटिलता इस कर के लागू करने के मार्ग में एक बहुत बड़ी

कठिनाई है। इसके अतिरिक्त व्यय-कर सब प्रकार की बचतों का पक्ष लेता है। किन्तु भारत जैसे अर्द्धविकसित देशों में केवल बचत प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु इस बचत को उत्पादक विनियोग में लगाना अधिक महत्वपूर्ण है और व्यय कर यह कार्य नहीं करता।

डा० वेल्लैया सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह देते हैं कि केल्डॉर का आय-कर को व्यय-शक्ति (spending power) का सही मापक न बताने का तर्क केल्डॉर द्वारा प्रतिपादित व्यय-कर पर भी लागू होता है। क्योंकि व्यय-कर प्राप्त व्यय-शक्ति पर आधारित न होकर प्रयुक्त व्यय-शक्ति पर निर्भर होता है।

इन सब कारणों से हम केवल व्यय-कर को ही कराघात के आधार के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। वास्तव में प्रो० केल्डॉर ने भी भारत के लिए केवल व्यय-कर का ही सुझाव न देकर आय-कर के आंशिक प्रतिस्थापन के रूप में कुछ छूट की सीमा व प्रगामी दर के साथ इसके उपयोग पर जोर दिया था। विस्तृत विवेचन व केल्डॉर के तर्कों के अध्ययन के लिए प्रस्तुत पुस्तक में व्यय-कर पर उनके विचार दिये गये हैं।

करापात (Incidence of Taxation)

करों के सम्बन्ध में करापात भी एक प्रमुख समस्या है। यह आवश्यक नहीं कि कर जिस व्यक्ति पर लगाया जाता है उसका सम्पूर्ण भार भी उसी पर पड़े। करों को हस्तान्तरित भी किया जा सकता है। अतः यहां प्रश्न यह उठता है कि इसका भार किस पर पड़ेगा ? करापात की समस्या का अर्थ-शास्त्रियों ने दो विभिन्न दृष्टियों से विवेचन किया है। प्रथम, डाल्टन तथा अन्य परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने इस समस्या का आंशिक सन्तुलन (partial equilibrium) के अन्तर्गत विवेचन किया है तथा द्वितीय मसग्रेव आदि अर्थ-शास्त्री इसका विवेचन सामान्य सन्तुलन (General equilibrium) के अन्तर्गत करते हैं।

डाल्टन इस समस्या के विषय में कहते हैं कि यहां प्रश्न यह है कि कर को कौन चुकाता है ? अन्तिम रूप से जिस करदाता की जेब से इस कर का पैसा निकलता है उसी पर कर का भार पड़ता है। अतः डाल्टन का कहना है कि करापात की समस्या कर के प्रत्यक्ष मौद्रिक भार (Direct Money Burden of Tax) के वितरण की समस्या है। डाल्टन के अनुसार किसी

वस्तु पर लगाये गये कर के प्रत्यक्ष मौद्रिक भार का विभाजन क्रेताओं एवं विक्रेताओं में उस वस्तु की मांग व पूर्ति की लोच के अनुसार होता है।

कर के भार का हस्तान्तरण आगे एवं पीछे दोनों ओर हो सकता है।

करान्तरण (Shifting of Tax) की समस्या का विस्तृत विवेचन बाजार के विभिन्न प्रकारों के अनुरूप करना अधिक उपयुक्त होता है।

सामान्य बिक्री-कर (General Sales Tax)

अभी तक करापात की समस्या का विवेचन आंशिक सतुलन के अन्तर्गत किया गया था जिसमें ये मान्यताएं होती हैं, मांग-वक्र तथा कुल आय में परिवर्तन नहीं होता तथा यह अन्य उद्योगों पर कोई प्रभाव नहीं डालता। किन्तु ये सारी मान्यताएं केवल तब ही ठीक हो सकती हैं जबकि वह कर अर्थव्यवस्था की दृष्टि से बहुत ही सूक्ष्म हो। किन्तु अर्थव्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण कर के विवेचन के लिए हमारे लिए आंशिक सतुलन को छोड़कर सामान्य संतुलन का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

एक सामान्य बिक्री-कर के विवेचन में आंशिक संतुलन असफल रहता है। इस कर के विवेचन में विभिन्न अर्थशास्त्रियों में काफी विवाद चला आ रहा है तथा इसका विभिन्न दृष्टियों से विवेचन किया गया है।

इस विवाद का विश्लेषण करने से पूर्व हमें करापात की परिभाषा के विवाद को भी दृष्टिगत रख लेना चाहिए। जब किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादक उसका उत्पादन कम कर देते हैं। इसके फलस्वरूप उत्पादन के साधनों की उस उद्योग में मांग कम हो जाती है। यहां हम यदि यह मानें कि इन साधनों की अवसर-लागत (opportunity cost) शून्य है तो यह कहा जा सकता है कि ये साधन इसी उद्योग में कम पारिश्रमिक स्वीकार कर लेंगे। यदि ये दूसरे उद्योगों में जाते हैं तो वहां पूर्ति बढ़ जाने से इन्हें कम पारिश्रमिक प्राप्त होगा। अतः यहां [illegible] उठता है कि कर लगाने के इस प्रभाव के विवेचन के लिए हम केवल [illegible] की डाल्टन की प्रत्यक्ष मौद्रिक भार वाली परिभाषा को [illegible] नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि इन साधनों को [illegible] रोजगार प्रदान कर दे। अतः यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि करापात [illegible] समस्या का विवेचन करते समय हम केवल मात्र अपने आपको एक उद्योग एवं मौद्रिक भार से ही सम्बन्धित रखें अथवा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर पड़ते

वाले प्रभाव का विवेचन करें। यहाँ मसग्रेव का कहना है कि हमें सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आय के वितरण का अध्ययन करना चाहिए। अतः उन्होंने करापात को निजी उपयोग के लिए उपलब्ध वास्तविक आय के वितरण में परिवर्तन के रूप मे परिभाषित किया है।

मसग्रेव ने करापात का तीन प्रकार से विश्लेषण किया है—(1) भेदात्मक करापात (Differential incidence) (2) विशिष्ट करापात (Specific incidence) (3) सतुलित बजट करापात (Balanced Budget incidence) हमने इस ग्रन्थ मे करापात पर मसग्रेव के सुप्रसिद्ध लेख का अनुवाद शामिल किया है जिसका उपयोग विस्तृत अध्ययन के लिए किया जा सकता है।

अब हम सामान्य बिक्री-कर से सम्बन्धित विवाद का संक्षिप्त विवेचन करेंगे। प्रो० अर्ल रोल्फ (Earl Rolph) का कहना है कि सामान्य बिक्री-कर का करापात उपभोक्ताओं पर न होकर साधनों के स्वामियों पर होगा। प्रो० रोल्फ की मान्यता है कि साधनों तथा वस्तुओं दोनों के बाजारों मे पूर्ण प्रतियोगिता है तथा सभी क़ीमतें पूर्णतया परिवर्तनीय हैं। इन मान्यताओं के आधार पर प्रो० रोल्फ का कहना है कि एक सामान्य बिक्री-कर में कोई भी कर-विहीन क्षेत्र नही होता जिसमे साधन जा सकें। जब कर लगाया जाता है तो फर्में प्रत्यक्ष रूप से कीमतें नही बढ़ा सकती। ये उत्पादन कम करती हैं। उत्पादन के कम होने से साधनो की मांग कम हो जाती है जिसके फलस्वरूप साधनों की आय कम हो जाती है। इस सारी प्रक्रिया का अन्तिम परिणाम यह होता है कि सब साधनो की आय मे कमी हो जाती है तथा उत्पादन के ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं होता।

प्रो० रोल्फ ने यह तर्क सरकार द्वारा प्राप्त आय के प्रयोग की उपेक्षा करते हुए दिया है। प्रो. रोल्फ ने प्रो. मसग्रेव के द्वारा दिये गए विभेदात्मक, विशिष्ट और सतुलित बजट करापात (differential, specific and balanced budget incidence) को ध्यान मे नहीं रखा है। प्रो० रोल्फ ने अपने विवेचन मे सरकार द्वारा किये जाने वाले व्यय के प्रभाव को सम्मिलित नहीं किया है। इसके अतिरिक्त साधनो के स्वामियों की आय कम हो जाने के फलस्वरूप पड़ने वाले प्रभाव को भी ध्यान मे नहीं रक्खा है।

प्रो० ड्यू ने इसका विश्लेषण करते हुए कहा है कि यदि हम यह मानें कि सरकार इस प्राप्त आय को व्यय करती है तथा इस प्रकार वह साधनों की मांग उत्पन्न करती है, तो ऐसी स्थिति में साधन निजी क्षेत्र से निकलकर

सरकारी क्षेत्र में चले जायेंगे। तथा उनकी मांग कम नहीं होगी। किन्तु जब साधन निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र में जायेंगे तो इसके कारण उपभोग-वस्तुओं की मांग तो वही बनी रहेगी किन्तु निजी क्षेत्र में इन वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाने के फलस्वरूप कीमतें बढ़ जायेंगी। यह करापात उपभोक्ताओं पर होगा। किन्तु बुकानन आदि अर्थशास्त्रियों ने इस तर्क की आलोचना करते हुए प्रो० रोल्फ के विचारों का समर्थन किया है। उनका कहना है कि एक विशेष-कर सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि नहीं कर सकता क्योंकि यह वृद्धि केवल मात्र मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तन से ही हो सकती है। करापात पर बुकानन के विचार इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। विस्तृत अध्ययन के लिए इनका उपयोग किया जा सकता है।

किन्तु यह कहा जा सकता है कि आधुनिक साख एवं बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि स्वतः ही हो सकती है क्योंकि आधुनिक देशों की साख-व्यवस्था बड़ी ही लोचदार होती है।

इस सम्बन्ध में मसग्रेव तथा कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि वस्तुओं तथा साधनों की कीमतों में परिवर्तन की दिशा का करापात की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। यहाँ तक कि यदि वस्तुओं की कीमतें अपरिवर्तित रहें तथा साधनों की कीमतें गिर जावें तो भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि कर का भार उपभोग पर पड़ता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि सामान्य मूल्य-स्तर में कोई वृद्धि नहीं होती है तो रोल्फ का तर्क ठीक बैठता है किन्तु यदि इसमें वृद्धि होती है तो उनका तर्क ठीक नहीं निकलता है। इसके अतिरिक्त हमें इस प्रश्न का विवेचन स्थैतिक (Static) आधार पर न करके प्रावैगिक (Dynamic) आधार पर करना चाहिए।

करारोपण के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित यह संक्षिप्त सिंहावलोकन हमें इस गूढ़, जटिल एवं विस्तृत विषय की महत्वपूर्ण एवं विवादग्रस्त समस्याओं के विभिन्न पक्षों से परिचित कराता है। वास्तव में इस विस्तृत विषय से सम्बन्धित सभी समस्याओं का पूर्ण विवेचन तो यहां करना सम्भव नहीं है, किन्तु यहाँ प्रस्तुत पुस्तक में संकलित लेखों तथा कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को ध्यान में रख उनसे परिचय-मात्र करा देने का ही प्रयास किया गया है।

कराधान

एक सैद्धान्तिक विवेचन

समय एक सीमित दृष्टिकोण वाले विशेषज्ञ को छोड़कर अन्य सभी के लिए लगभग पूर्णतया रहस्य से ढका हुआ है और अब वह समय आ गया है जब कि इस वाद-विवाद की वर्तमान स्थिति की जाँच की जाय और इसमें भाग लेने वाले विभिन्न व्यक्तियों के तर्कों एवं विचारों का मूल्यांकन किया जाय।

1. भूमिका

'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर समस्या' के सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत दो भिन्न-भिन्न लेकिन परस्पर सम्बन्धित प्रश्नों का विवेचन किया जाता है। सर्वप्रथम, एक प्रश्न तो इस तरह से रखा जा सकता है : मान लीजिए हमें किसी व्यक्ति से द्रव्य की कोई निश्चित राशि प्राप्त करनी है। प्रश्न उठता है कि क्या इस बात से उसका कष्ट अपेक्षाकृत अधिक या कम हो जायगा कि यह राशि उससे प्रत्यक्ष कर के रूप में प्राप्त की जाती है अथवा परोक्ष कर के रूप में ? दूसरा प्रश्न सम्पूर्ण समुदाय के दृष्टिकोण से इसी समस्या को यों प्रस्तुत करता है : मान लीजिए, सर्वसाधारण से द्रव्य की कोई निश्चित राशि प्राप्त की जाती है। ऐसी स्थिति में भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ज्यादा भार प्रत्यक्ष करों से पड़ेगा अथवा परोक्ष करो से ?[2] प्रथम प्रश्न अधिक सरल एवं स्पष्ट प्रतीत होता है और पहले उसी का विवेचन किया जायगा। लेकिन आगे बढ़ने से पूर्व हमारे लिए उस आशय को पूर्णतया स्पष्ट करना आवश्यक है जो हम 'प्रत्यक्ष' व 'परोक्ष' शब्दों से लेना चाहते हैं।

साहित्य में काफी पहले से करो को प्रत्यक्ष व परोक्ष नाम के दो वर्गों में बांटने एवं इस वर्गीकरण के सिद्धान्तों की चर्चा करने का उल्लेख मिलता है। किसी भी कर की उपयुक्त श्रेणी का चुनाव मुख्यतः इस बात को लेकर किया गया है कि जो व्यक्ति वास्तव में कर संग्रह करने वाले अधिकारी को द्रव्य देता है, क्या वही अपनी आमदनी में कमी भी भुगतता है। यदि ऐसा होता है तो हम परम्परागत भाषा में यह कहेंगे कि करदेयता (Impact) और करवाहिता (Incidence) दोनों एक ही व्यक्ति पर हैं और वह कर प्रत्यक्ष है; यदि ऐसा नहीं है और करभार खिसका दिया जाता है जिससे किसी दूसरे की वास्तविक आय प्रभावित हो जाती है (अर्थात् कर-देयता एवं करवाहिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर हो जाते हैं) तो वह कर परोक्ष कर कहलायेगा।[3]

प्रत्यक्ष व परोक्ष करों का भेद हमारे उद्देश्य की दृष्टि से पूर्णतया अनावश्यक नहीं है। सर्वप्रथम, 'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर समस्या' में हमारा सम्बन्ध केवल अतिरिक्त आय पर कर लगाने से है जब कि प्रत्यक्ष-परोक्ष का विस्तृत

वर्गीकरण व्यक्तिगत व अव्यक्तिगत दोनों तरह की आय पर समान रूप से लागू होता है (जैसे कम्पनियों की अवितरित आय) और यह पूंजी-करों पर भी लागू होता है। द्वितीय, पिछली लगभग एक दशाब्दी से मजदूरी व वेतन-आय पर प्राप्ति स्थान पर ही कर लगाने की प्रणाली के विकसित हो जाने से (संयुक्त राज्य में 'ज्यों ही कमाओ त्यों ही कर चुकाओ' की प्रणाली और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में रोकने की प्रणाली) परम्परागत परिभाषा के अनुसार आयकर को प्रत्यक्ष कर में शामिल करना कठिन हो गया है क्योंकि मालिक तो कर-संग्रह-अधिकारी को द्रव्य देता है लेकिन इसका भार कर्मचारी पर पड़ता है। तृतीय, यद्यपि स्थानीय दरों (Local Rates) और मोटरगाड़ी शुल्क जैसे करों की करदेयता और करवाह्यता एक ही व्यक्ति पर पड़ती है लेकिन यह निश्चित रूप से ज्यादा उपयुक्त होगा कि इन करों को वस्तुओं पर लगने वाले करों के साथ रखा जाय न कि आयकर के साथ जैसा कि परम्परागत वर्गीकरण को स्वीकार करने की स्थिति में करना होगा।

श्रीमती हिक्स ने आयकरों और व्यय करों[4] में जो भेद किया है वह परम्परागत वर्गीकरण के बनिस्बत हमारी आवश्यकताओं को देखते हुए अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसमें उस मूलभूत अन्तर को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है जो 'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर समस्या' के विवेचन की दृष्टि से महत्व रखता है। यह भेद उन करों के बीच में है जिनका भार उस विधि पर निर्भर करता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी आमदनी खर्च करते हैं और वे कर जिनका भार उस विधि पर निर्भर नहीं करता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी आमदनी खर्च करते हैं। अथवा, एक ऐसी स्थिति में जहां कोई बचत नहीं की जाती है, यह भेद कर के उन ढांचों (Tax Structures) के बीच में होता है जिनका भार इस बात से बदलता रहता है कि व्यक्ति अपनी आमदनी कैसे खर्च करते हैं और दूसरी तरफ जिनका भार इस बात से नहीं बदलता है कि व्यक्ति अपनी आमदनी कैसे खर्च करते हैं।

हमें यह स्मरण रखना होगा कि हमारी समस्या की दृष्टि से हमें उन करों में कोई रुचि नहीं है जो कम्पनियों की आय पर लगाये जाते हैं। साथ ही हमें उन अन्य करों में भी कोई रुचि नहीं है जो विनियोग पर एवं सरकारी या निर्दोष-व्यय पर लगाये जाते हैं। इस लेख में हम श्रीमती हिक्स के वर्गीकरण को अपनाते हैं लेकिन साथ में प्रत्यक्ष व परोक्ष शब्दों को भी कायम रखेंगे और इनका प्रयोग एक तरफ व्यक्तिगत आयकरों के पर्यायवाची के रूप में और

दूसरी तरफ उन व्यय करों के पर्यायवाची के रूप में करेंगे जो व्यक्तिगत उपभोग-खर्च पर पड़ते हैं।[5]

'कर समस्या' के अपने विवेचन में मैंने यह मान लिया है कि सम्पूर्ण आय खर्च कर दी जाती है। यदि बचत की जाती है तो इस लेख के प्रारम्भ में हमने जो संशययुक्त दावा किया था उसका पक्ष और भी सुदृढ़ हो जाएगा क्योंकि आयकर (विशेषतया परम्परानिष्ठ आयकर) बचत के विपक्ष में होता है। यदि बचत नहीं की जाती है तो एक आनुपातिक आयकर अपनी क्रिया व प्रभावों की दृष्टि से समस्त वस्तुओं पर समान मूल्यानुसार लगाये जाने वाले व्यय कर (equal advalorem outlay tax) के सदृश हो जाता है। यदि दो वस्तुओं की परिस्थिति में हम यह मान लेते हैं कि कोई बचत नहीं होती है, तो 'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर समस्या' अपने सरलतम रूप में आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से दो वस्तुओं पर समान मूल्य की दर से लगाये जाने वाले व्यय कर एवं इन पर विभिन्न मूल्य की दरों से लगाये जाने वाले व्यय करों के सापेक्ष गुणों का विवेचन-मात्र रह जाती है।

लेकिन कठिनाई तो उस समय सामने आती है जब हम आय व व्यय करों पर वैकल्पिक सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय पर कर लगाने की विधियों के रूप में विचार करने लगते हैं। कारण यह है, जैसा कि सब भली भाँति जानते हैं, जिस प्रकार सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय पर कर लगाकर दुबारा [illegible] जा सकता है ठीक उसी प्रकार सम्पत्ति के पूंजी-मूल्य पर कर लगाकर भी ऐसा किया जा सकता है। चाहे सही हो या गलत, इस विषय के साहित्य में ये दोनों समस्याएं एक दूसरे से पृथक रह कर ही आगे बढ़ी हैं। एक तरफ सम्पत्ति-आय पर कर लगाने की विधियों के रूप में आयकरों व पूंजी करों के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है तो दूसरी तरफ अपेक्षाकृत अधिक [illegible] विवाद का विषय रहा है—यही हमारी समस्या है—और इसी वैकल्पिक [illegible] पर कर लगाने की विधियों के रूप में आय व व्यय करों के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है, चाहे वह आय अर्जित हो अथवा विनियोग से उत्पन्न हुई हो। मैं इस [illegible] का अनुसरण करते हुए इस लेख में [illegible] पर विचार नहीं किया है। [illegible]

[5] [illegible]

2. व्यक्तिक उपभोक्ता (The Individual Consumer)

(अ) प्रस्तावना

इस समस्या के सम्बन्ध में हाल के वर्षों में जो विवेचन हुआ है वह 1939 में क्रमशः कुमारी जोसेफ व प्रोफेसर हिक्स के द्वारा किये गये इसी तरह के विवेचन से निकला है[6] जिसका सार नीचे दिया जाता है। हम एक ऐसे आर्थिक पुरुष की कल्पना कर लेते हैं जो दो वस्तुओं पर अपनी आमदनी खर्च करता है। चित्र[1] में $य_0$ कर-मुक्त सतुलन-स्थिति है। जब एक ऐसा आनुपातिक आयकर लगा दिया जाता है जो दो वस्तुओं पर लगाये जाने वाले समान मूल्यानुसार व्यय-कर के बराबर होता है तो उपभोक्ता की नई संतुलन-स्थिति $य_1$ हो जाती है। द्रव्य की यही राशि केवल ख वस्तु पर व्यय कर लगाकर भी प्राप्त की जा सकती थी जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता $य_2$ जैसी स्थिति पर आ जाता। उन्नतोदरता (Convexity) सम्बन्धी सामान्य धारणाओं के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि $य_1$ बिन्दु $य_2$ से ज्यादा अच्छा है।

उपर्युक्त चित्र मे जिस तरह से प्रत्यक्ष करों की महत्ता को दर्शाया गया है (अनेक पाठ्यपुस्तकों में भी ऐसा ही किया गया है)[7] उस पर दो मूलभूत आधारों को लेकर आपत्ति उठाई जा सकती है। हम नीचे यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि जब कुछ बहुत ही विशेष किस्म की एव प्रतिबन्धात्मक और अवास्तविक मान्यताएं स्वीकार की जाती हैं, तभी जोसेफ-हिक्स के द्वारा किये गये विषय के निरूपण को इस प्रस्थापना (proposition) के सच्चे व सही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि आयकर व्यय की तुलना में कम भार डालते हैं।

इन आपत्तियों पर ध्यान देने से पूर्व यह उपयोगी होगा और सम्भवतः आवश्यक भी, कि हम इस क्षेत्र मे तटस्थता-वक्र-विश्लेषण के लागू होने के सम्बन्ध मे कुछ शब्द चेतावनी के तौर पर कहें। ऐसे विश्लेषण में यह मान लिया जाता है कि तटस्थता-मानचित्र बदलता नहीं है और विशेषरूप से यह भी कि मानचित्र कर की दरों में होने वाले परिवर्तनों से पूर्णतया अप्रभावित रहता है। यह मान्यता वास्तविक प्रतीत नहीं होती है।

इसके अलावा एक और भी अधिक गम्भीर आपत्ति यह है कि एक ऊँचे तटस्थता-वक्र पर आना क्या वास्तव में इस बात को सूचित करता है कि लोग पहले से ज्यादा अच्छी स्थिति में आगये हैं। एक नीचे के तटस्थता-वक्र से ऊँचे के तटस्थता-वक्र की तरफ होने वाली गति केवल इस बात को सूचित

कर सकती है कि सम्पूर्ण कल्याण में वृद्धि हुई है और वह भी उस समय जब कि इसकी परिभाषा ऐसी ही दी जाय। ऊपर हमने जो चित्र खींचा है उसमें *ऐसा लगता है जैसे हमारा यह विश्वास हो कि लोग अपने आपको उस समय* ज्यादा अच्छी स्थिति में मानते हैं जब कि उन पर कर परोक्ष रूप में न लगाया जाकर प्रत्यक्ष रूप मे लगाया जाय। लेकिन सम्भवतः ऐसा न भी हो। यह *बात विरोधाभास-सी प्रतीत होती है. लेकिन संभव है कि लोग एक ऊँचे* तटस्थता-वक्र (प्रचलित ढंग के) पर जाकर भी अपने आपको पहले से बुरी स्थिति में पावें। इसमे पीगू के द्वारा आर्थिक कल्याण व कुल कल्याण मे किये *गये अन्तर का प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है; हो सकता है कि दोनों सदैव एक* ही दिशा में अग्रसर न हों। ऐसा भी देखने को मिल सकता है कि एक व्यक्ति आयकर चुकाना पसन्द न करे। सम्भव है कर संग्रहकर्ता को द्रव्य देते समय *उसे अपने सुख में ऐसी वास्तविक क्षति प्रतीत हो जिसकी पूर्ति इस बात से न* हो सके कि वह प्रत्यक्ष कर के रूप में कम आर्थिक अधिशेष (economic surplus) का परित्याग कर रहा है। इसी तरह एक व्यक्ति का यह विचार *हो सकता है कि जीवन के लिए अनिवार्य होने वाली वस्तुओं पर कर लगाना* उचित नही है और ऐसे कर के लगाये जाने पर अन्याय का आभास होने से उसे ऐसा कष्ट होता है जैसे कि समस्त वस्तुओं पर समान मूल्यानुसार व्यय-*कर लगा दिये गये हैं। इन उदाहरणो से कुल कल्याण को पहुँचने वाली* अतिरिक्त हानियो का पता चलता है, और यह सभव है कि इस किस्म की हानियाँ आर्थिक कल्याण मे होने वाली उन वृद्धियो से अधिक हों जो एक *तटस्थता-वक्र-चित्र पर प्रदर्शित की जाती हैं। अतः सामान्य तटस्थता-वक्र-* विश्लेषण के द्वारा सूचित परिणाम कुल कल्याण की भाषा में गलत होते हैं।

इसमे तो कोई सदेह नही कि जब इस समस्या को तटस्थता वक्र के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है तो उसमे इन सब बातों का समावेश किया *जा सकता है लेकिन सम्बन्धित साहित्य में अभी तक ऐसा नहीं किया गया है।*

विवेचन की इस अवस्था मे इन आपत्तियो पर हमारी दृष्टि तो पड़ती है लेकिन हम उन पर ध्यान नहीं देते हैं और अपने पुराने ढंग से ही आगे बढ़ते जाते हैं। लेकिन इस लेख के अन्तिम भाग में हम इन पर पुनः विचार करेंगे।

जोसेफ-हिक्स प्रमाण (Proof) के प्रति पहली आपत्ति यह है कि इसमें यह मान्यता छिपी हुई है कि विचाराधीन व्यक्ति की कर-पूर्व आय वही है,

चाहे ग्रायकर लगाया जाय ग्रथवा क या ख वस्तु पर ग्रलग-ग्रलग कर लगाया जाय। यदि इसी बात को और भी विधिवत् रूप में प्रस्तुत किया जाय तो हम यों कहेंगे कि यह मान लिया गया है कि ग्राय ग्रथवा व्यय करों की दरों मे परिवर्तन हो जाने पर भी कार्य की पूर्ति (Supply of Work) पूर्णतया बेलोच बनी रहती है। इस मान्यता को हटा लेने पर इस तथाकथित प्रमाण की सरलता, शुद्धता एवं सुनिश्चितता समाप्त हो जाती है।

यदि हम हिक्स-जोसेफ प्रमाण की ऊपर वर्णित छिपी हुई मान्यता को स्वीकार कर लेते हैं तो भी दूसरी आपत्ति विशेष रूप से सगत जान पड़ती है क्योंकि उनके तर्कों मे एक और मान्यता ग्रन्तर्निहित है जिसे 'ग्रादर्श प्रारम्भिक शर्तें' कहते हैं। इसका आशय यह है कि 'कर समस्या' पर विचार करते समय वे सुविधा की दृष्टि से एक ऐसी स्थिति से प्रारम्भ करते हैं जहाँ करों का कोई ग्रस्तित्व नहीं होता है।

लेकिन जब हम एक ऐसी स्थिति में जहाँ पहले से ही राजस्व या आय (revenue) देने वाले कुछ कर लगे हुए हैं प्रत्यक्ष ग्रथवा परोक्ष करों से ग्रतिरिक्त ग्राय की एक दी हुई राशि को जुटाने की ग्रधिक वास्तविक समस्या पर विचार करने लगते हैं तो विश्लेपण मे कुछ परिवर्तन करने ग्रावश्यक हो जाते हैं।

ग्रत: मोटे तौर से कल्याण के आधार पर परोक्ष करो के स्थान पर प्रत्यक्ष करों की महत्ता का जो सैद्धान्तिक दिग्दर्शन जोसेफ-हिक्स ने दिया है वह निम्न दो मान्यताग्रों को स्वीकार करने पर केवल एक सतोषप्रद प्रमाण ही रह जाता है—एक तो ग्राय व व्यय करों के सम्बन्ध मे श्रम की पूर्णतया बेलोच पूर्ति और दूसरे 'आदर्श प्रारम्भिक शर्तें'। इस लेख के शेष भागो मे मैं यह बतलाने का प्रयत्न करूंगा कि इन मान्यताओं को हटा लेने पर क्या परिणाम निकलेंगे।

(ग्रा) जब श्रम की पूर्ति को परिवर्तित होने दिया जाता है[8]

प्रोफेसर लियोनल् रोबिन्स ने 1930 में इकोनोमिका में प्रकाशित ग्रपने लेख में श्रम की पूर्ति पर ग्रायकर के प्रभावों का पूर्ण रूप से विवरण प्रस्तुत किया था[9] और प्रोफेसर जे० ग्रार० हिक्स भी तटस्थता वक्रों की सहायता से ग्रपनी पुस्तक 'मूल्य व पूंजी' में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि 'निगम्य-विश्लेषण (A priori analysis) से हम यह पता नहीं लगा सकते कि श्रम का पूर्ति-वक्र पीछे की ओर मुड़ेगा ग्रथवा ग्रागे ऊपर की ओर जायेगा।'[10] यह निष्कर्ष

वास्तव में इस सर्वविदित तथ्य से निकलता है कि पूर्ति-पक्ष की ओर प्रतिफल की विशुद्ध दर (net rate of return) में होने वाले परिवर्तन के आय व प्रतिस्थापन प्रभाव सामान्यतया विपरीत दिशा में काम करते हैं।

जब एक व्यक्ति की आय घट जाती है तो वह बहुधा कम अवकाश चाहने लग जाता है। इसके दो प्रमुख कारण हो सकते हैं। सर्वप्रथम, चूंकि अवकाश प्रायः अन्य वस्तुओं का पूरक होता है, इसलिए यह आशा की जा सकती है कि इन वस्तुओं की उपलब्धि में कमी आ जाने से (दूसरे शब्दों में आय में कमी आ जाने से) अवकाश की माग घट जायेगी। द्वितीय, यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि आय के घट जाने से (जैसे प्रति व्यक्ति कर (Poll Tax) के लग जाने से) कार्य की सीमान्त अनुपयोगिता आय की सीमान्त उपयोगिता से कम हो जाय जिससे काम को प्रोत्साहन मिले।

आयकर भी कार्य की प्रत्येक सीमान्त इकाई के पुरस्कार को परिवर्तित कर देता है और इस प्रकार प्रत्येक घंटे के कार्य को उस स्थिति की तुलना में कम आकर्षक बना देता है जितना कि यह कर की अनुपस्थिति में होता।

आय और प्रतिस्थापन प्रभाव विपरीत दिशाओं में चलते हैं और केवल सैद्धान्तिक बहस से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इनमे से किसका प्रभाव अधिक प्रबल होता है। लेकिन सामान्य बुद्धि से और जो कुछ व्यवस्थित अनुभवाश्रित सामग्री उपलब्ध है उससे यह पता चलता है कि आय-प्रभाव अधिकांश मामलों में कीमत-प्रभाव से ज्यादा महत्वपूर्ण सिद्ध होता है और आय के बढ़ने के साथ-साथ अवकाश की मांग भी बढ़ती जाती है और इसके विपरीत भी सही होता है।

हम इसी बात को थोड़ा और आगे ले जा सकते हैं। ऊपर-वर्णित कारणों को लेकर हम आशा कर सकते हैं कि कर न लगने की स्थिति की तुलना में प्रति व्यक्ति कर के लग जाने से कार्य की मात्रा में वृद्धि होती है क्योंकि इस परिस्थिति में केवल आय-प्रभाव ही कार्यरत रहता है; और कार्य के प्रत्येक अतिरिक्त घंटे से होने वाली आय में कोई परिवर्तन नहीं होता है। हम यह भी आशा करते हैं कि कार्य की मात्रा लगाये जाने वाले आयकर की किस्म के अनुसार भी परिवर्तित होगी। उदाहरणार्थ, हम कार्य की मात्रा की वृद्धि के प्रगतिशील (Progressive) आनुपातिक (Proportional), अवरोही (Regressive) व प्रतिव्यक्ति करों (Poll Taxes) को इसी क्रम में [illegible] के साथ रखा करते हैं जिनमें उनकी ही [illegible] होती है। ऐसा करने का कारण यह

प्रतिव्यक्ति करों (Poll Taxes) को न्यूनतम अवकाश और प्रगामी आयकरों को अधिकतम अवकाश से सम्बद्ध कर देते हैं। इन सभी दशाओं में आय-प्रभाव तो समान रहता है, लेकिन प्रतिस्थापन प्रभाव प्रतिव्यक्ति कर की दशा में शून्य होता है और आरोही आयकर की स्थिति में उल्लेखनीय हो सकता है एवं इसी प्रकार आनुपातिक एवं अवरोही आयकरों के साथ इसका महत्व घटता जाता है।[11]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुच्छेद के प्रथम पैरा में वर्णित दोनों लेखकों ने और वास्तव में इस विषय पर हेन्केल पी० वाल्ड[12] तक लिखने वाले लगभग सभी व्यक्तियों ने यह दृष्टिकोण रखा था कि आयकर का यह बुरा प्रभाव हो सकता है कि यह किये जाने वाले कार्य की मात्रा में कमी उत्पन्न कर दे। यह बात स्वीकार तो की गई थी कि आयकर से किये जाने वाले काम की मात्रा में वृद्धि हो सकती है, लेकिन इसे बुरा नहीं समझा गया था। फिर भी वाल्ड ने पूर्व-उद्धृत लेख में यह बतलाया था कि एक प्रतिव्यक्ति कर की तुलना में आनुपातिक आयकर एक व्यक्ति पर अधिक भार डालता है, चाहे श्रम की पूर्ति बढ़े, घटे अथवा उतनी ही रहे और उसका यह दावा था कि यह अधिक भार अनिवार्यतः वैसा ही अधिक भार होता है जैसा परोक्षकर से पड़ता है (जो पहले ही जोसेफ-हिक्स के जैसे चित्र में दर्शाया जा चुका है)।

यह जानना रुचिकर होगा कि आयकर के विभिन्न रूपों का कल्याण के अनुसार क्रम विन्यास (ranking) ठीक वैसा ही होता है जैसा कि यह प्रेरणा अनुसार होता है। यह बात प्रोफेसर पीगू[13] ने बतलाई थी लेकिन प्रोफेसर बोल्डिंग[14] ने इस प्रस्थापना का तटस्थता-वक्रों की सहायता से बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। वास्तव में इसके पीछे तार्किक आधार यह है कि प्रतिव्यक्ति कर के मुकाबले में इन करों के अधिक भार (excess burden) की मात्रा इस बात पर निर्भर करेगी कि प्रतिव्यक्ति कर के स्थान पर इन करों के क्रियाशील होने पर एक व्यक्ति के कार्य-कलाप किस सीमा तक भिन्न होते हैं। वास्तव में इसे ही पुनः हम प्रेरणा-प्रभाव (incentive effect) कह कर पुकारेंगे।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये अधिक भार इस बात पर निर्भर करते है कि (अ) व्यक्तियों को अपने काम के घंटों के चुनने की कहां तक स्वतन्त्रता होती है, (आ) इस सम्बन्ध में निर्णय करने में वे करों से कहां तक प्रभावित होते हैं। बहुत से अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि व्यक्तियों को न तो ऐसी स्वतन्त्रता होती है और न उनकी प्रकृति ही ऐसी होती है।[15]

रेखाकृति से जो तर्क प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है। मान लीजिए चित्र (1) में घ ब स ध का अवकाश को और घ क घ ब आय को सूचित करता है। ऐसी स्थिति में क क' रेखा उन संयोगों को प्रदर्शित करती है जो आय व अवकाश के सम्बन्ध में एक व्यक्ति के लिए एक समान से पूर्ण सुख देते हैं। ब, इन वस्तुओं के उस संयोग को प्रदर्शित करता है जिसे वह अपने आप चयन करेगा। मान लीजिए, सरकार उससे क ख (क' ख') कर के रूप में लेना चाहती है। वह ऐसा प्रति व्यक्ति कर (poll tax) लगा कर कर सकती है जिससे उसे अवसरों का एक नया चाप ख ख' मिलता है और उसके अनुसार ही नई स्थिति ब$_1$ हो जाती है। आनुपातिक आयकर लगा कर भी इतनी ही द्रव्य राशि जुटाई जा सकती है। इस कर के लगाने से विचाराधीन व्यक्ति के सामने नई बजट रेखा क ख'' आ जायगी और वह ब$_2$ से प्रदर्शित आय व अवकाश का संयोग चुनेगा। उदासीनता सम्बन्धी सामान्य मान्यताओं के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि ब$_1$ बिन्दु ब$_2$ से अधिक उत्तम है और यदि क ख द्रव्य राशि प्रति व्यक्ति कर लगाकर प्राप्त करने के बजाय आयकर प्राप्त की जाती है तो उपभोक्ता पर अधिक भार पड़ता है।

उपर्युक्त दृष्टान्त में एक व्यक्ति को आयकर के लगने से उस स्थिति की तुलना में कम अवकाश मिल पाता है जब कि कोई कर नहीं लगा हुआ है (अर्थात् वह पहले से ज्यादा काम करता है)। लेकिन यही निष्कर्ष उस स्थिति में भी निकलता है जब कि अवकाश व आय के सम्बन्ध में इस व्यक्ति का तटस्थता-मानचित्र ऐसा होता है कि आय-प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव की तुलना में कम महत्वपूर्ण होता है जिससे वह आयकर के लगने से कम मेहनत करने लगता है, बनिस्बत उस स्थिति के जब कि कोई कर नहीं लगा हुआ है।

वाल्ड ने अपने विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला था कि यद्यपि यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रति व्यक्ति कर आयकर से ज्यादा अच्छा होता है और यह व्ययकर से भी ज्यादा अच्छा होता है, लेकिन इस तरह के सैद्धान्तिक अध्ययनों से अतिरिक्त भार की मात्राओं पर, और फलस्वरूप कल्याण के दृष्टिकोण से आयकरों व व्ययकरों के सापेक्ष गुणों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। यह तो सत्य है कि वाल्ड ने उन परिस्थितियों को भी पहचाना था जिनमें व्यय कर एवं आयकर से बचत की हानि (loss of surplus) नहीं होती है और इनका प्रभाव प्रति व्यक्ति कर के समान ही पड़ता है। उदाहरण के लिए, उसने इस तरह से लिखा है 'वस्तुकर इस कसौटी को पूरा करता है कि मांग की आय-लोच व क़ीमत-लोच कब शून्य होती है। इन दशाओं में
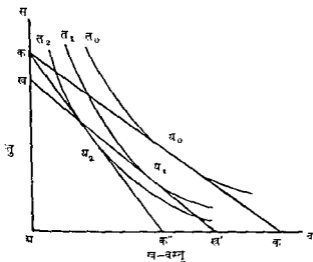
चित्र (1)

य और कर लगी हुई वस्तु के बीच प्रतिस्थापन की लोच भी शून्य ही गी।'[16]

हम आगे चलकर देखेंगे कि ऊपर जो सारांश गहरे अक्षरों मे दिया या है उस पर आपत्ति उठाई जा सकती है, लेकिन इस बात पर हम यहाँ चार नहीं करना चाहते हैं। लेकिन मैं पाठक का ध्यान इस तथ्य की तरफ कर्षित करना चाहूंगा कि इस समस्या के प्रति वाल्ड का दृष्टिकोण पूर्णतया तोषजनक नही है। उसके मतानुसार प्रति व्यक्तिकर/आयकर एवं प्रति क्तिकर/व्ययकर इन दोनों के विवेचन में एक से चित्र व तर्क की आवश्यकता ती है। लेकिन यह सही नहीं है क्योंकि इसमें यह मान्यता निहित है कि क्ति की कर-पूर्व आय व्ययकर की स्थिति मे भी वही है जो आय कर की थति में है। वाल्ड ने यह तो काफी सही ढंग से स्पष्ट किया है कि प्रति क्ति कर की तुलना मे आयकर से करदाता पर अधिक भार पड़ता है लेकिन सने व्यय कर के भार का सतोषजनक वर्णन नहीं किया है क्योंकि उसके वेचन मे यह मान्यता अन्तर्निहित है (जो निश्चित रूप से गलत है) कि तुओं की कीमत और अवकाश की मांग के बीच कोई सम्बन्ध नही है। यह ष्टतया एक अनुचित बात है। यदि यह मान भी लिया जाय कि व्यय करों अवकाश की मांग पर कोई प्रतिस्थापन-प्रभाव नहीं पड़ते हैं तो भी आय-भावों के अस्तित्व को अस्वीकार करना सभव नही होगा।

प्रोफेसर ए० एम० हेन्डरसन ने भी वही भूल की जो वाल्ड ने की ।[17] अपने 1948 मे प्रकाशित एक लेख मे उसने यह बतलाने का प्रयास या कि वाल्ड का तर्क असतोषजनक व भ्रामक था (वास्तव में कुछ मामलों यह था भी) और परम्परागत जोसेफ-हिक्स का दृष्टिकोण सही था (जो स्तुतः नही था)। उसके तर्क का निचोड़ यह था कि समान आरोहीपन progressiveness) वाले आय कर के ढाचे व व्यय कर के ढाचे के प्रति यक्ति-कर की तुलना में कार्य की पूर्ति पर एक से विकृत प्रभाव (distorting ffects) पड़ते हैं और यही कारण है कि बचत की क्षति भी समान ही होती । लेकिन इसके अलावा इसका यह भी विचार था कि जब आय के खर्च रने का समय आता है तो आयकर की तुलना में व्ययकर बचत को अतिरिक्त ति पहुँचाते हैं।

इस प्रकार परम्परागत निष्कर्ष सही है। प्रोफेसर हेन्डरसन का यह वेचार सही है कि एक दी हुई आय की स्थिति में व्ययकर से आयकर की

अपेक्षा अधिक भार पड़ता है (हमारी 'आदर्श प्रारम्भिक शर्तों' की मान्यता के आधार पर)। असल में यह वह परम्परागत दावा है जिसका मैंने इन मान्यताओं के आधार पर समर्थन किया था। लेकिन मुख्य बात कुछ और है। वह यह है कि जिस व्यक्ति के समस्त समान आरोहीपन लिए हुए आयकर-फलन (income tax function) व व्ययकर फलन होते हैं वह वास्तव में समान आय प्राप्त नहीं कर पाता है।

इस बात को ठीक से स्पष्ट करने के लिए हमें इस संदर्भ में 'समान आरोहीपन' के आशय पर काफी विस्तार से विचार करना होगा। आयकर की स्थिति में तो आरोहीपन की धारणा बिलकुल स्पष्ट होती है और हम यहां पर यह मान लेते हैं कि हम एक ऐसे कर के ढांचे पर विचार कर रहे हैं जहां एक व्यक्ति यदि x आय प्राप्त करता है तो वह कर के रूप में इसका $y\%$ चुकाता है। (सरलता के लिए हम आनुपातिक आयकर को भी ले सकते थे जो हमारी सामान्य मान्यताओं के आधार पर समस्त वस्तुओं पर $y\%$ की दर से लागू किये जाने वाले समान मूल्यानुसार व्यय कर के ही समान होगा)। एक रुचिप्रद और पेचीदी बात तो यह है कि इस आयकर के साथ पाये जाने वाले समान आरोहीपन वाले व्यय कर के ढांचे से अभिप्राय क्या निकलता है। एक व्यक्ति की स्थिति में इसका आशय असमान मूल्यानुसार कर की दरों की उस प्रणाली से होगा जिसमें उसकी रुचि को ध्यान में रख कर इस बात की व्यवस्था की जा सकती है कि यदि उसकी आय x हो तो वह अपना खर्च इस प्रकार से चलायेगा कि कर के रूप में $y\%$ व्यय कर सके। ऐसी दशा में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विचाराधीन व्यक्ति के समक्ष नकद राशि की कोई विशिष्ट मांग नहीं है, बल्कि उसके समक्ष वैकल्पिक कर-सूत्रों (tax formulae) की एक शृंखला विद्यमान है और वह अपने काम के घंटों एवं विशेष वस्तुओं में अपने उपभोग को परिवर्तित करने में पूर्णतया स्वतंत्र है। यहां पर हमारा विचार यह है कि जिस उपभोक्ता के समक्ष ऊपर वर्णित वैकल्पिक प्रत्यक्ष व परोक्ष कर की सम्भावनाएं विद्यमान हैं वह वास्तव में प्रत्येक दशा में अपने कार्य के घंटे अलग-अलग रखना पसन्द करेगा और अन्तिम स्थिति के अर्थ में (ex post sense) कर व्यवस्थाएं समान आरोहीपन लिए हुए नहीं होंगी। ऐसी दशा में परोक्ष करों की बनिस्बत प्रत्यक्ष करों की उत्तमता के सम्बन्ध में ऐसा कथन प्रस्तुत करना असम्भव होगा जैसा कि हेन्डरसन ने किया था।

कोई यह सोच सकता है कि उपर्युक्त स्थिति से दूसरा रास्ता यह है कि आरोहीपन की अन्य भिन्न परिभाषा की जाय। उदाहरणार्थ, समान आरोहीपन

वाली परोक्ष व प्रत्यक्ष कर-प्रणाली को इस तरह से परिभाषित किया जा सकता है कि इनमे कर की दरें ऐसी होती हैं कि व्यक्ति सरकार को एक सी द्रव्य-राशि देते हैं, चाहे (और ऐसा होगा भी) कार्य के घंटे और उपभोग-खर्च का प्रारूप अलग-अलग हो। ऐसी दशा मे यदि यह सिद्ध किया जा सकता है कि आयकर उपभोक्ता को व्यय करों की तुलना मे कम दिक्कत पहुँचाते हैं तो हम प्रत्यक्ष करों की उत्तमता का दावा सामने रखने की स्थिति मे आ जाते हैं। लेकिन यह सम्भव नहीं है। वास्तव में हम आगे चलकर देखेंगे कि उसके विपरीत मत के पक्ष मे अच्छे तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

मैं सोचता हूँ कि वाल्ड और हेन्डरसन के द्वारा किये गये उत्तम कार्य के महत्व को कम किये बिना यह काफी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्होने एक तरफ तो आयकर और वस्तुओं की माग के बीच और दूसरी तरफ वस्तुओं की कीमत और अवकाश की मांग के बीच पाये जाने वाले घनिष्ट सम्बन्ध को नहीं समझा। इन महत्वपूर्ण अन्तर्सम्बन्धों के बारे में पहला विशिष्ट कथन आई०एम०डी० लिटल[10] ने प्रस्तुत किया है।

प्रतिव्यक्तिकर/आयकर और प्रतिव्यक्तिकर/परोक्ष कर की समस्याओं को एक दूसरे से बिलकुल पृथक व भिन्न मानने के बजाय लिटल ने इनको एक ही समस्या के विभिन्न पहलुओं के रूप मे देखा है। उसने यह मान लिया कि उपभोक्ता स्वतन्त्र है और तीन वस्तुओं, क, ख व ग (अवकाश) के विभिन्न संयोगों के बीच चुनाव कर सकता है। यदि वह क और ख को अधिक मात्रा चाहता है तो अवकाश का त्याग करके ही ऐसा कर सकता है, इसी प्रकार यदि वह क और ग चाहता है, तो उसे ख कम लेना होगा, इत्यादि। यदि हम उपभोक्ता पर प्रति व्यक्ति कर लगा दिया जाता है तो इसके आय-प्रभाव से उसके चुनावों पर असर पड़ेगा, लेकिन कोई प्रतिस्थापन-प्रभाव नहीं पड़ेंगे। (हम यह मान लेते हैं कि अवकाश के लिए उसकी मांग घटेगी)। यदि क या ख या ग पर द्रव्य की समान राशि प्राप्त करने के लिए कर लगा दिया जाता है तो इसमे कुछ विपरीत प्रभाव (distorting effects) पड़ते हैं और लिटल के मतानुसार सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इन विपरीत प्रभावों के सम्बन्ध मे और फलस्वरूप इन करों के लगने से कल्याण की हानि के सम्बन्ध में दृष्टिकोण मे एकरूपता (Symmetry) होता है। यही कारण है कि वह अपने लेख (जो निःसन्देह एक प्रसिद्ध लेख था) के अन्त मे निम्नलिखित वाक्य का प्रयोग कर गया था :—'यदि किसी सामान्य निष्कर्ष को कोशिश में लें तो यह कहते हैं कि सर्वश्रेष्ठ कर वे होते हैं जो उन वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जिनको साथ-साथ

कम लोचदार होती है। वास्तविक सहायता के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। आयकर जो अवकाश पर दी जाने वाली सहायता है, इसका अपवाद नहीं है। अवकाश की मांग के काफी बेलोच होने के कारण से ही यह एक अच्छा कर माना जा सकता है। परोक्ष करारोपण या करारोपण के विषय में केवल विशुद्धरूप से कोई सैद्धान्तिक तर्क प्रस्तुत कर सकना एक भ्रम होगा।'[19]

अतः जोसेफ-वाल्ड-हेन्डरसन-लिटल के द्वारा प्रस्तुत किये गये विवेचन का परिणाम यह है कि केवल सैद्धान्तिक तर्क के आधार पर आयकरों की तुलना में उत्पादन-करों की हीनता (अथवा उत्तमता) सिद्ध नहीं की जा सकती है और यही कारण है कि यह प्रश्न कि करारोपण का कौनसा रूप एक दी हुई स्थिति में बचत को अपेक्षाकृत कम हानि पहुँचायेगा, एक अनुभवाश्रित विषय बन जाता है। इस सम्बन्ध में परिणाम क्रमशः वस्तुओं व अवकाश के मांग वक्रों की विशेष शक्ल से निर्धारित होता है। मैं अपने मूल लेख में इसी तरह की भावना प्रस्तुत करना चाहता था। कोरलेट व हेग[20] की आधुनिक खोजों के फलस्वरूप अब थोड़े कम अपरम्परागत निष्कर्ष (लेकिन केवल थोड़े ही कम) पर पहुँचना संभव हो गया है जो इस प्रकार है: 'यदि व्यक्ति अपने कार्य की मात्रा तय कर सकें तो मामूली परोक्ष कर-ढांचा प्रत्यक्ष करारोपण से उत्तम ही रहेगा।'[21]

क, ख और अ (अवकाश) इन तीन वस्तुओं के अस्तित्व को मान लिया गया है। आनुपातिक आयकर लागू हो रहा है और विचाराधीन उपभोक्ता ने क, ख और अ के ऐसे संयोग को चुना है जो उसे सर्वाधिक संतोष देता है। अब यदि आयकर की दर घटा दी जाती है और आय की उतनी ही राशि के लायक क या ख पर थोड़ा व्ययकर लगा दिया जाता है तो इस परिवर्तन से उपभोक्ता के द्वारा चुनी जाने वाली अ की मात्रा पर प्रभाव पड़ेगा। साधारणतया क या ख में से कोई एक वस्तु दूसरे की बनिस्बत अवकाश की ज्यादा पूरक होगी।[22] यदि क वस्तु अवकाश की ज्यादा पूरक होती है और इस पर कर लागू किया जाता है तो विचाराधीन व्यक्ति ज्यादा मेहनत से काम करेगा। यदि ख वस्तु अवकाश की ज्यादा पूरक होती है और क पर कर लगा दिया जाता है तो वह इस नई कर की स्थिति में उस स्थिति की अपेक्षा कम मेहनत से काम करेगा जब कि प्रथम दशा वाली क व ख वस्तुओं पर समान मूल्यानुसार कर की दरें लागू की जाती हैं।

उक्त परिणाम कोई आश्चर्यजनक नहीं है। हम पहले देख चुके हैं कि आयकर के लगने से एक व्यक्ति सदैव उस स्थिति की अपेक्षा कम मेहनत से

काम करता है जब कि वह प्रति व्यक्ति कर के रूप में उतनी ही धनराशि राजकोष में जमा कराता है। प्रति व्यक्ति कर को (हमारे मॉडल में) एक ऐसा कर माना जा सकता है जो तीनों वस्तुओं क, ख व अ पर समान मूल्यानुसार लगाया गया है। प्रति व्यक्ति कर की तुलना मे आयकर चुनावों को अवकाश के पक्ष मे ले जाता है। अतः कर प्रणाली का ऐसा परिवर्तन जो इस विपरीत स्थिति को टीक करने की दिशा में अग्रसर होता है (उदाहरणार्थ, अवकाश की पूरक वस्तु पर बढ़ाया गया कर) वह एक व्यक्ति को अधिक मेहनत से काम करने लिए प्रेरित करेगा। यही नही बल्कि हम अपने पूर्व विवेचन से यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ऐसे परिवर्तन से कल्याण की होने वाली क्षति कम हो जायगी और वह व्यक्ति एक ऊंचे तटस्थता-वक्र पर आ सकेगा, हालांकि वास्तव में ऐसा केवल उस दशा मे होता है जब कि वह अपने काम के घंटों में परिवर्तन कर सकता है अथवा उसके श्रम के पूर्ति-वक्र की लोच शून्य नहीं होती है।

कोरलेट-हेग के लेख की प्रमुख बात जो महत्वपूर्ण है—यह प्रदर्शित करना है कि तीन वस्तुओ की स्थिति मे (जिनमें से एक अवकाश है) जहां व्यक्ति अपने काम के घंटे परिवर्तित कर सकते हैं, दो वस्तुओं पर समान मूल्यानुसार लगे हुए कर से असमान मूल्यानुसार करों की तरफ परिवर्तन होने से प्राप्त अवकाश की मात्रा मे कमी आ जायेगी और उस व्यक्ति के आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो जायेगी बशर्ते कि अपेक्षाकृत ऊँचे कर की दर एक ऐसी वस्तु पर लगी हुई है जो अवकाश की अधिक पूरक है और इसके विपरीत भी सही है। पूर्वमान्यताओं की स्थिति में यह निष्कर्ष भी निकलता है कि परोक्ष कराधान का कुछ रूप प्रत्यक्ष कराधान से सदैव उत्तम होता है।[23] ये सैद्धान्तिक निष्कर्ष हैं और इसीलिए महत्वपूर्ण भी हैं। लेकिन व्यावहारिक सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र मे क्रिया के मार्गदर्शक के रूप मे इनका वर्तमान में कोई महत्व नहीं है और वास्तव मे निकट भविष्य में माग-वक्रों की विशेष शक्ल के सम्बन्ध में और एक व्यक्ति की वस्तुओं की मांग व अवकाश की मांग के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान इस काम की दृष्टि से पूर्णतया अपर्याप्त ही बना रहेगा।

(इ) जब अन्य करों का अस्तित्व होता है [24]

उन सभी लेखकों ने जिनका विवेचन हमने इस लेख के भाग (आ) में किया है अस्पष्ट रूप से यह मान लिया था कि 'आदर्श प्रारम्भिक दशाएँ'[25]

पाई जाती है। चूंकि वास्तविक जगत में 'आदर्श प्रारम्भिक दशाएँ' विषम स्वरूप न होकर केवल अपवाद-मात्र ही होती हैं, इसलिए इस मान्यता के महत्व और इसको हटाने के परिणामों पर कुछ विचार कर लेना अवश्य ही महत्वपूर्ण होगा।[36]

एक अकेले व्यक्ति और दो वस्तुओं (क और ख) की स्थिति को मान लेने पर चार भिन्न-भिन्न प्रारम्भिक दशाएँ बतलाई जा सकती हैं—यथा जब कोई कर न हो; आयकर (जो दोनों वस्तुओं पर लगे हुए समान मूल्यानुसार व्यय कर के बराबर हो); क-वस्तु पर व्यय कर और ख-वस्तु पर व्यय कर।[37]

यह परम्परागत (जोसेफ-हिक्स) निष्कर्ष कि-आयकर क-वस्तु पर लगे हुए समान आय (revenue) देने वाले व्यय कर से अधिक अच्छा होता है—ऊपर-वर्णित अन्तिम प्रारम्भिक दशा को छोड़कर सर्वत्र लागू होता है; हालांकि इस सम्बन्ध में तर्क बहुत जटिल होता है विशेषतया उस स्थिति में जब कि क पर पहले से ही व्यय कर लगा हुआ है।[38] आयकर क-वस्तु पर लगे हुए व्यय कर से सदैव अच्छा होता है। ऐसा केवल उस समय नहीं होता है जब कि ख पर पहले से ही व्ययकर लगा हुआ हो।

इस निष्कर्ष के पीछे स्पष्टतया एक सामान्य बुद्धि का कारण प्रतीत होता है। हम पहले देख चुके हैं कि एक प्रति व्यक्ति कर आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से इसलिए एक अच्छा कर माना जाता है कि एक व्यक्ति के व्यवहार पर इसके प्रति-स्थापन या अन्य विपरीत (distorting) प्रभाव नहीं पड़ते हैं। एक प्रति व्यक्ति कर सापेक्ष कीमतों को प्रत्यक्षतया नहीं बदल पाता है। कीमतों पर इसका जो एकमात्र प्रभाव पड़ता है—और वह केवल उस स्थिति में महत्वपूर्ण होता है जब कि अनेक व्यक्ति होते हैं—उसका कारण यह है कि यह क्रय-शक्ति को नये ढंग से वितरित कर देता है जिससे विशेष वस्तुओं की मांग में परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि एक अर्थशास्त्री के लिए कीमतों का आशय सापेक्ष कीमतों अथवा कीमत-अनुपातों (price ratios) से होता है और जो कर-प्रणाली सापेक्ष कीमतों अथवा क़ीमत-अनुपातों को अपरिवर्तित बने रहने देती है वह प्रति व्यक्ति कर (poll tax) के समान ही होती है, और एक कर-प्रणाली जो इस स्थिति के . . होती है वह व्यक्तियों को ऊंचे तटस्थता-वक्रों पर ले जाती है अपेक्षा कर प्रणाली के जो इसके समीप नहीं होती है। हम अपने मॉडल में क और ख की कर से पूर्व की कीमतें क्रमशः 4 और 2 मान लेते हैं। अतएव

कीमत-अनुपात 2 : 1 हो जाता है । न तो प्रतिव्यक्ति कर और न आयकर ही इन कीमतों में परिवर्तन ला सकते हैं। लेकिन क अथवा ख पर कर लगने से इनके भाव बदल जायेंगे, इसलिए प्रतिव्यक्ति कर अथवा आयकर की तुलना में ये द्रव्य जुटाने के घटिया तरीके माने जाते हैं ।

अब हम यह मान लेते हैं कि ख-वस्तु पर 50% मूल्यानुसार कर पहले से ही लगा हुआ है। अतः इस प्रारम्भिक स्थिति में क और ख की सापेक्ष कीमतें 4 और 3 होती हैं और कीमत-अनुपात 1⅓ होता है। अब आयकर लगा दिया जाता है तो कीमत-अनुपात तो 1⅓ ही बना रहता है, लेकिन कर न लगने के समय की प्रारम्भिक स्थिति में होने वाले कीमत-अनुपात 2 की तुलना में विपरीत ढग का परिवर्तन आ जाता है । यदि ख-वस्तु पर और कर लगा दिया जाता है जिससे कुल आय उतनी ही होती है जितनी कि ख-वस्तु पर व्ययकर और आय कर के पूर्ववर्णित मेल से होती है तो प्रभाव और भी खराब हो जायगा । लेकिन क पर कर लगने से यह घट जायगा। हम यह कल्पना कर लेते हैं कि क-वस्तु पर व्यय-कर ख-वस्तु पर चालू 50% व्यय कर के मेल से उतनी ही आय दे सकेगा जितनी ख-वस्तु पर लगने वाले व्यय कर और आय कर के प्रथम मेल से प्राप्त हो सकती थी। ऐसी कर-प्रणाली में सापेक्ष कीमतें 6 और 3 हो जाती हैं और कीमत-अनुपात 2 हो जाता है। अतः ऐसी दशा में क-वस्तु पर लगा हुआ परोक्ष कर आय कर से उत्तम माना जायगा ।

उपर्युक्त दृष्टान्त में क-वस्तु पर लगने वाले नये व्यय-कर की दर वही रहती है जो ख-वस्तु के पुराने व्यय-कर की थी। हम यहाँ पर अन्य परिस्थितियों की भी कल्पना कर सकते हैं । यदि ख पर पुराने कर की दर क की नई दर से ऊँची होती है तो भी यही निष्कर्ष निकलता है। लेकिन यदि क पर कर की नई दर ख की पुरानी दर से ऊँची होती है तो यह स्पष्ट है कि कर से पहले की प्रारम्भिक स्थिति के सम्बन्ध मे विपरीत प्रभाव (Distortion) की दूसरी दशा पहली दशा की अपेक्षा ज्यादा खराब होती है और इसी वजह से आय कर क-वस्तु पर लगे हुए व्यय-कर से ज्यादा अच्छा होता है, चाहे ख-वस्तु पर पहले से ही व्यय कर क्यो न लगा हुआ हो ।

(ई) मार्शल

हमने ऊपर जिन लेखकों की चर्चा की है उनमें से कइयों ने यह बतलाया है कि मार्शल ने उपभोक्ता की बचत की सहायता से प्रत्यक्ष करारोपण

को परोक्ष से उत्तमता सिद्ध करने का प्रयास किया था। कुमारी जोसेफ,[29] श्री वाल्ड[30] और प्रोफेसर हेन्डरसन[31] सभी ने इस तरह के कथन प्रस्तुत किये हैं।

यदि मार्शल के सिद्धों से उद्धृत अंशों की जाँच करें तो हमें पता चलेगा कि वास्तव में उसने 'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर समस्या' का बिल्कुल भी विवेचन नहीं किया है। उद्धृत विवेचन के प्रारम्भ में एक पादटिप्पणी (footnote) आती है जिसका प्रमुख उद्देश्य कर के मामलों पर कोई निश्चित मत प्रगट करना नहीं है बल्कि पूर्ति की दशाओं के परिवर्तन से उपभोक्ता की बचत पर पड़ने वाले प्रभावों का दृष्टान्त प्रस्तुत करना है। दूसरी बात यह है कि मार्शल ने अपने विवेचन में यह मानने का प्रयास किया है कि व्यय कर की विभिन्न किस्मों से द्रव्य की समान राशि जुटाने में बचत की सापेक्ष क्षति कितनी होती है। पादटिप्पणी अथवा मूल पाठ में आय करों का कोई उल्लेख नहीं आया है और उसका निष्कर्ष इस प्रकार है :—'अतएव यदि कर की कोई दी हुई कुल राशि किसी वर्ग से निष्ठुरतापूर्वक वसूल करनी है तो उपभोक्ता की बचत को कम क्षति उस स्थिति में होगी जबकि कर आराम दायक वस्तुओं पर न लगाया जाकर अनिवार्यताओं पर लगाया जाय; हालांकि सच पूछा जाय तो विलासिताओं का उपभोग, और कुछ कम अंशों में, आराम-दायक वस्तुओं का उपभोग कर वहन करने की योग्यता का सूचक होता है।'

यहाँ पर यह तो स्वीकार करना होगा कि इस निष्कर्ष के प्रति आपत्ति उठाई जा सकती है क्योंकि इसमें आय प्रभावों, कार्य की पूर्ति पर पड़ने वाले प्रभावों और इस तथ्य को भुला दिया गया है कि पहले से ही कुछ कर क्रियाशील हो सकते हैं। लेकिन मोटे तौर से यह दृष्टिकोण सही है और यह तो निश्चित है कि मार्शल ने यह सिद्ध करने का कोई प्रयास नहीं किया कि प्रत्यक्ष कर परोक्ष करों से ज्यादा अच्छे होते हैं।

मार्शल की इन अव्यक्त मान्यताओं (Implicit Assumptions) के आधार पर कि श्रम की पूर्ति (अथवा आय की मात्रा) दी हुई है और प्रारम्भिक स्थिति में कर नहीं लगा हुआ है, यह सिद्ध किया जा सकता है कि उसका यह दावा कि सापेक्ष रूप से बेलोच मांग वाली वस्तु पर कर लगने से कर-दाता पर अपेक्षाकृत कम भार पड़ता है यों भी रखा जा सकता है कि उस वस्तु पर कर लगाया जाना चाहिए जिसकी प्रतिस्थापन लोच कम होती है। इस वैकल्पिक स्पष्टीकरण में आय प्रभावों पर भी ध्यान दिया गया है। मांग

की लोच प्रतिस्थापन की लोच के साथ बदलती है। ऐसा केवल उस स्थिति में नहीं होता है जब कि वस्तु घटिया होती है।

यह भी हो सकता है कि मार्शल ने जिस तरह से इस समस्या को प्रस्तुत किया है उस पर आय-प्रभाव की जटिलताओं आदि को छोड़ देने पर भी आपत्ति की जा सकती है। मार्शल का तर्क इस प्रकार था कि एक व्यक्ति जितने कर का भुगतान करता है उससे उपभोक्ता को द्रव्य में उस वित्तीय भुगतान की अपेक्षा अधिक हानि होती है जो वह सरकारी खजाने में देता है, क्योंकि उपभोक्ता की बचत को क्षति पहुँचती है, लेकिन (यह बात महत्वपूर्ण भी है) उसका यह कहना है कि सरकार को मिलने वाला लाभ कर के भुगतान के बराबर ही होगा। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि हम एक तरफ उपयोगिता की समानताओं (Utility Equivalents) पर ध्यान देते हैं तो हमें दूसरी तरफ भी इस पर ध्यान देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें कर से होने वाली आय के खर्च से प्राप्त उपयोगिता की वृद्धि पर भी ध्यान देना चाहिए जो एक किस्म की उपभोक्ता की बचत को जन्म दे सकती है।

लेकिन यह आपत्ति उसी दशा में उपस्थित होती है जब कि हम करके द्वारा द्रव्य जुटाने की प्रक्रिया में होनेवाली बचत की निरपेक्ष हानि (Absolute Loss) पर विचार करते हैं। यह आपत्ति उस समय उत्पन्न नहीं होती है जब कि हम विभिन्न करों से होने वाली बचत की सापेक्ष हानि पर विचार करते हैं क्योंकि इस स्थिति में यह माना जा सकता है कि एकसा खर्च और इसीलिए उपयोगिता के एक से लाभों की दशा विद्यमान है और बचत की व्यक्तिगत हानियों की मात्रा की तुलना करना उचित है। तटस्थता-वक्रों के प्रयोग से भी इसी तरह की समस्या उत्पन्न होती है।

यह समझ सकना बहुत कठिन है कि ऊपर उद्धृत किये गये लेखकों ने यह भूल क्यों की कि उन्होंने यह मान लिया कि मार्शल का 'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर-समस्या' के प्रति अपना कोई दृष्टिकोण था। यह विशेष रूप से एक विचित्र-सी बात जान पड़ती है क्योंकि प्रोफेसर पीगू को अपनी पुस्तक Public Finance [32] के सभी संस्करणों में काफी दूर जाकर यह स्पष्ट करना पड़ा कि मार्शल ने इस प्रस्थापना को सिद्ध करने का कोई प्रयास नहीं किया और खींच-तान करने पर भी उसके विश्लेषण का प्रयोग इस समस्या के विवेचन में नहीं किया जा सकता है।[33]

(उ) निष्कर्ष

चूँकि हमारी मुख्य रुचि इस बात में है कि 'कर समस्या' के वर्तमान विवेचन का अर्थ मंत्रियों व वित्त मंत्रियों के व्यावहारिक कार्यों की दृष्टि से क्या महत्व है, और उस दृष्टिकोण से इस 'समस्या' का सामाजिक पहलू स्पष्टतः एक व्यक्तिगत उपभोक्ता के लिए होने वाली 'कर समस्या' से ज्यादा महत्वपूर्ण है, इसलिए यहाँ पर हम कुछ निष्कर्षों की तरफ बढ़ने का प्रयास नहीं करेंगे। अब तक के विश्लेषण से यह परिणाम निकलता प्रतीत होता है कि एक व्यक्तिगत उपभोक्ता की 'कर समस्या' के सम्बन्ध में आय करों अथवा व्यय करों की उत्तमता को सिद्ध करने के लिए कोई ऐसा सीधा एवं विशिष्ट प्रमाण नहीं है जिसका आर्थिक कल्याण की दृष्टि से भी व्यावहारिक महत्व हो। सम्भव है कि वास्तविक जगत में श्रम की पूर्ति पूर्णतया स्थिर न हो और 'आदर्श प्रारम्भिक दशाएँ' विद्यमान न हों। यही नहीं बल्कि माँग-वक्रों की ढालों एवं प्रारम्भिक दशा के सम्बन्ध में हमारा सांख्यिकीय ज्ञान भी अपर्याप्त ही रहे।

प्रतिव्यक्ति कर की कल्याण के आधार पर अन्य सभी करों से होने वाली उत्तमता को सैद्धान्तिक तर्क से सिद्ध किया जा सकता है (लेकिन प्रति व्यक्ति कर चालू व्यय कर के अतिरिक्त लगा हुआ नहीं होना चाहिए) परन्तु आय व व्यय करों के सम्बन्धों में ऐसा नहीं किया जा सकता है।

3. समुदाय (The Community)

(अ) प्रस्तावना

पिछले भाग में[34] हमने जिन गुट के लेखकों की चर्चा की है उन्होंने वास्तव में स्पष्ट रूप से तो एक व्यक्ति से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष करों के रूप में द्रव्य की एक दी हुई राशि जुटाने के सापेक्ष प्रभावों की समस्या का विवेचन किया था, लेकिन उन्होंने अव्यक्त रूप से यह मान लिया था कि वे ही तर्क एक बड़ी एवं सम्पन्न समुदाय से द्रव्य की एक दी हुई राशि जुटाने की समस्या के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सिद्ध होंगे।

हम पहले देख चुके हैं कि हिक्स-जोसेफ प्रमाण पर उस स्थिति में भी कई आपत्तियाँ उठाई जाती हैं जब कि यह एक वैयक्तिक उपभोक्ता से सम्बद्ध किया जाता है। सामुदायिक समस्या के सम्बन्ध में इन आपत्तियों पर विचार करने से पहले हम यह को देना सुविधाजनक होगा कि इस नई स्थिति में

यह सरल प्रमाण कहाँ तक सही सिद्ध होता है। ऐसा करते समय हम इन मान्यताओं को स्वीकार कर लेते हैं जो परम्परागत प्रमाण को पुराने रूप में सही बना देती हैं, यथा श्रम की पूर्ति पूर्णतया बेलोच होती है और अन्य कर क्रियाशील नहीं होते हैं।

हमे दो जटिल तत्त्वों पर विचार करना है। सर्वप्रथम, हमे एक ऐसे प्रश्न पर विचार करना है जिसका अनिवार्यतः अन्तर व्यक्तिगत तुलनाओं (Interpersonal Comparisons) से सम्बन्ध होता है। एक तरफ तो यह तथ्य है कि व्यक्ति भिन्न-भिन्न रुचि रखते हैं और दूसरी तरफ उनकी आमदनी भी भिन्न-भिन्न होती है। द्वितीय, हमे इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि कराधानया करारोपण के स्तर की अपेक्षा वास्तविक सरकारी खर्च का स्तर ही निजी उपभोग व विनियोग के लिए उपलब्ध होने वाली वस्तुओं की मात्रा में कमी उत्पन्न करता है और—ऐसी स्थिति मे—आय मे वृद्धि करने के बजाय निजी खर्च मे कमी करना ही कराधान का मुख्यउद्देश्य हो जाता है।[35]

(आ) अन्तर व्यक्तिगत तुलनाएँ

विभिन्न आय-समूहो मे व्यक्ति कर का कितना भार वहन करें इसका निर्धारण एक आर्थिक प्रश्न न होकर राजनीतिक है। यदि हम यह भी मान लें कि लोगों की रुचि समान है और साथ मे सामान्य बुद्धि पर आश्रित ये मान्यताएँ भी स्वीकार कर लें कि एक ही आय समूह में होने वाले व्यक्तियों को, जिनके एकसे उत्तरदायित्व हैं, कर के रूप मे एक सी धनराशि देनी चाहिए, और आय के बढ़ने के साथ-साथ आय की सीमान्त उपयोगिता लगातार घटती जाती है, तो भी हम निश्चित रूप से यह नहीं बतला सकते कि प्रतिवर्ष क्रमशः एक हजार पौंड और दो हजार पौंड कमाने वाले व्यक्तियों को अर्थ मंत्री को अपनी आय का कितना प्रतिशत कर के रूप मे देना चाहिए।

इस क्षेत्र में अर्थशास्त्री का स्थान मामूली-सा है, हालांकि पूर्णतया महत्त्वहीन नहीं है। उसका मुख्य कार्य यह बतलाना है कि आरोहीपन के विभिन्न अंशों वाले कर के कार्यक्रम लागू करने से बचत, कार्य, उद्यमशीलता आदि इसी तरह की अन्य बातों पर क्या प्रभाव पड़ेंगे। राजनीतिज्ञ उपर्युक्त जानकारी एवं अन्य निपुण जानकारी के आधार पर उस कर के ढांचे को चुनेगा जो उसे सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होगा; अथवा जिससे वोटों की कम से कम क्षति होगी; अथवा जो प्रशासनिक सम्भावनाओं की दृष्टि से सबसे ज्यादा व्यावहारिक

होगा। यह तो माना जा सकता है कि अर्थशास्त्री आरोहीपन के विभिन्न अंशों के प्रभावों के सम्बन्ध में जो जानकारी राजनीतिज्ञों को करा सकता है उसका स्पष्टतया काफी महत्व है, लेकिन यहाँ हम इस बात पर बल देना चाहते हैं कि एक अर्थशास्त्री कभी भी इस स्थिति में नहीं होगा कि वह एक कानून के रूप में अथवा एक वैज्ञानिक सत्य के रूप में यह कह सके कि अमुक आरोहीपन रखने वाला कर का ढांचा अनुकूलतम् होगा। बल्कि वह तो यह भी नहीं कह सकेगा कि यह ढांचा आरोहीपन के किसी भिन्न अंश वाले दूसरे कर के ढांचे से ज्यादा अच्छा होगा।

यदि लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और हम यह नहीं मान कर चलते हैं कि एक सी आर्थिक स्थिति वाले लोगों को एक से कर देने चाहिए, तो समस्या और भी जटिल हो जाती है।

''प्रत्यक्ष-परोक्ष कर समस्या' के सामुदायिक पहलुओं के विवेचन में आगे बढ़ने के लिए यह मानना आवश्यक है कि सरकार अथवा किसी पुरोहित ने आरोहीपन का कोई नियम तय कर दिया है। इस साधारण 'सामाजिक कल्याण फलन, ('Social Welfare Function') के दिये हुए होने पर हम आगे बढ़ सकते हैं।

यदि हम यह मानकर चलते हैं कि किसी गैर-अर्थशास्त्री निर्णयकर्ता ने यह तय कर दिया है कि विभिन्न आय-समूहों अथवा व्यक्तियों का आय के रूप में किया जाने वाला अंशदान (Revenue Contributions) कितना होगा तो हमारे लिए यह विवेचन बाकी रह जाता है कि आय के इन विभिन्न अंशदानों को प्रत्यक्ष कर अथवा परोक्ष कर के रूप में प्राप्त करने का सापेक्ष भार क्या होगा। यह समस्या हल से परे नहीं है। हमारी इन वर्तमान मान्यताओं के आधार पर कि श्रम की पूर्ति स्थिर होती है और आदर्श प्रारम्भिक दशाएँ पाई जाती हैं, यह स्पष्ट है कि यह समस्या मूलतः वैसी ही है जैसी कि इसी तरह की मान्यताओं के आधार पर वैयक्तिक उपभोक्ता के समक्ष होती है। हम सौभाग्य से इस तरह से बहस करने की स्थिति में हैं जिस प्रकार समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष कर परोक्ष कर से ज्यादा अच्छा होता है, सम्पूर्ण समुदाय पर भी ऐसा ही निष्कर्ष लागू होना चाहिए।

हमें इस निष्कर्ष को आवश्यकता से ज्यादा महत्व देने के प्रति सावधान रहना होगा। विशेषतया हमें यह स्मरण रखना होगा कि यद्यपि प्रत्येक दशा में व्यक्तिगत करदाताओं पर परोक्ष कर की बनिस्बत प्रत्यक्ष कर
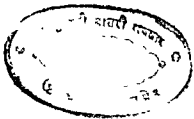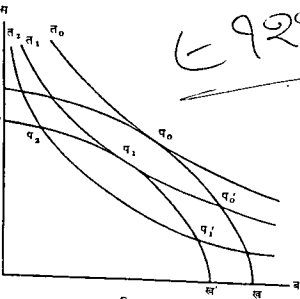
चित्र (2)

र कम पड़ता है, तथापि विभिन्न करदाताओं के लिए लाभ की मात्रा
भिन्न होती है। ऐसा केवल उस स्थिति में नहीं होता है जब कि प्रत्येक
ता की एक सी रुचि होती है।

(इ) करारोपण या कराधान का उद्देश्य (Object of taxation)[36]

एक व्यक्तिगत करदाता के सम्बन्ध में विचार करते समय यह सोचना
था कि उसके द्वारा राजकीय खजाने मे किये जाने वाले भुगतानों को
र पड़ने वाले सरकारी वित्त के भार के उत्तम माप के रूप मे मान
जाय (केवल विपरीत प्रभावों को छोड़कर)। समुदाय पर विचार करते
हमें इस दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना होगा।

हमारी इन मान्यताओं के आधार पर कि कार्य की मात्रा स्थिति
है और दो वस्तुओं की दशा पाई जाती है और साथ मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा
तिरिक्त मान्यता भी होती है, हम एक परिवर्तन-वक्र (transformation
e) अथवा उत्पादन-सम्भावना-वक्र खींच सकते हैं जो किसी भी प्रकार के
री व्यय की अनुपस्थिति मे एक देशवासियो के समक्ष होने वाली उप-
की सम्भावनाओं को प्रदर्शित करता है। चित्र 2 मे हम क्ष-अक्ष पर
तु और ख-अक्ष पर ख-वस्तु लेते हैं। क ख परिवर्तन-वक्र क और ख
ओं के उन विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करता है जो समाज मे श्रम, पूंजी
विधिक ज्ञान (सबको स्थिर मान लेने पर) के दिये हुए साधनों की
ना से उत्पन्न की जा सकती है। $त_0$, त, त सामुदायिक तटस्थता-
[37] का एक जोड़ा है और कराधान व सरकारी खर्च की अनुपस्थिति मे
साधन व वस्तु-बाजारों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के पाये जाने पर समुदाय क
ख वस्तुओं के ऐसे संयोग को चुनेगा जो परिवर्तन-वक्र पर $प_0$ से सूचित
है। $प_0$ पर परिवर्तन-वक्र और सामुदायिक तटस्थता-वक्र का ढाल उस
त-अनुपात को सूचित करेगा जिस पर बाजार मे क और ख का विनिमय
जायगा। पृष्ठभूमि मे 'पैरिटो के अनुकूलतम् बिन्दु' ('Paretian
imum') की ऐसी अनेक अंतिम समानताएं (equalities) हैं जो हम चित्र
र्शित नहीं की गई हैं। उदाहरण के लिए हम जानते है कि क-वस्तु
ादन मे उत्पादन के साधनों की सीमान्त भौतिक उत्पादकताओं
arginal physical productivities) के अनुपात वैसे ही हैं जैसे कि ख-
ादन मे है, इत्यादि।

अब यदि सरकार समुदाय के साधनो का कुछ भाग अपने प्रयोग के
ने का निर्णय कर लेती है तो अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्र के लिए चुनी होने

वाली उपभोग की सम्भावनाओं में कमी आ जायेगी। यदि सरकार अपने प्रयोग के लिए, जैसे सुरक्षा के लिए, उन साधनों को काम में लेती है जो पहले क-वस्तु का क क¹ अथवा ख वस्तु का ख ख¹ अथवा क ख के किसी भी बिन्दु पर क क¹ अथवा ख ख¹ पट्टी की चौड़ाई से प्रदर्शित क और ख के जोड़े को उत्पन्न करने की क्षमता रखते थे, तो निजी क्षेत्र की उपभोग की सम्भावनाएँ क¹ ख¹ हो जाती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समुदाय में निजी क्षेत्र की दशा बिगड़ जायगी क्योंकि दूसरी स्थिति की अपेक्षा पहली स्थिति में अधिक वस्तुओं को प्राप्त करना सम्भव था।

हम जो बात कहना चाहते है वह यह है कि यह एक तथ्य है कि सरकार ने अपने वास्तविक खर्च मे वृद्धि करली है, साधनों का उपयोग किया है और उपभोक्ताओं के उपभोग-सम्भावना-वक्र को अन्दर की ओर खिसका दिया है। कराधान से इसका कोई सम्बन्ध नही रहा है।

पूर्णतया लोचदार कीमतों एव द्राव्यिक मजदूरी के सघर्षरहित जगत में जहां सदैव पूर्ण रोजगार की दशा पाई जाती है वहां सरकार के वास्तविक खर्च मे वृद्धि हुए बिना यदि कराधान में वृद्धि हो जाती है तो वह अपस्फीतिकारी (deflationary) सिद्ध होती है ऐसी दशा मे कीमतों एव द्राव्यिक मजदूरी मे तो गिरावट आयेगी लेकिन रोजगार की स्थिति कायम रखी जा सकेगी। इसी प्रकार सरकार के वास्तविक खर्च में होने वाली वृद्धि निजी क्षेत्र को उपलब्ध होने वाली वास्तविक वस्तुओं व सेवाओं में कमी ला देती है। ऐसी कमी जिसके साथ कराधान मे कोई वृद्धि नहीं होती है आय व कीमतों के पारस्परिक सम्बन्ध मे होने वाले परिवर्तन से उत्पन्न होती है।

वास्तविक सरकारी खर्च मे एक दिये हुए परिवर्तन की स्थिति मे कराधान का महत्व उस समय होता है जब कि यह आशा की जाती है कि मूल्य-स्तर मे कोई परिवर्तन नहीं होगा। यदि वास्तविक सरकारी खर्च की वृद्धि के साथ साथ कर के ऐसे परिवर्तन होते है जिनसे निजी खर्च मे उतनी ही मात्रा में कमी आ जाती है, तो सामान्य मूल्य-स्तर अपरिवर्तित रह जाता है।

उपर्युक्त चित्र में क¹ ख¹ रेखा उपभोग की सम्भावनाओं के एक नये [illegible] को प्रदर्शित करती है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि यह वक्र [illegible] की सम्भावनाओं को सूचित करता है चाहे सरकार अपनी क्रय [illegible] करों के द्वारा [illegible] करों से, अथवा मुद्रा की मात्रा में [illegible] करे। कर के ढांचे का प्रभाव तो केवल उपभोग-सम्भावना-वक्र के

उस निश्चित बिन्दु पर पड़ता है जहां नई संतुलन स्थिति स्थापित होती है। यदि व्यय प्रति व्यक्तिकर अथवा आयकर से प्राप्त की जाती है तो नई स्थिति $प_1$ होगी और दो वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें पुन परिवर्तन वक्र और तटस्थता-वक्र के $प_1$ पर होने वाले ढलाव से प्रदर्शित होगी जो 'पैरेटो का अनुकूलतम् बिन्दु' होगा। लेकिन यदि आवश्यक आय-व्यय कर (मान लीजिए ख-वस्तु पर) से प्राप्त की जाती है तो संतुलन की स्थिति $प_2$ हो सकती है। इस स्थिति में क और ख की सापेक्ष कीमतें परिवर्तन-वक्र के ढलाव के बराबर नहीं होती हैं (चित्र में यह कीमत-अनुपात एक सरल रेखा से प्रदर्शित किया जा सकता है जो $प_2$ पर तटस्थता-वक्र $त_2$ को स्पर्श करती है) और $प_2$, जो स्पष्टतः 'पैरेटो का अनुकूलतम बिन्दु' नहीं है, $प_1$ से घटिया है। इस दशा में प्रत्यक्ष कर परोक्ष कर से ज्यादा अच्छा होगा।

लेकिन इस निष्कर्ष से कोई सामान्य परिणाम नहीं निकाल सकते हैं। प्रथम दशा में 'पैरेटो की अनुकूलतम् स्थिति' होने पर ही यह निष्कर्ष निकलता है। यदि हम पूर्ण प्रतिस्पर्धा की हमारी प्रारम्भिक मान्यता को ढीला कर देते हैं तो शून्य सरकारी खर्च की स्थिति $प^0$ पर न होकर $प^1_0$ पर हो जाती है क्योंकि क-वस्तु उत्पन्न करने वाले उद्योग में एकाधिकारात्मक तत्त्व विद्यमान होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि सरकार अपना व्यय करती है और आय (revenue) आयकर अथवा प्रतिव्यक्ति कर से प्राप्त की जाती है तो हम $क^1$ $ख^1$ पर $प^1_1$ जैसी स्थिति में पहुंच जाते हैं यदि ख-वस्तु पर व्यय कर लगाया जाता तो हम $क^1$ $ख^1$ पर $प_1$ जैसी स्थिति में पहुँच सकते थे। ऐसी दशा में व्यय कर का आयकर से अपेक्षाकृत कम भार पड़ता।

पाठकों ने ध्यान दिया होगा कि यह अन्तिम बात पिछले खण्ड के विवेचन से कितनी मिलती-जुलती है जहां व्यय करों पर विचार किया गया था, जैसे ख-वस्तु पर पहले से कर लगा हुआ है और क-वस्तु पर व्यय कर और लगा दिया जाता है। बहुत ही सीमित मान्यताओं की दशा में जिनके अन्तर्गत हम इस समय विवेचन कर रहे हैं, प्रत्यक्ष कराघान के पक्ष में कोई सैद्धान्तिक दावा नहीं किया जा सकता है। ऐसा तभी हो सकता है जब कि हमें यह पता हो कि प्रारम्भिक दशा 'पैरेटो की अनुकूलतम दशा' थी।[38]

(ई) उपसंहार : एक सारहीन विवाद ?

अब तक हम बहुत ही सीमित मान्यताओं के अन्तर्गत 'कर-समस्या' के सामुदायिक पहलुओं पर विचार कर रहे थे। यदि हम 'मामूली सामाजिक

कल्याण फलन' ('minor social welfare function') की धारणा को तो बनाये रखते हैं, लेकिन साधन की स्थिर पूर्ति की मान्यता को ढीला कर देते हैं तो हम एक ऐसे तर्क के द्वारा जो प्रस्तुत लेख के इसी भाग के दूसरे अनुच्छेद में प्रयुक्त किये गये तर्क से काफी मिलता-जुलता है, उसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं जिस पर हम एक वैयक्तिक उपभोक्ता के सम्बन्ध में पहुंचे थे। उस समय हमने यह बतलाया था कि यद्यपि सैद्धान्तिक तर्क-वितर्क से यह सिद्ध किया जा सकता है कि कुछ मात्रा में परोक्ष कर का ढांचा प्रत्यक्ष कर के ढांचे से ज्यादा अच्छा हो सकता है, लेकिन कोई भी उस समय तक यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता कि कर के लिए कौनसी वस्तुएँ उपयुक्त हैं जब तक कि उसके पास मांग-फलनों की आकृति के सम्बन्ध मे वर्तमान समय की तुलना में काफी अधिक ज्ञान न हो।

एक समुदाय के मामले मे सैद्धान्तिक निष्कर्ष का महत्व और भी कम हो जाता है। जब तक यह (बहुत कुछ) विवेकशून्य मान्यता स्वीकार नहीं की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति की रुचि एक सी है तब तक यह सम्भव है कि विभिन्न उपभोक्ताओं के लिए अलग-अलग व्यय-कर आवश्यक हों क्योंकि जो वस्तुएँ अवकाश की सबसे ज्यादा पूरक होती हैं वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए अलग-अलग हुआ करती है। वास्तविक जगत में इस तरह का जटिल कर का ढांचा बनाना सम्भव नहीं होगा। अतः समुदाय के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हमें मांग-फलनों (Demand Functions) की आकृति की जानकारी भी हो (जो शायद ही सम्भव है) तो भी सरकारी वित्त के भार को कम करने के लिए इस ज्ञान का उपयोग कर सकना सम्भव नहीं होगा।

विभिन्न किस्म के प्रत्यक्ष करो के भार पर विचार करते समय अथवा एक ही आय-समूह मे भिन्न-भिन्न रुचियों वाले अलग-अलग व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष व परोक्ष करों के द्वारा डाले जाने वाले भारों की सापेक्ष मात्राओं पर विचार करते समय भी ऐसे ही तर्क लागू होते हैं।

प्रारम्भिक स्थिति की समस्या के सम्बन्ध में तो हम देख चुके हैं कि समुदाय के मामले में यह और भी जटिल हो जाती है क्योंकि एकाधिकार के तत्वों के कारण कीमतों व सीमान्त लागत के बीच खाई काफी सीमा तक सम्बद्ध होती है। लेकिन वास्तव में यह अंतर भिन्न-भिन्न उद्योगों में अलग-अलग होता है और यह योजना वर्जित हो जाता है कि आदर्श प्रारम्भिक

दशाओं की मान्यता पर आधारित निष्कर्षों का वास्तविक जगत मे कोई सामान्य प्रयोग अथवा महत्व होगा।

मांग-वक्रों और प्रारम्भिक दशाओं के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान में वृद्धि हो जाने से यदि 'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर-समस्या' से सम्बन्धित विभिन्न प्रमेयो (Theorems) को लागू करना सम्भव भी हो जाय तो भी प्रश्न उठता है कि क्या इस ज्ञान का कुछ उपयोग हो सकेगा ? वास्तविक जगत मे राजनीतिक दलों एवं व्यक्तियों के बीच कर-नीति को लेकर अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न एवं विवाद पाये जाते हैं लेकिन इनका उन समस्याओं से बहुत कम सम्बन्ध है जिन पर हमारे विवादी विचार करते रहे है। कराधान की विभिन्न किस्मो से बचत, कार्य एवं उद्यमशीलता पर पड़ने वाले प्रभाव, करोत्तर आय-असमानता की ग्राह्य सीमा और अर्जित व अनार्जित आय के बीच उचित विभेद, प्रशासनिक लागतों की दृष्टि से विशेष करो को टालने एवं करो को छिपाने (Tax Evasion) की उपयुक्तता की सम्भावित सीमा; वह सीमा जहाँ तक राजस्व प्रणाली मे विशेष वस्तुओं व सेवाओं के उपभोग के विपक्ष मे निर्णय किया जा सकता है—ये सब ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन पर अर्थशास्त्री कुछ-न-कुछ योगदान दे सकते हैं और इन पर जनता व राजनीतिज्ञ दोनो इनको धैर्य व चाव से सुनेंगे। लेकिन 'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर-समस्या' के विवाद मे कोई ऐसी बात नहीं है जो राजनीतिज्ञो व जनता को रुचिप्रद लगे—चाहे ऊपर बतलाये हुए वर्णनात्मक एवं सांख्यिकीय ज्ञान का अस्तित्व हो—क्योंकि कर के क्षेत्र मे ये अन्य दृष्टिकोण कल्याण के पहलुओं को पूरी तरह से दबा लेते हैं और सच पूछा जाय तो वर्णनात्मक एवं सांख्यिकीय ज्ञान का अस्तित्व भी नहीं है। हम जनता अथवा राजनीतिज्ञों को उनकी रुचि की कमी के लिए दोषी नहीं ठहरा सकते हैं; यह समझना भी आसान नहीं है कि इस ज्ञान का उपयोग किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। साथ मे हमे उन संशयों का भी स्मरण रखना होगा जो हमने इस लेख के प्रथम भाग की भूमिका में उन तर्कों पर डाले थे जो पूर्णतया आर्थिक कल्याण के विचारों पर आश्रित हैं। कर नीति आर्थिक नीति का एक अंग होती है और आर्थिक नीति का राजनीति से सरोकार होता है। कर-नीति के निर्माण में और भी अधिक सामान्य ढग के विचार शामिल होते हैं और इस प्रकार के तर्क में कोई सार नहीं है कि केवल आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से विचार करने पर अमुक कर का ढांचा 'सर्वश्रेष्ठ' रहेगा।

अतः अब तक जो कुछ विवेचन किया गया है उसके बारे में बिना हिचक के मैं यह कहूँगा कि यह एक निस्सार विवाद है। यह तो सत्य आधुनिक कार्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि कुमारी जोसेफ और प्रोफेसर के 1939 के विचार पूर्णतया संतोषजनक नहीं थे और इसमें कोई सन्देह कि अर्थशास्त्रियों के लिए एक व्यवसाय से सम्बन्ध रखने के नाते इसका है, लेकिन इसकी व्यावहारिक उपयोगिता मामूली-सी है।

यह दुर्भाग्य है कि 'प्रत्यक्ष परोक्ष कर समस्या' जैसे शुष्क विषय ने ले वर्षों में सार्वजनिक वित्त के विवेचन में इतना महत्वपूर्ण स्थान बना है कि अध्ययन के इस क्षेत्र के सम्बन्ध में काफी जानकारी की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है (और सिद्धान्ततः वह प्राप्य भी है)। श्रीमती [39] ने जिसे विभिन्न करों का ऊपरी एवं प्रभावपूर्ण करवाहृता (Formal and Effective Incidence) कहा है उसके बारे में हमारा ज्ञान साथ में इन करों में होने वाले परिवर्तनों का हमारा ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था में ही है, लेकिन यदि एक गैर-अर्थशास्त्री निर्णयकर्ता को अपना कार्य सफलतापूर्वक करना है तो उसके लिए इस तरह की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

---

(1) 'Some Comments on the Taxation of Personal Income and Expenditure in the United Kingdom', **Public Finance**, खण्ड 9, संख्या 2 पृष्ठ 191-213. इसी दृष्टिकोण के पक्ष में मैंने उद्धरण दिया था (उसी रचना में पाद टिप्पणी 7): I.M.D. Little, 'Direct Versus Indirect Taxes', **Economic Journal**, 1951. E. R. Rolph and G.F. Break, The Welfare Aspects of Excise Taxes', **Journal of Political Economy**, 1949.

(2) यह आवश्यक है कि हम 'प्रत्यक्ष-परोक्ष कर-समस्या' को इसके किसी भी रूप में उस विषय से भ्रम में न डालें जिसका प्रमुख सम्बन्ध ए० सी० पीगू के नाम से रहा है (यद्यपि मार्शल ने अपनी Principles आठवां संस्करण, खण्ड 5 अध्याय 12 में इसका उद्गम किया और अनेक हाल के लेखकों ने इसका विवेचन किया

है) जिसने इस विषय पर अपने विचारों का सारांश अपने ग्रन्थ **Public Finance** के एक अध्याय में दिया (भाग 2, अध्याय 7, 1947) जिसका शीर्षक 'कुसमायोजनों या कुसमंजनों को ठीक करने के लिए लगाये गये कर व आर्थिक सहायता' ('Taxes and Bounties to Correct Maladjustments') है (इन्हीं विचारों की उसने The Economics of Welfare, 1932 के संस्करण में विस्तारपूर्वक जांच की)। वास्तव में मुख्य कुसमायोजन तो यह है कि कुछ वस्तुओं के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनों को सीमा पर मिलने वाला प्रतिफल समुदाय को मिलने वाले प्रतिफल से ज्यादा अथवा कम हो सकता है, निजी लागतें सामाजिक लागतों से भिन्न हो सकती हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत धुआं (smoke) जैसी परिचित समस्याओं और बढ़ती हुई व घटती हुई पूर्ति—कीमत वाले उद्योगों की सामान्य किस्म की समस्याओं का विवेचन किया गया है। पीगू का तर्क इस प्रकार है कि ऐसे कुसमायोजनों को उन उद्योगों पर तो व्यय कर लगाकर ठीक किया जा सकता है जिनका इस अर्थ में अधिक विस्तार हो चुका है, और उन उद्योगों को आर्थिक सहायता (bounties) देकर ठीक किया जा सकता है जिनका पर्याप्त रूप से विस्तार नहीं हुआ है और उसका मत है कि आर्थिक सहायता और करों का एक अनुकूलतम स्तर हुआ करता है।

उपर्युक्त चर्चा निस्सन्देह रुचिप्रद और महत्त्वपूर्ण है लेकिन जिस समस्या का हम विवेचन कर रहे हैं उसकी दृष्टि से इसका बहुत कम अथवा नहीं के बराबर महत्त्व है। असल में प्रोफेसर पीगू ने भी कल्याण के दृष्टिकोण से विभिन्न किस्म के व्ययकरों के सापेक्ष गुणों से काफी सम्बन्ध रखने वाली समस्या पर विचार करते समय यह कहा है कि 'हम कल्पना कर लेते हैं कि या तो किसी प्रकार के सुधार की आवश्यकता नहीं है अथवा आवश्यक सुधार किये जा चुके हैं। इस प्रकार हम यह मान लेते हैं कि कर-आर्थिक सहायता (tax-bounty) प्रणाली के लिए जरूरी समझी जाने वाली मात्रा से भी ज्यादा आय की आवश्यकता होती है।'(**Public Finance**, 1947, भाग 2, अध्याय 9, पृ० 101).

(3) देखिए **J. S. Mill, Principles of Political Economy** पुस्तक V, अध्याय III, एक शताब्दी के तीन चौथाए समय के बाद ऐसे

ही विवेचन के लिए देखिए : H. Dalton, Public Finance, नवां संस्करण, पृ० 33.

(4) U. K. Hicks, Public Finance अध्याय IV निम्नांकित लेख भी देखिए : '*The Terminology of Tax Analysis, Economic Journal, 1946.*

(5) जब भी मैं आयकर शब्द लिखता हूं तो मेरा आशय आनुपातिक आय-कर से होता है । मैं 'आयकर' के पीछे 'आरोही' और 'अवरोही, विशेषणों का प्रयोग उस समय करूंगा जब कि मुझे इन *गुणों वाले सूत्रों का उल्लेख करना होगा ।*

(6) M. F. W. *Joseph*, 'The Excess Burden of Indirect Taxation,' Review of Economic Studies, खण्ड *VI*, संख्या 3, J. R. Hicks, Value and Capital, 1939, पृ० 41.

ए० टी० पीकोक और डी० बेरी ने बतलाया है ('A Note on the *Theory of Income Redistribution*, **Economica**, *1951*, और ए० टी० पीकोक द्वारा सम्पादित **Income Redistribution and Social Policy** में डी० बेरी के 'Modern Welfare Analysis' नामक लेख में) किई० वे रोन ने Giornaledegli Economisti में कितने पहले 1912 में तटस्थता-वक्र विश्लेषण का प्रयोग यह सिद्ध करने में किया था कि एक व्यक्ति आयकर के रूप में *अधिक द्रव्यराशि और व्यय करों के रूप में कम राशि देकर समान रूप से संतुष्ट* रह सकता है । उसी पत्रिका में 1921 में गिनो बोरगाटा (Gino Borgatta) ने, कुमारी जोसेफ और प्रोफेसर हिक्स के इस विशेष दावे को कि आय की एक दी हुई राशि करदाता को आयकर की स्थिति में ज्यादा अच्छी दशा में *बने रहने देगी, उन्हीं के मिलते-जुलते तरीके से सिद्ध कर दिया था ।* पीकोक व बेरी ने इस खोज के लिए गेरार्ड डिहोव (Gerard Dehove) को *श्रेय दिया* है (Impot, Economie et Politique, खण्ड I, Presses Universitaires de France, 1947) ।

उपर्युक्त कथनों के बावजूद भी मुझे ऐसा लगता है कि कुमारी जोसेफ और प्रोफेसर हिक्स की उद्धृत रचनाओं के प्रकाशन से आधुनिक विवेचन का *प्रारम्भ मानना ही सही होगा । आगे चलकर मैं मार्शल के द्वारा किये गये* कार्य पर टिप्पणी करूंगा ।

(7) G. J. Stigler, The Theory of Price, (New York, 1946) पृ० 81-82 T. Scitovsky, Welfare and Competition (Chicago, 1951), पृ० 67.

(8) इस अनुच्छेद में हम 'आदर्श' प्रारम्भिक दशाओं को मान लेते हैं।

(9) L. Robbins, 'On the Elasticity for Income in Terms of Effort' Economica, 1930.

(10) J. R. Hicks, पूर्व उद्धृत रचना, पृ० 36.

(11) इन प्रश्नों पर निम्नलिखित देखिए : A.C. Pigou, Public Finance भाग II, अध्याय V. F. W. Paish, 'Economic Incentive in War-Time,' Economica, 1941. E. H, Phelps Brown, A Course in Applied Economics, Pitmans, 1951, अध्याय IV.

(12) H. P. Wald, 'The Classical Indictment of Indirect Taxation,' Quarterly Journal of Economics, 1944-5.

(13) A. C. Pigou, पूर्व उद्धृत ग्रंथ, भाग II अध्याय V

(14) K. Boulding, Economic Analysis (संशोधित संस्करण) पृ० 773-775.

(15) देखिए A. C. Pigou पूर्व उद्धृत ग्रंथ (1947 का संस्करण), पृ० 69-71. E. Schwartz and D. A. Moore, 'The Distorting effects of Direct Taxation' American Economic Review, 1951. कुछ मात्रा में आधुनिक अनुभवाश्रित प्रमाण के लिए देखिए Second Report of the Royal Commission on the Taxation of Income and Profits, 1954.

(16) Wald, पूर्व उद्धृत रचना, पृ० 596 आयकर के लिए प्रति व्यक्ति कर के समान होने के लिए एक-सी लोच की दशाएँ पूरी होनी आवश्यक हैं।

(17) A. M. Henderson, 'The Case for Indirect Taxation' Economic Journal, 1948.

(18) *I. M. D. Little*, पूर्व उद्धृत रचना।

(19) *I. M. D. Little*, पूर्व उद्धृत रचना, पृ० 584.

(20) W. J. Corlet and D. C. Hague, *'Complementarity and the Excess Burden of Taxation', Review of Economic Studies 1953-4*, पृ० 21-30.

(21) वही, पृ० 30.

(22) कोरलेट व हेग ने इस कथन के आशय का स्पष्टीकरण निम्नांकित ढंग से किया है : *'यदि अवकाश की मात्रा का माप समय होगा, जैसा कि उस स्थिति में होता है जब कि आय की एक अधिकतम सीमा होती है जो एक व्यक्ति के द्वारा अर्जित की जाती है चाहे वह कितना ही कठिन श्रम क्यों न करे, तो पूरकता के अधिक या कम मदा को आसानी से परिभाषित किया जा सकता है।* ऐसी दशा में अवकाश की मात्रा इस अधिकतम आय और उसकी वास्तविक आय के अंतर से मापी जा सकती है। उस स्थिति में हमारी शर्त यह होगी कि एक वस्तु व अवकाश के बीच पूरकता की लोच दूसरी वस्तु व अवकाश के बीच पाई जाने वाली पूरकता की लोच से अधिक होनी चाहिए' (पूर्व उद्धृत लेख, पृ० 24)।

(23) यदि हम कुछ मान्यताओं को ढीला करके निम्न बातों पर ध्यान देते हैं, जैसे अवकाश के अतिरिक्त दो से अधिक वस्तुओं का अस्तित्व होता है, एक से अधिक व्यक्ति होते हैं और आयकर आरोही अथवा अवरोही और आनुपातिक हो सकते हैं, तो भी वैसा ही निष्कर्ष निकलता है।

(24) इस अनुच्छेद में हम यह मान लेते हैं कि श्रम की पूर्ति स्थिर रहती है।

(25) मूलपाठ अथवा पादटिप्पणियों में वर्णित लेखकों में से लिटलर वाल्ड और सीटोवस्की ने स्पष्टतया बतलाया है कि *जिन वस्तुओं पर वे विचार कर रहे हैं उनमें से एक पर कर नहीं लगा हुआ है।*

(26) नीचे का विश्लेषण आर० के० डेविडसन के हाल ही के एक लेख पर आधारित है 'The Alleged Excess Burden of an Excise Tax in the Case of an Individual Consumer', **Review of Economic Studies,** 1952-3). डेविडसन का इस समस्या का विश्लेषण पूर्णतया संतोषजनक नहीं है, हालांकि —मेरी राय में—उसने इस बात को नहीं पहचाना है कि उसके समस्त निष्कर्ष श्रम के पूर्ति-वक्र के सम्बन्ध में शून्य लोच की मान्यता पर कैसे आश्रित हैं। उसने इस बात को भी नहीं माना है कि कुछ लेखकों ने उसके प्रश्न पर महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, हालांकि उनका योगदान बहुत ही कम अच्छा हो पाया है। (विशेष रूप से E. R. Rolph and G. F. Break, पूर्व उद्धृत रचना, और M. Friedman का **Journal of Political Economy** 1952 में लेख The Welfare Effects of an Income Tax and an Excise Tax)

(27) इनका एक संयोग भी हो सकता है।

(28) R. K. Davidson, पूर्व उद्धृत, पृ० 211-212

(29) पूर्व उद्धृत, पृ० 226 यहाँ कुमारी जोसेफ ने पाद टिप्पणी में The Principles, आठवाँ संस्करण, पृ० 467 दिया है।

(30) पूर्वउद्धृत, पृ० 578 ; वाल्ड ने भी पाद टिप्पणी में The Principles, आठवाँ संस्करण, पृ० 467 दिया है।

(31) पूर्व उद्धृत, पृ० 538 हेन्डरसन ने भी वही सदर्भ दिया है जो कुमारी जोसेफ और प्रोफेसर वाल्ड ने दिया है।

(32) 1928, 1929, 1947.

(33) A. C. Pigou, **Public Finance,** भाग II, अध्याय IX.

(34) कुमारी जोसेफ और सर्वश्री हिक्स, वाल्ड और हेन्डरसन

(35) मैंने यहाँ पर 'इस सदर्भ में' इसलिए लिखा है कि करारोपण का अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी उपयोग किया जा सकता है, जैसे आय के वितरण में अधिक समानता लाने के लिए अथवा किसी विशेष वस्तु का उपभोग कम करने के लिए इत्यादि।

(36) यह अनुच्छेद निम्न लेखों पर आधारित है : Rolph and Break, पूर्व उद्धृत; *Little*, पूर्व उद्धृत; *Friedman* पूर्वउद्धृत; और 'एक उत्तर', **Journal of Political Economy, 1952** (अगस्त) पृ० *334-336*, यह भी देखिए—*C.G. Phipps*, '*Friedman's* Welfare Effect, **Journal of Political Economy** 1952 (अगस्त) पृ० 332-334.

(37) प्रत्येक उपभोक्ता की एक सी रुचि होने पर ही यह पद्धति अर्थपूर्ण मानी जा सकती है।

(38) यह जानना रुचिप्रद होगा कि इस बहस के अन्दर जितनी भी बातें कही गई हैं उनमें से अनेक बातें Econometrica के *1938* व 1939 में प्रकाशित होने वाली सुप्रसिद्ध होटलिंग-फिश बहस के दौरान कही गई थीं। यह बहस दिसम्बर *1937* में होटलिंग के द्वारा Econometric Society को दिये गये अध्यक्षीय भाषण से उत्पन्न हुई थी। ('The General Welfare in Relation to *Problems of Taxation and of Railway and Utility* Rates', Econometrica, July, 1938) इस बहस की मुख्य बातें इस प्रकार हैं : प्रारम्भिक दशाओं के महत्त्व पर बल देना, चाहे अन्य कर क्रियाशील हों, और एकाधिकारी तत्त्व उपस्थित हों अथवा अनुपस्थित हों, और यह सुझाव कि आयकर प्रति *व्यक्ति कर की तुलना में अधिक भार डालता है।* सच पूछा जाय तो यह केनिथ बोल्डिंग के इस निर्णय का एक दूसरा दृष्टान्त है कि 'यह एक सुन्दर प्राचीन परम्परा है कि किसी भी वस्तु के बारे में अन्वेषण करने के बजाय इस पर विचार करना ज्यादा आसान होता है' (Surveyof Contemporary Economics, *खण्ड II, अध्याय 1)* ।

(39) **U. K. Hicks, *Public Finance***, अध्याय IX और 'The *Terminology of Tax Analysis*', ***Economic Journal***, 1946, देखिए, R. A. Musgrave, 'General Equilibrium Aspects of Incidence Theory', **American Economic *Review*** (परिशिष्ट) *1953* और '*On* Incidence' **Journal of Political Economy, 1953.**

2

कर-नीति की रूपरेखा

कर-जांच-आयोग
रिपोर्ट, खण्ड I.

2. विचारार्थ विषय (Terms of reference) :— हमारे विचारार्थ रखे गये विषयों के अन्तर्गत हमें कर-प्रणाली के चार मुख्य पहलुओ की जाच करनी है : (अ) कर-प्रणाली की करवाह्यता (incidence of the tax system) और आय व धन की असमानता को घटाने की दृष्टि से इसकी उपयुक्तता अर्थात करारोपण या कराधान (taxation) के भार का वितरण और इसके पुनर्वितरणकारी प्रभाव और सम्भावनाए (आ) देश के विकास-कार्यक्रम और इसके लिए आवश्यक साधनो (कराधान की नई दिशाओ सहित) की दृष्टि से कर-प्रणाली की उपयुक्तता, (इ) पूंजी-निर्माण और उत्पादक उपक्रम के पोषण एवं विकास पर आय (इसके ढाचे व स्तर) के कराधान के प्रभाव, और (ई) कराधान का मुद्रास्फीति एवं अपस्फीति की दशाओं में प्रयोग। हमे कर-नीति सम्बन्धी प्रश्न के इन सभी पहलुओ के बारे में कर-प्रणाली मे किये जाने वाले सुधारो के सम्बन्ध में सुझाव देने हैं।

3. विचारार्थ रखे गये विषय जांच का दृष्टिकोण निर्धारित करते हैं। ऊपरवर्णित चार पहलू जिनका इन विषयों से सम्बन्ध है संक्षेप निम्न उद्देश्यों के रूप में देखे जा सकते हैं, (अ) वितरण में सुधार, (आ) सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को बढ़ावा, (इ) निजी क्षेत्र के उत्पादन में वृद्धि और (ई) अर्थव्यवस्था में स्थिरता को बढ़ावा। सच पूछा जाय तो उत्तम वितरण, सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन और अर्थव्यवस्था मे ऊंचे दर्जे की स्थिरता ये स्वयं राष्ट्रीय आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण अंग होते हैं। ये उद्देश्य अपने आप में न केवल वाद-विवाद-रहित बल्कि ये कई तरह से क्रमबद्ध आर्थिक विकास व प्रगति की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान भी रखते हैं। लेकिन हमारे दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कर-नीति इन उद्देश्यों की प्राप्ति में कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकती है? द्वितीय, कुछ उद्देश्यों के बीच विरोध के तत्व भी पाये जा सकते हैं,

एक तरफ अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक समानता की तरफ बढ़ने और दूसरी तरफ उत्पादक उद्यम को दी जाने वाली प्रेरणाओं को बनाये रखने एवं उनके विकास के बीच विरोध हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि कर-नीति के निर्धारण में विभिन्न उद्देश्यों का सापेक्ष महत्व क्या हो ? हम इन प्रश्नों पर जरा विस्तार से आगे चल कर विचार करेंगे। यह तो स्पष्ट है कि विभिन्न उद्देश्यों के बीच प्राथमिकताओं के निर्धारण में अर्थव्यवस्था की मूलभूत आवश्यकताएं, इसके विकास की अवस्था और, कुछ हद तक, प्रचलित आर्थिक स्थिति सभी तत्त्व प्रविष्ट होते हैं।

4. स्फीतिकारी और अपस्फीतिकारी दशाओं को ठीक करने का उद्देश्य .—जो उद्देश्य मुद्रास्फीति व अपस्फीति को दूर करने से सम्बन्ध रखता है उसके बारे में कई कारणों से सबसे कम विवाद पाया जाता है। स्फीतिकारी एवं अपस्फीतिकारी दशाओं को दूर करने की वांछनीयता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं उठता है। जो चीज विवाद का विषय बन सकती है वह यह है कि इन परिस्थितियों का मुकाबला करने में कर-व्यवस्था कहां तक लाभकारी सिद्ध हो सकती है। हम इस प्रश्न पर इस अध्याय के अन्त में पृथक से विचार करेंगे।

5. आय और धन की असमानता में कमी करने का उद्देश्य —कर नीति के एक महत्वपूर्ण प्रश्न इस आवश्यकता को लेकर उत्पन्न होता है कि कर-प्रणाली के अन्तर्गत आर्थिक समानता को प्राप्त करने और विनियोग व बचत के प्रवाह को अविरल (uninterrupted) रखने (जो उत्पादक उपक्रम की निरंतर वृद्धि में सहायक होता है) के उद्देश्यों में संतुलन स्थापित किया जाए। सम्पन्न आर्थिक व सामाजिक नीति के सन्दर्भ में अधिक उत्पादन और अच्छा [illegible] होता है। कुछ विकासशील देशों में ऐसे उद्देश्य होते हैं जिनका काफी ऊंचा स्थान होता है। कुछ लोगों का कहना है कि इस देश की परिस्थितियों में उत्पादन की वृद्धि [illegible] सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य हो सकती है। यह ऐसे देशों की [illegible] [illegible]

[illegible]

की धारणा स्पष्ट नहीं हो पाई थी। आज के युग में आर्थिक व राजनीतिक दशाएं और उनके प्रति जनता की प्रतिक्रियाएं उन्नीसवीं शताब्दी के उन दिनों से बिलकुल भिन्न हैं जब कि राजनीतिक उदारतावाद (liberalism) और आर्थिक निर्बाध-नीति (laissez faire) का बोलबाला था। अब हम समानता के प्रश्न को आर्थिक व सामाजिक शक्तियों पर नहीं छोड़ सकते हैं। इस देश की परिस्थितियों में यह विशेष रूप से सही है। संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों में इस उद्देश्य को जो महत्त्व दिया गया है उसका उल्लेख पहले के अध्याय में था चुका है। इस समय आय धन व अवसरों में व्यापक मात्रा तक समानता प्राप्त करना आर्थिक विकास और सामाजिक उत्थान का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। यह मांग अब बहुत समय तक नहीं टाली जा सकती है कि कराधान का यन्त्र आय के ऐसे पुनर्वितरण के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए जो सामाजिक न्याय के अधिक अनुरूप हो। अत हमें ऐसे साधन ढूँढने होंगे जिनकी सहायता से हम एक साथ दोनों दिशाओं—अधिक उत्पादन और उत्तम वितरण—में आगे बढ़ सकें।

6. इस सम्बन्ध मे दो तरह की असमानताओं में अन्तर करना होगा, एक तो वह जो अधिक प्रयत्न अथवा उद्यम को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक दृष्टि से आवश्यक मानी जाती है और दूसरी वह जो इस उद्देश्य के लिए अनावश्यक होती है। यह तो स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था में अर्जित और अनाजित दोनों तरह की आय और धन में काफी मात्रा में ऐसी असमानता है जो टाली जा सकती है। असमानता को जिस बात से प्रेरणा मिलती है उसका एक प्रमुख कारण वह जीने का तरीका व सामाजिक प्रारूप (Pattern) है जिसके प्रति समाज के विशिष्ट वर्ग परम्परा से अभ्यस्त हो जाते हैं। लेकिन यह तो असन्दिग्ध है कि इनमें समय के साथ-साथ परिवर्तन होता है और परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रभाव अच्छा पड़ता है जिसका प्रतिरोध नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि इसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इसी के साथ उस जीवन स्तर के सम्बन्ध में हमारे परम्परागत विचार जो ऊँचे व्यवसायों में शोभा देते हैं और प्रतिफल व लाभ के सम्बन्ध में वे प्रत्याशाएं जो प्रयत्न व मितव्ययिता को बनाये रखने के लिए आवश्यक होती हैं—इनमें भी उचित परिवर्तन होना चाहिए। जो प्रतिफल उचित माने जाते हैं उनमें होने वाले परिवर्तनों की इस प्रक्रिया का एक दृष्टान्त उस संक्रमण-काल में भी देखा जा सकता है जब मुद्रास्फीति की अवधि में जल्दी से धनी हो जाने एवं सुगमता-पूर्वक लाभ प्राप्त करने की स्थिति से आर्थिक क्रिया की सामान्य अवस्था के अनुकूल होनेवाले साधारण प्रतिफलों की तरफ गति होती है।

7. लेकिन यह तो सच है कि आय व धन की असमानताएँ अल्प विकसित अर्थव्यवस्थाओं की उल्लेखनीय विशेषताएँ मानी जाती हैं जो उनकी आर्थिक दशा और संस्थागत ढाँचे से उत्पन्न होती हैं और असमानता के कुछ मूलभूत स्रोतों को एक निश्चित उद्देश्य से धीरे-धीरे मिटाकर ही समानता की तरफ जारी प्रगति की जा सकती है। कर-प्रणाली इस तथ्य को स्वीकार करके इस प्रक्रिया में निश्चित रूप से मदद दे सकती है कि आय का वितरण अपरिवर्तनीय नहीं होता है बल्कि राजस्व-प्रणाली में इस दिशा में निश्चित रूप से कदम लिये जाने पर इसमें आवश्यक परिवर्तन किया जा सकता है। लेकिन यह बल इस बात की वास्तविक जाँच पर आधारित होना चाहिए कि किसी भी समय में कर-प्रणाली असमानताओं को कम करने की दिशा में क्या कर सकती है और द्वितीय, यह प्रक्रिया निजी उत्पादक प्रयत्न व उद्यम पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना कहाँ तक आगे ले जाई जा सकती है।

8. जो कर-नीति अपेक्षाकृत ऊँचे स्तरों वाली आय को कम करके असमानताओं को घटाने का लक्ष्य रखती है वह उन राजस्व क्रियाओं (fiscal operations) का केवल एक रूप होती है जो इस क्षेत्र में सम्भव हो सकते हैं। इसी के एक महत्वपूर्ण पूरक पहलू के रूप में आर्थिक विकास (उदाहरण के लिए, कृषि व सिंचाई) पर किये जाने वाले सार्वजनिक व्यय और शिक्षा व स्वास्थ्य जैसी सामाजिक सेवाओं के विस्तार को माना जा सकता है जो समाज के अपेक्षाकृत कमजोर वर्गों की स्थिति को सुदृढ़ करने में भाग लेते हैं।

9. देश में फैली हुई आय अथवा धन की असमानता की मात्रा के सम्बन्ध में इस समय कोई विश्वस्त माप उपलब्ध नहीं है। लेकिन यह तो ज्ञात है कि भारत में काफी सीमा तक असमानता विद्यमान है। यह भी जाहिर है कि इसमें युद्धकालीन मुद्रास्फीति और इसकी वजह से विभिन्न वर्गों के बीच आय व धन के वितरण के प्रारूप पर पड़ने वाले प्रभावों के परिणामस्वरूप वृद्धि भी हुई है। मोटे तौर से यह स्पष्ट है कि ग्रामीण जनता में सामान्य रूप से स्वामी-कृषकों (owner-cultivators), गुजर-बसर करने वाले कृषकों (subsistence farmers) के विशाल वर्ग को छोड़कर, एवं विशेष रूप से बड़े खेतिहर उत्पादकों और शहरी जनता में व्यापारी-व्यवसायी वर्ग और औद्योगिक श्रमिकों को विभिन्न मदों में लाभ पहुँचा है। दूसरी तरफ स्थिर आय वाले वर्ग की आर्थिक दशा में गिरावट आई है। इस वर्ग में शहरी क्षेत्रों में साधारणतः मध्यम-वर्ग आता है और ग्रामीण क्षेत्रों में खेतिहर मजदूर आते हैं। मुद्रास्फीति के परिचित प्रभावों के परिणामस्वरूप

व्यावसायिक आय में वृद्धि होने और जिन इलाकों मे जमींदारी समाप्त नही हुई है उनमे पूर्वापेक्षा ऊँची कृषि-आय हो जाने से असमानता में स्पष्टतया बढ़ोतरी हुई है। साथ मे जनसंख्या के विशाल समूहो की वास्तविक आय में गिरावट आई है। ऐसे समूहो मे नकद पारिश्रमिक पाने वाले खेतिहर श्रमिक और सार्वजनिक व निजी दोनो क्षेत्रो मे निम्न वेतन पाने वाले लोग आते हैं।

10. आयकर को काफी आरोही बना देने पर भी अर्थव्यवस्था के कुछ भागो मे और आय की कुछ सीमाओ मे असमानता बढी है। लेकिन आयकर के अन्तर्गत कुछ राज्यो को छोड़कर, खेतिहर आय नही आती है और आयकरदाताओं के महत्वपूर्ण समूहो मे यह कर काफी मात्रा मे छिपा लिया जाता है। यदि असमानता के प्रश्न को प्रभावपूर्ण ढग से हल करना है तो प्रत्यक्ष कराधान को अधिक आरोही बनाने के साथ-साथ कर को अधिक प्रभावशाली ढग से लागू करने के उपाय भी अपनाने होंगे ताकि करके जाल का क्षेत्र विस्तृत किया जा सके। विलासिता-उपभोग (luxury consumption) की कुछ किस्मों पर अतिरिक्त कर लगाकर कराधान के ढाचे मे अधिक विविधता लाने से भी उन वर्गों के कर-अंशदान मे वृद्धि करने मे मदद मिलेगी जिनको मुद्रास्फीति से अधिक लाभ प्राप्त हुआ है। यहा पर प्रसगवश यह कहना उचित होगा कि विलासिताओ के उपभोग पर ऐसा भारी कराधान न केवल उपभोग की असमानताओं को प्रत्यक्षतया कम करने का एक उपयुक्त साधन प्रमाणित होगा बल्कि यह कुछ सीमा तक अधिक आवश्यक उत्पादन के लिए साधन भी उपलब्ध करा सकेगा। सम्पत्ति व जायदाद के कराधान का फैलाव भी असमानताओ को कम करने का एक सम्भावित साधन हो सकता है। लेकिन इस उद्देश्य के लिए कर-यत्र का पूर्ण उपयोग करने के सम्बन्ध मे एक गम्भीर मर्यादा है जिसका हम उल्लेख करना चाहेंगे। यह इस बात से उत्पन्न होती है कि यदि सार्वजनिक आय (public revenues) में काफी वृद्धि करनी है—और हम पहले ही ऐसी वृद्धि की आवश्यकता पर जोर दे चुके है—तो आम जनता से भी ऐसे करों के रूप में कुछ अशदान आना चाहिए जिसका आधार चौड़ा हो। सर्वसाधारण के लिए कराधान मे वृद्धि करने की आवश्यकता, बदले मे कर-प्रणाली में आरोहीपन की ऐसी वृद्धि को सीमित कर देगी जो अन्यथा प्रत्यक्ष व परोक्ष कराधान के उचित परिवर्तनों से सम्भव हो सकती थी।

11. कराधान में न्याय (Equity in Taxation) :—यहाँ पर यह उचित होगा कि हम कर-प्रणाली के भार-वितरण के सम्बन्धित प्रश्न पर एक

ऐसे आधार पर विचार करें जिसकी सम्भवतः सबसे ज्यादा चर्चा की जाती है। इसे न्याय कहते हैं। इस समस्या के लोकप्रिय विवेचनों में भार के वितरण में न्याय अथवा औचित्य को प्रायः कर-प्रणाली का उत्कृष्ट नहीं तो भी एक महत्वपूर्ण मापदण्ड अवश्य माना जाता है, और यह न्याय का सिद्धान्त सरकार के राजकोषीय आधार में विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता रखता है जिससे जनता का मनोबल बना रहता है और उत्पादक प्रयत्न और आर्थिक प्रगति को बढ़ावा मिलता है। लेकिन कर-प्रणाली का शायद ही ऐसा कोई दूसरा गुण हो जिसकी परिभाषा अथवा माप इससे कठिन हो। न्याय की धारणा को प्रारम्भिक रूप से लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि एक सी आर्थिक दशा वाले व्यक्तियों के साथ समान बर्ताव किया जाय। लेकिन लोगों की आर्थिक दशा एवं परिस्थितियों में काफी अंतर पाये जाते हैं जिनकी वजह से इस धारणा को लागू करने से प्राप्त न्याय की मात्रा व्यवहार में ज्यादा व्यापक नहीं होती है। आर्थिक परिस्थितियों में अंतर होने पर यह प्रश्न उठता है कि करों की दृष्टि से क्या भेद किया जाय ताकि न्याय की शर्तें पूरी हो सकें। न्याय की कसौटी का सबसे ज्यादा स्वीकृत प्रयोग सापेक्ष करदेय क्षमता के अनुसार करो को लगाने के सिद्धान्त में देखने को मिलता है। यदि असमान साधनों वाले व्यक्तियों के साथ किये जाने वाले सापेक्ष बर्ताव में न्याय प्राप्त करना है तो करदेय क्षमता स्वयं आरोहीपन के कुछ अंश (Some Degree of Progression) की तरफ इंगित करती है। लेकिन कोई भी ऐसा सिद्धान्त या फार्मूला नहीं है जो आरोहीपन का लगभग ऐसा नमूना प्रस्तुत कर सके जो एक देश की दशाओं के अनुकूल हो। इसके अतिरिक्त आरोहीपन से बचत, विनियोग एवं फलस्वरूप उत्पादन पर पड़ने वाले प्रेरणाहारी प्रभावों (Disincentive effects) पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अत. विभिन्न आय-सीमाओं (Income-ranges) में वांछनीय समझे जाने वाले आरोहीपन की मात्रा एक तरफ करों के प्रयोग से आर्थिक असमानताओं को कम करने के उद्देश्य एवं दूसरी तरफ विनियोग के प्रेरक तत्वों को बनाये रखने एवं उनको सुदृढ़ करने और उत्पादन में वृद्धि करने के उद्देश्य में संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता पर निर्भर करेगी।

12. न्याय की धारणा भ्रम में डालने वाली होती है और यह, [illegible] सम्पूर्ण करप्रणाली के मूल्यांकन में, काफी सापेक्ष भी होती है। एक तो यह आवश्यक है कि न्याय (Equity) पर सम्पूर्ण राजस्व की क्रियाओं में विचार किया जाय, अर्थात् करवाहाता के साथ-साथ सार्वजनिक

व्यय से प्राप्त लाभों के वितरण पर भी विचार किया जाय। दूसरी बात यह है कि कर-प्रणाली के बारे में निर्णय कार्य की उस मात्रा को देखकर किया जाय जो इसे अर्थ व्यवस्था की प्रवृति, आय के वितरण और समाज के सामान्य संगठन के सम्बन्ध में करना है। इन सबकी वजह से सम्पूर्ण कर-प्रणाली में न्याय की आवश्यकताओं के अनुकूल आरोहीपन की न्यूनतम मात्रा को लागू करना असम्भव हो जायगा। किये जाने वाले विकास-व्यय की मात्रा के दिये हुए होने पर, करदेय क्षमता के सिद्धान्त के अनुसार कर-प्रणाली में ज्यादा से ज्यादा परिवर्तन करने पर भी सम्पूर्ण कर-प्रणाली में कोई उल्लेखनीय अंश तक आरोहीपन को प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं होगा। अल्पविकसित देशों के लिए जो अपने आर्थिक विकास की गति को तेज करना चाहते हैं यह आवश्यक होगा कि उनकी कर-प्रणालियाँ करदेय क्षमता के कठोर आधार से कुछ दूर हटें, क्योंकि तभी आर्थिक विकास के लक्ष्य जो उनकी राष्ट्रीय नीतियों में आवश्यक तत्त्व माने जाते हैं, ठीक-ठीक अवधि में प्राप्त किये जा सकेंगे। यद्यपि न्याय की कसौटी को सम्पूर्ण कर-प्रणाली पर उचित ढंग से लागू नहीं किया जा सकता है, लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि कर-प्रणाली के कुछ अंगों में असमानता या अन्याय के विशेष तत्वों को मिटाना सम्भव न हो। सच पूछा जाय तो कर-प्रणाली में न्याय अथवा औचित्य को आगे बढ़ाने की एक आशाजनक दिशा बहुधा यह होती है कि एकसी स्थिति वाले व्यक्तियों पर कर लगाने में अनौचित्य अथवा अन्याय के तत्वों को मिटाया जाय अथवा कम किया जाय। इनके दृष्टान्त वैयक्तिक करों से सम्बन्धित अध्यायों में दिये जायेंगे।

13. विकास-कार्यक्रम के अनुकूल कर-प्रणाली :— इस प्रश्न पर कुछ और विचार करने की आवश्यकता है कि एक देश के विकास-कार्यक्रम के लिए किस किस्म की कर-प्रणाली उपयुक्त होगी, विशेषतया उन साधनों के सदर्भ में जिनकी इसे आवश्यकता होती है। कराधान अपने आप में तो आय में कमी ही लाता है और इस प्रकार निजी उपभोग और विनियोग को भी घटा देता है। लेकिन करों से प्राप्त होने वाली आय सार्वजनिक क्षेत्र को उपलब्ध होती है और सार्वजनिक खर्च यह निर्धारित करता है कि सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों को एक साथ लेने पर राजस्व क्रियाओं (Fiscal Operations) का विशुद्ध प्रभाव उपभोग व विनियोग के दो उद्देश्यों की दृष्टि से समाज की चालू आय के उपयोग को कम करना होता है अथवा बढ़ाना होता है। सामान्यतया उपभोग की प्रवृत्ति निर्धन एवं सघन समुदायों में तीव्र होती है

और परिणामस्वरूप विनियोग मोटा होता है। यह कर-प्रणाली जो कुल मिलाकर विनियोग और बचत के दो पहलुओं की दृष्टि से पूंजी-संचय को बढ़ावा देती है, एक जरूरी आवश्यकता को पूरा करती है, क्योंकि ऐसे समुदायों में पूंजी-संचय की दर में वृद्धि की आवश्यकता सदैव विद्यमान रहती है उपभोग अथवा विनियोग को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सापेक्ष प्राथमिकता आर्थिक स्थिति के साथ बदल सकती है। लेकिन आर्थिक स्थिति के असाधारण मोड़ को छोड़कर, कर-प्रणाली का सामान्य ढांचा उपभोग को नियन्त्रित करके एवं विनियोग व बचत को प्रोत्साहित करके अर्थ-व्यवस्था की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विपरीत होना चाहिए।

14. इस प्रश्न के कई पहलू होते हैं। सर्वप्रथम, कराधान की राशि बहुत कुछ बचत के एक मिले-जुले स्रोत से ही प्राप्त होती है जिसका निर्माण अर्थ-व्यवस्था में उपभोग से ऊपर होने वाले अधिशेष से होता है, और जो सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों के उपयोग के लिए उपलब्ध होती है। कर प्रणाली के लिए बचत को निजी प्रयोग से सार्वजनिक प्रयोग में ले जाना तो अपेक्षाकृत आसान होता है, लेकिन विनियोग के लिए उपलब्ध होने वाली बचत की कुल मात्रा में वृद्धि कर सकना अत्यधिक कठिन होता है। कराधान (निजी) उपभोग और विनियोग दोनों में कमी ला देता है। कराधान निजी क्षेत्र को उपलब्ध होने वाले साधनों में काफी कमी करके सार्वजनिक क्षेत्र को उपलब्ध होने वाले साधनों में वृद्धि कर देता है—इस बात से यह आशय नहीं निकलता है कि ऊंची दरों पर भी कराधान कुल विनियोग में कमी कर देगा। यदि कराधान प्रशासनिक व विकासेतर खर्च में वृद्धि न करके सार्वजनिक विनियोग की मात्रा में वृद्धि कर देता है तो कुल विनियोग इस सीमा तक पहले से अधिक हो जायगा कि कराधान की वजह से निजी विनियोग का परित्याग करने के बजाय उपभोग का परित्याग करके अतिरिक्त सार्वजनिक विनियोग सम्भव हो सका है। सच पूछा जाय तो कराधान, उस अर्थ व्यवस्था में जहाँ उपभोग की प्रवृत्ति सामान्यतया ऊँची होती है, बचत व विनियोग की कुल मात्रा में वृद्धि करने का एक सबसे ज्यादा प्रभावपूर्ण साधन हो सकता है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में पूंजी-संचय में वृद्धि करने का सम्भवतया एक मात्र प्रभावशाली तरीका यह होगा कि राज्य निजी उपभोग से सार्वजनिक विनियोग में साधनों के हस्तान्तरण की बड़ी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कराधान का जो ढांचा इस उद्देश्य के लिए सबसे ज्यादा उपयुक्त और उपयोगी होगा वह प्रत्यक्ष व परोक्ष

कराधान का एक ऐसा कार्यक्रम होगा जिसमें ठीक-ठीक विविधता पाई जायगी और जो उपभोग से सार्वजनिक विनियोग की तरफ भौतिक व वित्तीय साधनों का हस्तान्तरण ऐसे ढंगो एवं पैमाने पर करने का प्रयत्न करेगा जो विकास कार्यक्रम के अनुकूल होंगे। दूसरे शब्दों में, कर-प्रणाली में गहनता व व्यापकता (Depth and range) दोनों पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए तभी विकास की गति तेज की जा सकती है। अत: अनेक किस्म की विलासिता अथवा अर्द्ध-विलासिता की वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगाने के साथ-साथ अपेक्षाकृत नीची दरों पर जन-साधारण के उपभोग की वस्तुओं पर व्यापक ढग से कर लगाने का सुझाव दिया गया है। प्रत्यक्ष कराधान के क्षेत्र में वैयक्तिक आयकर की ऊंची दरों के साथ उस आय पर कुछ छूट दी जानी चाहिए जो बचाई अथवा विनियोजित की जाती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वह कर-प्रणाली जो भारतीय अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी और जिसमें विकास-कार्यक्रम और इसके लिए आवश्यक होने वाले साधनों का ध्यान रखा जायगा, ऐसी होगी जो निजी क्षेत्र में होने वाले विनियोग में यथासम्भव कम से कम कमी करके सार्वजनिक क्षेत्र को उपलब्ध होने वाले विनियोग के साधनों में वृद्धि करेगी। इसी वजह से ऐसी कर-प्रणाली में सभी वर्गों के उपभोग पर यथासम्भव ज्यादा-से-ज्यादा नियंत्रण लगाया जायगा। ऊंची आय वालों के उपभोग पर वास्तव में नीची आय वालों की तुलना में अधिक नियंत्रण लगना चाहिए।

15. यहां इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि केवल विलासिता की वस्तुओं पर ऊँचे कर लगाने से ही पर्याप्त आय नहीं मिल जाती है। वस्तु-कराधान से काफी आय प्राप्त करने के लिए और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में उपभोग पर काफी नियंत्रण करने के लिए यह आवश्यक होगा कि निम्न आयवालों के उपभोग पर और उन वस्तुओं पर जो साधारणतया अनिवार्यताओं के वर्ग में शामिल की जाती हैं (उन अनेक वस्तुओं के सहित जो संविधान की धारा 286 के अन्तर्गत अनिवार्य वस्तु-अधिनियम में शामिल हैं) उत्पादन और बिक्री करों का विस्तार किया जाय। इनमें से कुछ वस्तुएं तो वास्तव में पहले से ही काफी ऊंची दरों पर केन्द्रीय कराधान (Central taxation) के अन्तर्गत आती हैं। इनमें से कुछ इस कठोर अर्थ में अनिवार्य वस्तुएं नहीं हैं कि ये निम्नतम् आयवालों के लिए जीवन-रक्षक अनिवार्यताएं हों। लेकिन मिट्टी के तेल जैसी वस्तुएं उस अर्थ में अनिवार्यताएं हैं, फिर भी उन पर वर्तमान

मय में कर लगा हुआ है। यदि सार्वजनिक विनियोग में पूंजी लगाने के लए साधनों के हस्तान्तरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त करने हैं ो ऐसा प्रतीत होता है कि अनिवार्यताओं पर कराधान का विस्तार नहीं टाला ा सकेगा। इस सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है कि समुदाय के जीवन क लिए आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में संविधान की धारा 286 (3) के द्वारा प्रस्तुत की गई समस्या को हम इसके मूलभूत रूप में देखें। जनसाधारण के द्वारा कुछ अंशदान—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष—के रूप में आर्थिक विकास में पूंजी लगाने एवं सामाजिक सेवाओं के विस्तार के सम्बन्ध में समस्या इस प्रकार है : समुदाय के जीवन के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य या शिक्षा के सुधार अथवा सिंचाई के छोटे साधनों या उत्तम तरीकों से कृषि का आधार सुदृढ़ करने के लिए की गई कुछ अधिक क्रियाएं ज्यादा आवश्यक हैं अथवा अनेक वस्तुओं में से प्रत्येक का सम्पूर्ण वर्तमान उपभोग ज्यादा आवश्यक है ? क्या उस उपभोग का प्रत्येक अंश अनिवार्यतः समानरूप से आवश्यक है ? किसी तरह से यदि यह विकल्पों के बीच चुनाव का मामला बन जाता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए किसी-न-किसी रूप में उपभोग में कुछ कमी को स्वीकार करना क्या वांछनीय त्याग नहीं होगा। यदि उत्तर में हां कहा जाता है तो अनिवार्यताओं को कराधान से मुक्त रखना असंगत माना जायगा। विकास-योजनाओं के लिए धनराशि की आवश्यकता को देखते हुए यदि कर-साधन काफी कम रह जाते हैं और परिणामस्वरूप मुद्रास्फीति हो जाती है तो समाज के सबसे अधिक गरीब वर्गों का चालू उपभोग का स्तर आवश्यक सीमा तक उस स्थिति से भी ज्यादा घट जायगा जब कि अनिवार्यताओं पर कराधान की एक व्यवस्थित योजना लागू होती है। कराधान को सीमित रखने से कीमतों की उस वृद्धि के विरुद्ध कोई गारंटी नहीं मिल जाती है जो विकास-योजनाओं में सामान्य तरीकों से पूंजी न लगा सकने से उत्पन्न होती है। वैसे भी अनिवार्यताओं की श्रेणी में आने वाली कुछ वस्तुओं पर केन्द्रीय सरकार कर लगाती है और केन्द्रीय अधिनियम के अन्तर्गत राज्यों को भी उन पर कराधान का अधिकार है। लेकिन प्रश्न वास्तव में इन अनिवार्य बही आने वाली वस्तुओं पर कराधान के क्षेत्र, सीमा एवं पद्धति का है।

16. कराधान की सीमाएं : करदेय क्षमता :—यहां पर यह प्रश्न उठता है कि कराधान के माध्यम से विकास के लिए साधनों में वृद्धि करने की प्रक्रिया को अर्थव्यवस्था की स्थिरता को खतरे में डाले बिना किस सीमा तक आगे ले जाया जा सकता है ? विकास-कार्यक्रम के लिए जुटाये जा सकने वाले

साधनों के प्रश्न को और फलस्वरूप कराधान की सीमाओं के प्रश्न को प्रायः करदेय क्षमता (taxable capacity) की भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। यह करदेय क्षमता (अ) सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था, (आ) जनसंख्या में विशेष वर्गों, और (इ) कभी-कभी विशेष कर-शीर्षकों के अन्तर्गत अधिकतम् उपयोग के लिए होने वाले क्षेत्र के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अन्तिम पहलू पर वैयक्तिक करों के सन्दर्भ में विचार करना होगा, इसीलिए सम्बन्धित अध्यायों में उनका विवेचन किया गया है। दो और पहलुओं की संक्षेप में यहां चर्चा की गई है। न्याय (equity) की तरह करदेय क्षमता की धारणा भी सापेक्ष ही है। सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण आर्थिक अर्थ में, समाज के विभिन्न वर्गों की करदेय क्षमता, मोटे तौर से, कराधान के उस अंश को द्योतक होती है जिसके परे उत्पादक श्रम और कार्यकुशलता में समग्र रूप से ह्रास होने लगता है। आर्थिक सीमाएं राजनीतिक सीमाओं से मर्यादित होती हैं और ये प्रायः जल्दी ही आ जाती हैं, विशेषतया उन समुदायों में जहां सबसे ज्यादा विस्तृत मताधिकार की दशा में लोकतांत्रिक आधार पर काम होता है। कुछ परिस्थितियों में इन दोनों सीमाओं पर प्रशासनिक दृष्टिकोण से मर्यादा लग जाती है। इन दृष्टिकोणों का लागू करने की समस्या (Problem of enforcement) से सम्बन्ध होता है।

17. सम्पूर्ण कर-प्रणाली के प्रश्न पर विचार करते समय करों से प्राप्त कुल आय का राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में महत्त्व हो जाता है। भारत में करों में प्राप्त होने वाली आय राष्ट्रीय आय के सात से आठ प्रतिशत के बीच में ही है; और यह अनुपात कई अन्य देशों से जिनमें दक्षिणी-पूर्वी एशिया के कुछ देश भी शामिल हैं, कम है। कुछ लोगों का यह सुझाव है कि यह उन विशाल सम्भावनाओं की सूचक है जो करदेय क्षमता की सीमाओं के आने से पूर्व अतिरिक्त कराधान के लिए विद्यमान होती है। लेकिन कुछ लोग उलटा निष्कर्ष इस तरह निकालते हैं कि करदेय क्षमता समाप्त हो चुकी है और अतिरिक्त कराधान के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह गई है। यहां पर जो प्रश्न उठाये गये हैं वे केवल सैद्धान्तिक महत्त्व के ही नहीं हैं बल्कि व्यावहारिक पहलू भी रखते हैं, इसलिए इस देश में करों से प्राप्त आय का राष्ट्रीय आय के इतने नीचे प्रतिशत के रूप में होना एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता बतलाता है।

18. कुल कराधान राष्ट्रीय आय का बहुत नीचा अनुपात होना है —इसका एक मूलकारण लोगों का मामूली जीवन-स्तर है जो प्रति व्यक्ति नीची

आय से भरतना है। इससे समुदाय के अधिकांश व्यक्तियों के करापात पर कठोर सीमा लग जाती है। बशर्ते कि उपभोग के चालू मितव्ययी स्तरों को नहीं गिराया जाता है। बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था में एक ऐसे क्षेत्र के होने से जिसमें मुद्रा का प्रयोग नहीं होता है, करापात के प्रचलित रूपों के माध्यम से करों की आय में वृद्धि करना कठिन हो जाता है। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय आय का नीचा अनुपात होता है जो अर्थव्यवस्था के उसी लक्षण का दूसरा पहलू होता है। यह बड़े पैमाने के ऐसे व्यापारिक क्षेत्र के दायरे को सीमित कर देता है जिससे करापात प्राप्त करना सुगम होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी देश में अतिरिक्त करापात के क्षेत्र के सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रत्यक्ष निष्कर्ष, जो अधिक विकसित देशों के ऐसे ही अनुपातों से की जाने वाली तुलनाओं पर आश्रित होते हैं, अनुपयुक्त होते हैं।

19. लेकिन प्रश्न यह रह जाता है कि यह अनुपात करदेय क्षमता की सीमा के आजाने का सूचक है अथवा इसमें वृद्धि की सम्भावना का। इससे हम सम्पूर्ण प्रणाली के सन्दर्भ में करदेय क्षमता के अध्ययन पर आजाते हैं। यदि कर इसलिए लगाये गये थे कि समाज उन कामों को सामूहिक रूप से करे जिनको पहले करदाता व्यक्तिगत रूप से करते थे और यदि करों और उनकी वजह से सम्भव होने वाले लाभप्रद खर्च के बीच काफी अंश तक मेल होता है तो करदेय क्षमता की सीमा अपेक्षाकृत ऊँची होगी। बहुधा यह देखा जाता है कि करों एवं इनसे प्राप्त लाभों के बीच सम्बन्ध न तो प्रत्यक्ष होता है और न स्पष्ट होता है और प्राप्त लाभों को स्पष्टतया समझा भी नहीं जाता है। यदि ऐसे लाभ वास्तव में करों से प्राप्त होते हैं, अर्थात् यदि करों से प्राप्त आय वास्तव में सामाजिक सेवाओं के विस्तार और आर्थिक विकास में प्रयुक्त की जाती है और इस बात को स्पष्टत. समझा भी जाता है तो करदेय क्षमता अधिक होगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि करदेय क्षमता की सीमा का उन उद्देश्यों से सम्बन्ध होता है जिन पर अतिरिक्त करों की आय खर्च की जाती है चूंकि ऐसी सीमा के निर्धारण में आर्थिक दृष्टिकोण के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक व राजनीतिक दृष्टिकोण भी मिले हुए होते हैं, इसलिए उस हद तक यह सीमा लोगों की उस समझ-बूझ पर भी निर्भर करती है जो उन्हें सरकार के द्वारा निर्मित विकास-योजनाओं के लिए होती है। प्रशासन की कुशलता एवं सार्वजनिक खर्च में मितव्ययिता जो सार्वजनिक कोषों के अधिक प्रभावपूर्ण उपयोग को सफल बनाते हैं और करों से प्राप्त आय के

विनियोग पर उत्तम प्रतिफल उपलब्ध कराते है, ये दोनों कम-से-कम इतना तो भावश्य कर सकेंगे कि लोगों की कर-भार की वृद्धि को सहन करने की अनिच्छा कम हो जाय।

20. प्रशासनिक कुशलता का दूसरा पहलू जिसका करावान की सीमाओं पर प्रभाव पड़ता है वह करो के दायित्वों को समान रूप से लागू करना है। जब लोगों को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि करों की व्यापक रूप से चोरी हो रही है तो उनका मनोबल कम हो जाता है, ईमानदार कर-दाता के द्वारा करों को चुकाने पर भारी दबाव पड़ता है और इससे निस्सदेह करदेय क्षमता को क्षति पहुचती है। कुल मिलाकर यह कहना गलत न होगा कि कमजोर व अलोकप्रिय नीतियो एव अप्रभावपूर्ण शासन से करदेय क्षमता का ह्रास होता है और परोपकारी व कुशल प्रशासन से इसमें वृद्धि होती है। भारत में सार्वजनिक खर्च परोपकारी खर्च की ओर उत्तरोत्तर बढ रहा है लेकिन उतनी ही निश्चितता से हम यह नही कह सकते कि यह मितव्ययिता एवं कार्यकुशलता की तरफ भी बढ रहा है। फिर भी भारतीय सार्वजनिक खर्च की सामाजिक व विकास-सेवाओ की तरफ बढ़ती हुई प्रवृत्ति करदेय क्षमता की सीमा को आगे बढ़ाने मे मदद दे रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार के प्रति जो एकत्व और उत्तरदायित्व की भावना का उदय हुआ है वह भी उसी दिशा मे क्रियाशील हो रहा है। अतः हमे इस बात का तो भरोसा है कि करदेय क्षमता मे वृद्धि हुई है लेकिन तथ्य यह है कि करों से प्राप्त आय राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप मे युद्ध-पूर्व काल की तुलना मे बिलकुल भी परिवर्तित नहीं हुई है। इसके लिए वास्तव मे कई कारण दिये जा सकते हैं। आगामी अध्यायो में वैयक्तिक करों का विवेचन करते समय हम इस पर सविस्तार चर्चा करेंगे लेकिन यहाँ पर यह बतलाना उचित होगा कि इस मत का एक धारणात्मक पक्ष है कि भारतीय कराधान (Indian Taxation) अपने वर्तमान ढाचे और दरों के आधार पर देश के करदेय साधनों का पूर्ण विदोहन नहीं कर पाया है। जब इस पर अतिरिक्त साधनों की विशाल आवश्यकता के सन्दर्भ में विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय कराधान मे थोडी वृद्धि करना न्यायोचित ही होगा।

21. कराधान और उधार (Taxation and Borrowing):—इस दृष्टिकोण पर इस बात को लेकर आपत्ति उठाई जा सकती है कि कराधान का उपयोग तो चालू खाते में बजट को संतुलित करने के उद्देश्य से ही किया जाना चाहिए और बजट के पूंजीगत भाग की पूर्ति पूर्णतया उधार से ही की

आय से झलकता है। इससे समुदाय के अधिकांश व्यक्तियों के करारोपण पर कठोर सीमा लग जाती है। बशर्ते कि उपभोग के चालू निम्नस्तरीय स्तरों को नहीं गिराया जाता है। बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था में एक ऐसे क्षेत्र के होने से जिसमें मुद्रा का प्रयोग नहीं होता है, करारोपण के प्रचलित करों के माध्यम से करों की आय में वृद्धि करना कठिन हो जाता है। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय आय का सीमा अनुपात होता है जो अर्थव्यवस्था के उसी लक्षण का दूसरा पहलू होता है। यह बड़े पैमाने के ऐसे व्यापारिक क्षेत्र के दायरे को सीमित कर देता है जिससे करारोपण प्राप्त करना सुगम होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी देश में अतिरिक्त करारोपण के क्षेत्र के सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रत्यक्ष निष्कर्ष, जो अधिक विकसित देशों के ऐसे ही अनुपातों से की जाने वाली तुलनाओं पर आधारित होते हैं, अनुपयुक्त होते हैं।

19. लेकिन प्रश्न यह रह जाता है कि यह अनुपात करदेय क्षमता की सीमा के आजाने का सूचक है अथवा इसमें वृद्धि की सम्भावना का। इससे हम सम्पूर्ण प्रणाली के सन्दर्भ मे करदेय क्षमता के अध्ययन पर आजाते हैं। यदि कर इसलिए लगाये गये थे कि समाज उन कामों को सामूहिक रूप से करे जिनको पहले करदाता व्यक्तिगत रूप से करते थे और यदि करों और उनकी वजह से सम्भव होने वाले लाभप्रद खर्च के बीच काफी अंश तक मेल होता है तो करदेय क्षमता की सीमा अपेक्षाकृत ऊँची होगी। बहुधा यह देखा जाता है कि करों एवं इनसे प्राप्त लाभों के बीच सम्बन्ध न तो प्रत्यक्ष होता है और न स्पष्ट होता है और प्राप्त लाभों को स्पष्टतया समझा भी नहीं जाता है। यदि ऐसे लाभ वास्तव मे करों से प्राप्त होते हैं, अर्थात् यदि करों से प्राप्त आय वास्तव में सामाजिक सेवाओं के विस्तार और आर्थिक विकास में प्रयुक्त की जाती है और इस बात को स्पष्टतः समझा भी जाता है तो करदेय क्षमता अधिक होगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि करदेय क्षमता की सीमा का उन उद्देश्यों से सम्बन्ध होता है जिन पर अतिरिक्त करों की आय खर्च की जाती है चूँकि ऐसी सीमा के निर्धारण में आर्थिक दृष्टिकोण के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक व राजनीतिक दृष्टिकोण भी मिले हुए होते हैं, इसलिए उस हद तक यह सीमा लोगों की उस समझ-बूझ पर भी निर्भर करती है जो उन्हें सरकार के द्वारा निर्मित विकास-योजनाओं के लिए होती है। प्रशासन की कुशलता एवं सार्वजनिक खर्च में मितव्ययिता जो सार्वजनिक कोषों के अधिक प्रभावपूर्ण उपयोग को सफल बनाते हैं और करों से प्राप्त आय के

विनियोग पर उत्तम प्रतिफल उपलब्ध कराते हैं, ये दोनों कम-से-कम इतना तो भ्रवश्य कर सकेंगे कि लोगों की कर-भार की वृद्धि को सहन करने की भ्रनिच्छा कम हो जाय।

20. प्रशासनिक कुशलता का दूसरा पहलू जिसका करावान की सीमाओं पर प्रभाव पड़ता है वह करों के दायित्वों को समान रूप से लागू करना है। जब लोगों को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि करों की व्यापक रूप से चोरी हो रही है तो उनका मनोबल कम हो जाता है, ईमानदार कर-दाता के द्वारा करों को चुकाने पर भारी दबाव पड़ता है और इससे निस्सन्देह करदेय क्षमता को क्षति पहुंचती है। कुल मिलाकर यह कहना गलत न होगा कि कमजोर व अलोकप्रिय नीतियों एवं अप्रभावपूर्ण शासन से करदेय क्षमता का ह्रास होता है और परोपकारी व कुशल प्रशासन से इसमें वृद्धि होती है। भारत में सार्वजनिक खर्च परोपकारी खर्च की ओर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है लेकिन उतनी ही निश्चितता से हम यह नहीं कह सकते कि यह मितव्ययिता एवं कार्यकुशलता की तरफ भी बढ़ रहा है। फिर भी भारतीय सार्वजनिक खर्च की सामाजिक व विकास-सेवाओं की तरफ बढ़ती हुई प्रवृत्ति करदेय क्षमता की सीमा को आगे बढ़ाने में मदद दे रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार के प्रति जो एकत्व और उत्तरदायित्व की भावना का उदय हुआ है वह भी उसी दिशा में क्रियाशील हो रहा है। अतः हमें इस बात का तो भरोसा है कि करदेय क्षमता में वृद्धि हुई है लेकिन सत्य यह है कि करों से प्राप्त आय राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में युद्ध-पूर्व काल की तुलना में बिलकुल भी परिवर्तित नहीं हुई है। इसके लिए वास्तव में कई कारण दिये जा सकते हैं। आगामी अध्यायों में वैयक्तिक करों का विवेचन करते समय हम इन पर सविस्तार चर्चा करेंगे लेकिन यहाँ पर यह बतलाना उचित होगा कि इस मत का एक धारणात्मक पक्ष है कि भारतीय करारोपण (Indian Taxation) अपने वर्तमान ढाँचे और दरों के आधार पर देश के करदेय साधनों का पूर्ण विदोहन नहीं कर पाया है। जब इस पर अतिरिक्त साधनों की विशाल आवश्यकता के सन्दर्भ में विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय करारोपण में थोड़ी वृद्धि करना न्यायोचित ही होगा।

21. करारोपण और उधार (Taxation and Borrowing):—इस दृष्टिकोण पर इस बात को लेकर आपत्ति उठाई जा सकती है कि करारोपण का उपयोग तो चालू खाते में बजट को संतुलित करने के उद्देश्य से ही किया जाना चाहिए और बजट के पूंजीगत भाग की पूर्ति पूर्णतया उधार से ही की

जानी चाहिए न कि बजट-अतिरेक से (Budgetary Surplus)। उपर्युक्त शर्तरहित कथन का समर्थन करना कठिन है। चालू और पूंजीगत खर्च ऐसी श्रेणियों में नहीं आते हैं जिनमें इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त मात्रा में स्पष्टतया अंतर किया जा सके। वे अतिरेक जिनके जरिए करापान से पूंजीगत खर्च की पूर्ति की जा सकती है और वे घाटे जिनके जरिए उधार से चालू खर्च की पूर्ति की जा सकती है—ये दोनों अपने अपने क्षेत्र में आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने में निश्चित स्थान रखते हैं। सार्वजनिक खाते के अन्तर्गत विनियोग या निवेश में पूंजी लगाने के लिए बजट-अतिरेक का प्रयोग करना सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत नहीं होगा। यही नहीं बल्कि दूसरे देशों का अनुभव तो निश्चित रूप से यह बतलाता है कि कुछ दशाओं में इसका उपयोग वित्त के एक सुगम साधन के रूप में किया गया है। यदि युद्धोत्तर काल में कई देशों के पुनर्निर्माण एवं विकास-कार्यों में पूंजी लगाने के लिए चालू बजटों के अतिरेकों का उपयोग नहीं किया जाता, तो इस काल में उनकी अर्थ-व्यवस्थाओं में निजी एवं सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के प्रतियोगी उपभोग एवं विनियोग-मांग के फलस्वरूप गम्भीर किस्म के विपरीत परिवर्तन आ जाते। एक विशाल विकास-कार्यक्रम में पूंजी लगाने की दृष्टि से उनके अनुभव का बड़ा महत्त्व है। इसने हमें यह बतलाया है कि ऐसे कार्यक्रम की मुद्रास्फीति-कारी सम्भावना को राजस्व खाते (Revenue Account) में ठीक ढंग का बजट-अतिरेक दिखाकर ही परिसीमित किया जा सकता है।

22. अब हम राजस्व और पूंजी खातों के अंतर के आधार पर विचार करेंगे। प्रचलित रूप में इसका आधार स्पष्ट नहीं है क्योंकि किसी भी दशा में पूंजी खाता वित्तीय दृष्टि से उन उत्पादक कार्यक्रमों तक ही सीमित नहीं रहता है जिनके लिए ऋण-परिशोध (amortisation) की साधारण पद्धति एवं उधार पूंजी निस्संदेह उपयुक्त होते हैं। विकास-खर्च के जो कार्यक्रम पूंजी बजटों में दिखाये जाते हैं उनमें सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा आदि सामाजिक सेवाओं के विकास के लिए किये जाने वाले खर्च का भी कुछ अनुपात होता है। उसमें शामिल किये जाने वाले विकास के कार्यक्रम भी यद्यपि उत्पादक कुशलता को बढ़ाने के इरादे से रखे जाते हैं और इसी वजह से वे काफी लाभप्रद भी होते हैं, लेकिन कठोर वित्तीय अर्थ में वे सभी उत्पादक नहीं होते हैं। हमें इस बात में कोई संशय नहीं है कि ऐसे कार्यक्रम के कम से कम एक अंश के लिए कराधान का उपयोग अवश्य किया जाना चाहिए।

23. पूंजीगत खर्च की वित्तीय व्यवस्था के लिए कराधान के प्रयोग के विपक्ष में हमारे समक्ष जो बयान दिये गये हैं उनमें बहुधा यह तर्क रखा गया है कि भावी पीढ़ियों को लाभ पहुँचाने के लिए विकास-कार्यक्रमों की सम्पूर्ण लागत को कराधान के जरिये वर्तमान पीढ़ी पर लादना न्यायोचित नहीं होगा। इस तर्क में यह पुराना भ्रम छिपा हुआ है कि विकास की चालू लागत का एक अंश भावी पीढ़ी पर खिसकाया जा सकता है। विनियोग के एक विस्तृत कार्यक्रम के सम्बन्ध में वास्तविक साधनों के रूप में, लागत को स्थगित कर सकने का कोई रास्ता नहीं है : इस कार्यक्रम में तो चालू उपभोग के लिए समाज को उपलब्ध होने वाले साधनों में से यहीं पर कटौती हो जाती है। अतः कराधान और उधार के सापेक्ष उपयोग की समस्या का सम्बन्ध वर्तमान और भविष्य के बीच भार के वितरण की समस्या का प्रश्न नहीं है बल्कि वर्तमान समय में विनियोग-कार्यक्रम की लागत को पूरा करने की उपयुक्त विधि का प्रश्न है। इस प्रश्न से सम्बन्धित निर्णय केवल विनियोग-कार्यक्रम के द्वारा डाले जाने वाले भार के उस वितरण को निर्धारित करता है जो समुदाय के अन्दर होता है। लेकिन सम्पूर्ण समुदाय के लिए तो यह भार वास्तविक रूप में वर्तमान में ही वहन करना होता है।

24. हमारा यह सुझाव नहीं है कि सम्पूर्ण विकास-कार्यक्रम के लिए वित्तीय व्यवस्था करों से की जाय। अन्य दृष्टिकोणों के साथ-साथ मिश्रित अर्थव्यवस्था की दशाओं में ऐसा करना बहुत ही अवास्तविक माना जायगा। हम यह स्वीकार करते हैं कि ऋणों (loans) का विकास-सम्बन्धी वित्त में एक महत्वपूर्ण स्थान होता है और योजना आयोग ने पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था के लिए जो कार्यक्रम तैयार किया है उसमें भी इस बात को स्वीकार किया है। यहां पर हम केवल यही बतलाना चाहेंगे कि बजट-अतिरेकों से विकास के एक अंश के लिए वित्त की व्यवस्था करना विकास सम्बन्धी वित्त का एक उचित रूप ही है, और इससे समुदाय के चालू उपभोग पर उस स्थिति की अपेक्षा अधिक वास्तविक भार नहीं पड़ता है यदि इतनी ही राशि सार्वजनिक ऋण से प्राप्त की जाती है।

25. घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) :—विकास कार्यक्रम में पूंजी लगाने की एक विधि घाटा उठाकर वित्तीय व्यवस्था करना भी है। घाटे की वित्त-व्यवस्था पर विचार करते समय यह प्रश्न सामने आता है कि इसका उपयोग मुद्रा-स्फीति उत्पन्न किये बिना कहां तक हो सकता है, और इसीलिए यह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष करों में वृद्धि करने के एक निस्संदेह अधिक

विकल्प को टालने में किस सीमा तक प्रयुक्त हो सकता है। घाटे की वित्त-व्यवस्था की उचित मात्रा पर विचार करते समय एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात यह सामने आती है कि सामान्य आर्थिक दशा में मुद्रा-स्फीति के दबावों की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के चिन्ह पहले से कहां तक विद्यमान हैं। यदि सामान्य रूप में मुद्रा-स्फीति के दबावों का अस्तित्व नहीं है और यदि कुछ अपस्फीतिकारी चिन्ह दिखाई देते हैं तो सुरक्षित रूप से की जा सकने वाली घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा उस स्थिति की तुलना में अधिक होगी जब कि प्रत्येक दिशा की तरफ ले जाने वाले तत्वों में ज्यादा समान रूप से संतुलन पाया जाता है। यह मानना तो सही नहीं होगा कि सम्पूर्ण घाटे की वित्त-व्यवस्था से मुद्रा-स्फीति ही होगी क्योंकि हमें इसकी मात्रा अथवा उन परिस्थितियों पर भी ध्यान देना होगा जिनमें इसका उपयोग किया जाता है। लेकिन ऐसा कोई फार्मूला नहीं है जिसके द्वारा घाटे की वित्त-व्यवस्था की ठीक मात्रा निर्धारित की जा सके; यह तो अन्ततः एक निर्णय का ही विषय है। जिस सीमा तक घाटे की वित्त-व्यवस्था से मुद्रा-स्फीति होती है उस सीमा तक इसको अपनाने में कुछ खतरा होता है और हम इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक अध्याय VI में विचार कर चुके हैं। यहां हम इस बात पर बल देना चाहेंगे कि कर-प्रणाली को इस तरह से जचाना होगा कि यदि घाटे की वित्त-व्यवस्था से कभी खतरे उत्पन्न हों तो वह उनका मुकाबला कर सके। कर-प्रणाली को इस उद्देश्य के लिए किस तरह से अनुकूल बनाया जाय—इस पर हम आगे चलकर इसी अध्याय में विचार करेंगे। लेकिन हम अपने इस मत को पुनः दोहराना चाहेंगे कि अर्थव्यवस्था की वर्तमान प्रवृत्तियों और प्रचलित दशाओं की रोशनी में घाटे की वित्त-व्यवस्था की एक साधारण मात्रा अर्थव्यवस्था को क्षति नहीं पहुंचायेगी।

26. विकास के लिए अन्य साधन —उपर्युक्त विवेचन का सम्बन्ध विकास कार्यक्रम में पूंजी लगाने के कुछ वैकल्पिक साधनों से रहा है। हमने अभी तक करेतर (non-tax) आय के विस्तार की सम्भावनाओं पर विचार नहीं किया है। हम इसका विवेचन अन्यत्र करेंगे। हमारे विवेचन में विदेशी पूंजी की वृद्धि की सम्भावनाओं का भी उल्लेख नहीं आया है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर हमारे पास आवश्यक तथ्य नहीं हैं और यह हमारे विचारणीय विषयों में भी नहीं है। इस विवेचन में दो और स्रोतों के महत्व का उल्लेख नहीं किया गया है —एक तो करों की चोरी व करों के बचाने को रोकना और दूसरे अर्थ में मितव्ययिता व अभिनवीकरण करना। हमने इन विषयों पर कुछ विस्तार से अन्यत्र इसी रिपोर्ट में विचार किया है।

27. बचत और विनियोग के लिए प्रेरणा प्रदान करने का दृष्टिकोण (Approach to Incentives for savings and investment) :— हमने अभी तक कर-नीति की समस्याओं का आय व धन की असमानताओं को कम करने के सन्दर्भ में विचार किया है। यह न्याय और करदेय क्षमता की धारणाओं और करों की आय को शामिल करते हुए सार्वजनिक आय में वृद्धि करके विकास के लिए वित्तीय व्यवस्था करने की दृष्टि से अनुकूल है। अब हम कर-प्रणाली के उन प्रभावों का उल्लेख करेंगे जो बचत व विनियोग के विशेष सन्दर्भ में निजी क्षेत्र की प्रेरणाओं पर पड़ते हैं।

28. अब तक का हमारा विश्लेषण स्पष्टतया इस बात की आवश्यकता को बतलाता है कि भारतीय कर-प्रणाली का क्षेत्र अधिक गहन व व्यापक होना चाहिए। इसका आशय यह है कि प्रत्यक्ष व परोक्ष कराधान दोनों में वृद्धि होनी चाहिए। वस्तु-कराधान की वृद्धि तो निश्चित रूप से उपभोग को प्रभावित करती है और प्रत्यक्ष करों के आरोहीपन की वृद्धि बचत व विनियोग को प्रभावित कर सकती है। हम निश्चित रूप से ऐसे कराधान के पक्ष में हैं जो भारत में, विशेषतया ऊँची आय वाले व्यक्तियों के, उपभोग के स्तरों को कम करेगा। इस देश में इस समय उपभोग के स्तरों में जो असमानता पाई जाती है वह आसानी से देखी जा सकती है और इसमें कोई संदेह नहीं कि इसका देश के विशाल श्रमिक-वर्ग पर, जहाँ तक उनकी अधिक कर-भार स्वीकार करने और फिर भी अधिक मेहनत से काम करने की इच्छा का प्रश्न है, अनैतिक प्रभाव ही पड़ता है। ऊँचे कराधान से ऊँची आय वालों की काम करने की इच्छा पर जो प्रेरणा के प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है उसको प्रायः बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है। ऊँची आय वाले व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे भौतिक प्रतिफल की उन कमियों के अनुसार अपने आपको ढाल लें जो देश की बदलती हुई सामाजिक व आर्थिक दशाओं में आवश्यक बन गई हैं। एक ऐसे समय में जब कि कर-प्रणाली नीची आय वालों से (जो देश के जन-समुदाय में माने जाते हैं) उनकी स्वल्प आय का बढ़ता हुआ हिस्सा देने के लिए कहती है, ऊँची आय वालों पर आय-कर के आरोहीपन के प्रेरणा के विपरीत जाने वाले प्रभावों पर जोर देना असामयिक माना जायगा। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि वर्तमान समय की कर की अपेक्षाकृत ऊँची दरों पर भी थोड़े से व्यक्तियों की और अनेक व्यक्ति[illegible] के बाद की व्यय योग्य आय (Disposable Income) में असमानता [illegible] से ज्यादा है जहाँ ऊँची आमदनियों पर कराधान

की दरें वास्तव में नीची पाई जाती हैं। प्रति व्यक्ति अथवा प्रति परिवा राष्ट्रीय आय के एक उचित गुणन (Multiple) के आधार पर वैयक्ति आमदनियों पर सीमा-निर्धारण के प्रश्न पर हमने काफी विचार किया और हमारा मत है कि कर के बाद अवशेष (Net) रहने वाली वैयक्ति आमदनियों पर सीमा लगनी चाहिए जो सामान्यतया देश में पाई जाने वाल प्रति परिवार औसत आय के लगभग 30 गुने से अधिक न हो। हमारा य कहना नहीं है कि यह तुरन्त ही लागू करने के लायक है बल्कि हम तो य सोचते हैं कि इसको लागू करने के लिए एक अवधि तक धीरे-धीरे प्रया करना होगा। कर-परिवर्तन से ही इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो जायग बल्कि इसका सम्बन्ध तो कई दिशाओं में अपनाये जाने वाले एक एकीकृ दृष्टिकोण से है। इस दृष्टिकोण का सबसे महत्वपूर्ण पहलू वह होगा जिस आर्थिक विकास की गति तेज हो जायगी और रोजगार व उत्पादन के अवस बढ़ जायेंगे। इसमें राजस्व नीति का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। लेकि इस पर किसी भी दिये हुए समय में आर्थिक परिस्थितियों और प्राप्त कर की व्यावहारिक सम्भावनाओं का प्रभाव पड़ता है।

29. दृष्टिकोण इस अर्थ मे वास्तविक होना चाहिए कि कर-प्रणा पर इस सीमा तक दबाव नहीं डाला जाय कि देश की उत्पादन व्यवस्था खतरे में पड़ जाय अथवा निजी क्षेत्र में बचत और विनियोग को प्रभावि करके इसके विस्तार की सम्भावनाओं को ही नष्ट कर दे। इसीलिए हम आयकर प्रणाली में आवश्यक प्रेरणाओं का सुझाव देकर बचत और विनियो में वृद्धि करने के महत्व पर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है। विशेषत हमने औद्योगिक विस्तार को प्रोत्साहन देने के लिए करों में रियायतें देने सुझाव दिया है। उन सीमित कोषों का अधिकतम उपयोग करने के लि जो इस उद्देश्य के लिए उपलब्ध किये जा सकते हैं, और इस आशा से उत्पादन की विशिष्ट दिशाओं में रियायतों को केन्द्रित करके अधिकतम प्रभ शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त किये जा सकें, हमने औद्योगिक क्षेत्र के लिए सुझाई कर-सम्बन्धी रियायतों को लागू करने में चुनाव के सिद्धान्त (Selecti Principle) को अपनाने की सिफारिश की है। हमने वे उपाय भी सुझाये जिनको अपनाने से विनियोग के लिए उपलब्ध किये गये कोषों का अ सम्भव इसी उद्देश्य के लिए उपयोग किया जा सकेगा। हमारे प्रस्तावों से विनियोग को बढ़ावा मिलेगा, चाहे वह निगमित (Corporate) क्षेत्र में वि जाय अथवा गैर-निगमित क्षेत्र में और इसमें वैयक्तिक और स्वामित्व

(Proprietary) संस्थान शामिल होंगे। इन विषयों पर हमारी विस्तृत सिफारिशें इस रिपोर्ट के दूसरे खण्ड के सम्बन्धित अध्यायों में दी गई हैं।

30. हमारे विचारणीय विषयों के सन्दर्भ में कर-नीति को प्रभावित करने वाली महत्वपूर्ण बातों पर सोच-विचार करने के बाद अब हम कर-नीति की एक-दो ऐसी विशेषताएं लेंगे जिनकी चर्चा अनेक प्रतिनिधियों ने हमारे समक्ष की है।

31. **प्रत्यक्ष व परोक्ष कर:**—कर-प्रणाली के ढांचे पर विचार करते समय प्रायः एक प्रश्न यह उठाया गया है कि कर-प्रणाली में प्रत्यक्ष व परोक्ष करों का सापेक्ष स्थान क्या हो और यह विशेषतया उन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए जिनका इस अध्याय के प्रथम भाग में विवेचन किया गया है। यहाँ पर यह कहना आवश्यक नहीं होगा कि समग्र रूप से प्रत्यक्ष व परोक्ष करों के किसी विशेष अनुपात का कोई विशेष महत्व नहीं होता है। यदि हम कर-प्रणाली से ज्यादा आय प्राप्त करना चाहते हैं तो यह काफी स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर की ऊँची दरें और करों का अधिक विस्तृत क्षेत्र दोनों समान रूप से आवश्यक हैं और आय की वृद्धि प्रत्यक्ष व परोक्ष करों पर फैली हुई होनी चाहिए। परिणाम के अन्दर प्रत्यक्ष व परोक्ष करों की सापेक्ष स्थिति में परिवर्तन आ सकता है। मोटे तौर से ऐसा प्रतीत होता है कि आयकर के अन्तर्गत प्रत्यक्ष कराधान में (और आगे चल कर मृत-सम्पत्ति करों में) वृद्धि कर देने के बावजूद भी (जिसे अतिरिक्त साधनों की छान-बीन में प्राथमिकता दी जानी चाहिए), परोक्ष कराधान पर भी निर्भर रहना होगा और इसके लिए प्रमुखतया केन्द्रीय उत्पादन करों व राज्यीय बिक्री करों में और विस्तार करना होगा। करों की आय को बढ़ाने की जितनी अधिक आवश्यकता होगी इस वृद्धि को प्राप्त करने के लिए परोक्ष करों के महत्व के बढ़ने की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी। करेतर आय (non tax revenues) जिसमें राजकीय व्यापारिक उपक्रमों की आय भी शामिल है, कुछ अर्थों में परोक्ष करों से मिलती-जुलती होती है और इसमें उसी तरह से वृद्धि भी की जा सकती है, हालांकि इस क्षेत्र में वृद्धि करना सामान्य परोक्ष कराधान की स्थिति की तुलना में ज्यादा कठिन होता है।

32. **कराधान में एकरूपता (Uniformity in taxation)**:—हमसे बार बार एक प्रश्न पूछा गया है जिसका सम्बन्ध राज्यीय क्षेत्र में (और कभी कभी स्थानीय क्षेत्र में भी) लगने वाले अनेक करों के सम्बन्ध में ज्यादा

व दरों में एकरूपता लाने की वांछनीयता से रहा है। हम यहाँ इस प्रश्न के सम्बन्ध में अपना सामान्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे और इसका विस्तार सहित उल्लेख वैयक्तिक करों के विवरण में दिया जायगा। हमारा ऐसा विचार है कि एकरूपता प्राप्त करने के प्रयत्न इसकी ऐसी न्यूनतम सीमा को प्राप्त करने तक ही सीमित रखे जाँय जो साधनों के सर्वोत्तम आवंटन को बनाये रखने एवं व्यापारिक व व्यावसायिक क्रिया को अवांछित दिशा में जाने से रोकने के लिए आवश्यक हों। लेकिन ऐसा करते समय वित्तीय मामलों में राज्यों की आवश्यक स्वायत्तता कम न होने पाये। यह स्वायत्तता उन जिम्मेदारियों से मेल खाती है जो संविधान के अन्तर्गत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं कुछ सीमा तक आर्थिक मामलों में उन पर आती हैं। इस स्थिति में मूलभूत परिवर्तन लाने के लिए कर-प्रणाली की नैमित्तिक सहायता (Adventitious aid) लेना उचित नहीं होगा।

33. **करों से प्राप्त आय के उपयोग को निर्धारित कर देना (Earmarking of tax receipts)** :—अब हम एक दूसरा सामान्य प्रश्न लेते हैं जो हमारे समक्ष अनेक प्रतिनिधियों ने उठाया है। इसका सम्बन्ध विशिष्ट करों एवं उपकरों (cesses) से प्राप्त आय को विशेष उद्देश्यों के लिए निर्धारित करने के औचित्य से है। खादी व हाथ करघा उद्योगों के लाभ के लिए मिल के कपड़े पर लगाये गये उपकर की काफी आलोचना की गई है, विशेषतया मिल उद्योग के प्रतिनिधियों के द्वारा। विभिन्न उद्देश्यों के लिए विभिन्न उपकरों के अलावा करों से प्राप्त आय के उपयोग को निर्धारित करने के अन्य दृष्टान्त भी मिलते हैं जिनमें से कुछ काफी पुराने हैं, उदाहरणार्थ पेट्रोल पर आयात व उत्पादन कर से प्राप्त आय के एक अंश को केन्द्रीय सड़क कोष में ले जाना और इसी प्रकार बम्बई राज्य के द्वारा लगाये गये पेट्रोल के अतिरिक्त कर की आय को सड़क निर्माण व विकास की तरफ ले जाना। ग्रामीण तेल उद्योग के लाभ के लिए मिल के तेल पर उपकर लगाने की सम्भावना का भी जिक्र किया गया है।

34. सर्वप्रथम, इस विषय के सन्दर्भ में 'उपकर' शब्द का प्रयोग बहुत कुछ निश्चित नहीं है। जैसे जो साधारणतया मिल में बने कपड़े पर उपकर माना जाता है और हमने भी जिसे उपकर ही कहा है वह इस कर को लागू करने वाले नियम में अतिरिक्त उत्पादन-कर ही माना जाता है। यह वर्णन ज्यादा उपयुक्त है क्योंकि यह मोटे व मध्यम श्रेणी के कपड़े पर पहले के कर में काफी वृद्धि कर देता है। दूसरी तरफ कुछ राज्यों के स्थानीय

क्षेत्रों में गन्ने के प्रवेश पर काफी ऊँची दरों से उपकर लगाया जाता है जो भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत उपकर कहलाता है जहाँ इस किस्म के शुल्कों (duties) को भारतीय संविधान में 'करों' के स्थान पर 'उपकर' कहा है।

35. वर्तमान विवेचन के उद्देश्य की दृष्टि से हम उपकर का आशय उस कर से लेते हैं जो जिस वस्तु पर लगाया जाता है उसके मूल्य का बहुत ही छोटा भाग होता है और जिससे प्राप्त होने वाली आय ऐसे उद्देश्यो के लिए प्रयुक्त की जाती है जिनका सम्बन्ध मोटे तौर से उन्ही करदाताओं अथवा उद्योग के हितों से अथवा सम्बन्धित वस्तु के उत्पादन या विपणन से होता है। जब विशिष्ट वस्तुओं अथवा उद्योगो पर लगाये गये ऐसे मामूली करों का उपयोग ऐसी खोज व जाँच को प्रोत्साहन देने के विशेष उद्देश्य से किया जाता है जो बाजारों, या कच्चा माल या उत्पादन की विधियों या सूचना के आदान-प्रदान आदि के विकास की तरफ ले जाने वाली होती है, तो उसे हम सम्बन्धित उद्योगो अथवा वस्तुओं के विकास के सामान्य हितों की दृष्टि से एक सहकारी क्रिया का रूप ही मानेंगे। यद्यपि ऐसे उपकरो की आय को संगठित करने और उसको व्यय करने मे कुछ दोष बतलाये गये हैं, फिर भी हमारे समक्ष जो मत प्रगट किये गये उनमे किसी ने भी इस व्यवस्था की लाभदायकता पर कोई आपत्ति नही उठाई है। ऐसे उपकरो का प्रयोग करों से प्राप्त आय के उपयोग को निर्धारित करने के सामान्य प्रश्न से भिन्न श्रेणी मे आता है और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस किस्म के उपकरों का उपयोग जारी रखने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

36. जहाँ तक उपयोग निर्धारित करने के भिन्न एवं अपेक्षाकृत बड़े प्रश्न का सम्बन्ध है हमारे समक्ष जो मत प्रगट किये गये हैं उनमें लगभग एकरूपता थी और वह यह कि नियम के रूप मे करों से प्राप्त आय विशिष्ट उद्देश्यों के लिए निर्धारित नहीं की जानी चाहिए। हमारा भी यह विचार है कि सुदृढ़ वित्तीय प्रबन्ध की दृष्टि से यह उचित होगा कि करो की सम्पूर्ण आय को एक सामान्य कोष में एकत्र कर लिया जाय और इस राशि का सभी प्रकार के व्यय के लिए सामान्य कोष से विशिष्ट मंजूरी लेकर आवंटन किया जाय। प्रायः ऐसा देखने को नहीं मिलता है कि करो मे और समान मात्रा के सम्बन्धित उपयोगों मे अनिश्चित समय तक ताल-मेल बना रहे। यदि कर से प्राप्त आय विशिष्ट उद्देश्य के लिए आवश्यक कोषों से अधिक होती है तो फिजूलखर्ची एवं कोषों के दुरुपयोग को प्रोत्साहन

मिलता है, और दूसरी तरफ यदि कर से प्राप्त आय ऐसी आवश्यकता से कम होती है, तो इन दोनों की पूर्ति सामान्य राजस्व से स्वीकृति लेकर करनी होती है। यह आपत्ति महत्त्वपूर्ण कामों के लिए विशिष्ट मंजूरी लेने के नियम से काफी दूर जाने पर भी लागू होती है। केन्द्रीय सरकार के द्वारा खादी एवं हाथ करघा उद्योगों के विकास में पूंजी लगाने के लिए कपड़े पर लगाये गये अतिरिक्त उत्पादन कर के सम्बन्ध में हम इस कर के लगाने की आवश्यकता या क्षेत्र पर आपत्ति नहीं उठाते हैं और न हम खादी व हाथ करघा उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए कोषों के आवंटन को गलत मानते हैं। लेकिन इन दोनों को मिलाने की प्रथा पर आपत्ति उठाई जा सकती है।

37. संभवतः इस पद्धति के गुण-दोषों को तब ठीक से समझा जा सकेगा जबकि हम उन परिस्थितियों का उल्लेख करें जिनमें हम यह सोचते हों कि विशिष्ट उपकरों अथवा पूर्व-निर्धारित उपयोग वाले करों (earmarked taxes) के प्रयोग का लाभप्रद क्षेत्र विद्यमान है। एक तरह से स्थानीय संस्थाओं का समस्त अथवा अधिकांश कराधान विशिष्ट उद्देश्य वाले कराधान के समीप ही होता है और ज्यों-ज्यों हम सरकारी सीढ़ी पर ऊपर चलते जाते हैं त्यों-त्यों करों और लाभ के बीच का सम्बन्ध अधिक धुंधला होता जाता है। इससे ऐसे कराधान का स्पष्ट उद्देश्य सामने आ जाता है जो यह है कि लाभों का करों के साथ संबंध हो जाने से कर या शुल्क ज्यादा स्वीकार्य हो जाते हैं और यह सम्बन्ध जितना प्रत्यक्ष होता है, ऐसे 'लाभ' वाले कराधान के प्रयोग का क्षेत्र उतना ही विस्तृत हो जाता है। इस सिद्धांत का स्थानीय सार्वजनिक निर्माण-कार्यों में भी लाभप्रद ढग से प्रयोग किया जा सकता है। इसके प्रयोग के रूप में हम पुलों पर लगाये जाने वाले कर (tolls on bridges) को ले सकते हैं जिसकी राशि एक वैयक्तिक यात्रा पर तो थोड़ी होती है लेकिन जिसका प्रयोग कई देशों में खर्चीली परियोजनाओं की लागत को अल्पकाल में ही चुका देने के लिए सफलतापूर्वक किया गया है। करों एवं उनसे प्राप्त आय के प्रयोग में होने वाले सम्बन्ध का मुख्य क्षेत्र उन दिशाओं में मालूम देता है जहाँ इस पद्धति में सम्बन्धित लाभ की वजह से कर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करदाताओं को कम भारस्वरूप प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत, ऊपर के एक उदाहरण में जहाँ मिल-वस्त्र पर लगाये गये अतिरिक्त शुल्क की आय का प्रयोग खादी व हाथकरघा उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए किया गया है, प्राप्त आय के लाभ और कर के भार का संबंध प्रत्यक्ष अथवा स्पष्ट नहीं जान पड़ता है। बढ़ती हुई संख्या में उत्पादन-

शुल्कों को लागू करने में संगठित व असंगठित उद्योगों में भेद किया जाना प्रारम्भ हो गया है । हमारे विचार से यह उन कारणों की वजह से उचित है जिनका उल्लेख इस रिपोर्ट के द्वितीय खण्ड मे उत्पादन करों के अध्याय में किया गया है। ऐसे विभेद के बावजूद (अथवा इसके अन्तर्गत) उद्योग के एक अंश पर आने वाले विशिष्ट भार का दूसरे अंश के लाभ से मेल बैठाना कोई अच्छी पद्धति नहीं प्रतीत होती है क्योंकि इससे सार्वजनिक वित्त के एकीकृत प्रशासन से घ्यान हट जाता है ।

38. वह क्षेत्र जिसमे उपयोग को निर्धारित करने (earmarking) की प्रथा का दूसरे देशों मे सम्भवतया सबसे अधिक प्रयोग किया गया है वह मोटरगाड़ियों पर लगे हुए करों का उपयोग सड़क निर्माण व विकास पर करना है। एक ऐसे विकास कार्यक्रम की स्थिति मे जो सड़कों सहित राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रो तक फैला हुआ हो हम नही सोचते कि मोटर गाडियों अथवा मोटर स्पिरिट पर लगे हुए करो से प्राप्त आय के उपयोग को निर्धारित करने की पद्धति सड़क विकास को तीव्र करने मे कोई खास मदद कर सकेगी। विभिन्न राज्यों मे मोटर गाडियों के उपयोग करने वालों से प्राप्त आय और सडको पर किये जाने वाले खर्च के बीच काफी अन्तर पाया जाता है। हम इस मत को नहीं मानते कि मोटरगाडी के प्रयोग करने वाले का सड़कों के खर्च के अतिरिक्त राज्य के सामान्य खर्चों मे अंशदान देने का उत्तरदायित्व नही होता है। यही नहीं बल्कि सड़क निर्माण के एक विस्तृत कार्यक्रम की स्थिति मे यह सम्भव है कि सडकों पर किया जाने वाला खर्च मोटर गाड़ी के प्रयोगकर्ता पर लगे हुए समस्त करों से प्राप्त आय से भी अधिक हो। लेकिन यहां पर यह बतलाया जा सकता है कि केन्द्रीय सड़क कोष उपयोग निर्धारित करने के साधन से कुछ अधिक है। वास्तव में यह तो कर लगी हुई वस्तु के उपभोग के आधार पर राज्यों मे केन्द्रीय शुल्क की आय के एक अंश को वितरित करने का साधन है। इसी प्रक्रिया में प्राप्त आय भी सम्बन्धित राज्यों में विशिष्ट उपयोग के लिए निर्धारित कर दी जाती है। सच पूछा जाय तो इस साधन का उपयोग राज्य व स्थानीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे हो सकता है और हमें स्थानीय क्षेत्र मे इसके विस्तार पर कोई आपत्ति नहीं मालूम देती है। लेकिन हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि इसका आवश्यक लक्षण उपयोग निर्धारित करना नहीं है। वास्तव मे यह तो स्थानीय संस्थाओं को साधनों में अपेक्षाकृत अधिक भाग देने का एक साधन है। यह सड़क विकास के कार्यक्रमों को हाथ मे लेने के सम्बन्ध मे उनको अपेक्षाकृत अधिक आत्मविश्वास दिलाता है।

मिलता है, और दूसरी तरफ यदि कर से प्राप्त आय ऐसी आवश्यकता से कम होती है, तो इन कोषों की पूर्ति सामान्य राजस्व से स्वीकृति लेकर करनी होती है। यह आपत्ति महत्त्वपूर्ण मदों के लिए विशिष्ट मंजूरी लेने के नियम से काफी दूर जाने पर भी लागू होती है। केन्द्रीय सरकार के द्वारा खादी एवं हाथ करघा उद्योगों के विकास में पूंजी लगाने के लिए कपड़े पर लगाये गये अतिरिक्त उत्पादन कर के सम्बन्ध में हम इस कर के लगाने की आवश्यकता या क्षेत्र पर आपत्ति नहीं उठाते हैं और न हम खादी व हाथ करघा उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए कोषों के आवंटन को गलत मानते हैं। लेकिन इन दोनों को मिलाने की प्रथा पर आपत्ति उठाई जा सकती है।

37. सम्भवतः इस पद्धति के गुण-दोषों को तब ठीक से समझा जा सकेगा जबकि हम उन परिस्थितियों का उल्लेख करें जिनमें हम यह सोचते हों कि विशिष्ट उपकरों अथवा पूर्व-निर्धारित उपयोग वाले करों (earmarked taxes) के प्रयोग का लाभप्रद क्षेत्र विद्यमान है। एक तरह से स्थानीय संस्थाओं का समस्त अथवा अधिकांश कराधान विशिष्ट उद्देश्य वाले कराधान के समीप ही होता है और ज्यों-ज्यों हम सरकारी सीढ़ी पर ऊपर चलते जाते हैं त्यों-त्यों करों और लाभ के बीच का सम्बन्ध अधिक धुंधला होता जाता है। इससे ऐसे कराधान का स्पष्ट उद्देश्य सामने आ जाता है जो यह है कि लाभों का करों के साथ संबंध हो जाने से कर या शुल्क ज्यादा स्वीकार्य हो जाते हैं और यह सम्बन्ध जितना प्रत्यक्ष होता है, ऐसे 'लाभ' वाले कराधान के प्रयोग का क्षेत्र उतना ही विस्तृत हो जाता है। इस सिद्धांत का स्थानीय सार्वजनिक निर्माण-कार्यों में भी लाभप्रद ढंग से प्रयोग किया जा सकता है। इसके प्रयोग के रूप में हम पुलों पर लगाये जाने वाले कर (tolls on bridges) को ले सकते हैं जिसकी राशि एक वैयक्तिक यात्रा पर तो थोड़ी होती है लेकिन जिसका प्रयोग कई देशों में खर्चीली परियोजनाओं की लागत को अल्पकाल में ही चुका देने के लिए सफलतापूर्वक किया गया है। करों एवं उनसे प्राप्त आय के प्रयोग में होने वाले सम्बन्ध का मुख्य क्षेत्र उन दिशाओं में मालूम देता है जहाँ इस पद्धति में सम्बन्धित लाभ की वजह से कर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करदाताओं को कम भारस्वरूप प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत, ऊपर के एक उदाहरण में जहाँ मिल-वस्त्र पर लगाये गये अतिरिक्त शुल्क की आय का प्रयोग खादी व हाथकरघा उद्योगों को प्रोत्साहन ? के लिए किया गया है, प्राप्त आय के लाभ और कर के भार का संबंध अथवा स्पष्ट नहीं जान पड़ता है। बढ़ती हुई संख्या में उत्पादन-

शुल्कों को लागू करने में सगठित व असंगठित उद्योगों मे भेद किया जाना प्रारम्भ हो गया है । हमारे विचार से यह उन कारणों की वजह से उचित है जिनका उल्लेख इस रिपोर्ट के द्वितीय खण्ड मे उत्पादन करो के अध्याय में किया गया है । ऐसे विभेद के बावजूद (अथवा इसके अन्तर्गत) उद्योग के एक अंश पर आने वाले विशिष्ट भार का दूसरे अंश के लाभ से मेल बैठाना कोई अच्छी पद्धति नहीं प्रतीत होती है क्योंकि इससे सार्वजनिक वित्त के एकीकृत प्रशासन से ध्यान हट जाता है ।

38. वह क्षेत्र जिसमे उपयोग को निर्धारित करने (earmarking) की प्रथा का दूसरे देशों मे सम्भवतया सबसे अधिक प्रयोग किया गया है वह मोटरगाड़ियो पर लगे हुए करों का उपयोग सड़क निर्माण व विकास पर करना है । एक ऐसे विकास कार्यक्रम की स्थिति मे जो सड़कों सहित राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रो तक फैला हुआ हो हम नही सोचते कि मोटर गाड़ियों अथवा मोटर स्पिरिट पर लगे हुए करो से प्राप्त आय के उपयोग को निर्धारित करने की पद्धति सड़क विकास को तीव्र करने मे कोई खास मदद कर सकेगी । विभिन्न राज्यो मे मोटर गाड़ियो के उपयोग करने वालों से प्राप्त आय और सड़को पर किये जाने वाले खर्च के बीच काफी अन्तर पाया जाता है । हम इस मत को नहीं मानते कि मोटरगाड़ी के प्रयोग करने वाले का सड़को के खर्च के अतिरिक्त राज्य के सामान्य खर्चों मे अशदान देने का उत्तरदायित्व नही होता है । यही नहीं बल्कि सड़क निर्माण के एक विस्तृत कार्यक्रम की स्थिति मे यह सम्भव है कि सड़कों पर किया जाने वाला खर्च मोटर गाड़ी के प्रयोगकर्ता पर लगे हुए समस्त करों से प्राप्त आय से भी अधिक हो । लेकिन यहां पर यह बतलाया जा सकता है कि केन्द्रीय सड़क कोष उपयोग निर्धारित करने के साधन से कुछ अधिक है । वास्तव में यह तो कर लगी हुई वस्तु के उपभोग के आधार पर राज्यों में केन्द्रीय शुल्क की आय के एक अंश को वितरित करने का साधन है । इसी प्रक्रिया मे प्राप्त आय भी सम्बन्धित राज्यो में विशिष्ट उपयोग के लिए निर्धारित कर दी जाती है । सच पूछा जाय तो इस साधन का उपयोग राज्य व स्थानीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे हो सकता है और हमे स्थानीय क्षेत्र में इसके विस्तार पर कोई आपत्ति नहीं मालूम देती है । लेकिन हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि इसका आवश्यक लक्षण उपयोग निर्धारित करना नहीं है । वास्तव में यह तो स्थानीय संस्थाओं को साधनों में अपेक्षाकृत अधिक भाग देने का एक साधन है । यह सड़क विकास के कार्यक्रमों को हाथ में लेने के सम्बन्ध में उनको अपेक्षाकृत अधिक आत्मविश्वास दिलाता है ।

39. मुद्रा-स्फीतिकारी व अपस्फीतिकारी दशाओं के सम्बन्ध में कर-नीति (Tax policy in relation to inflationary and deflationary situations) :—हमारे विचारणीय विषयों के अनुसार यह आवश्यक है कि हम कराधान के प्रयोग को आम मुद्रास्फीतिकारी अथवा अपस्फीतिकारी दशाओं का मुकाबला करने के लिए एक राजकोषीय साधन के रूप में करें। एक तरह से यह विचारणीय विषय हमारे समक्ष एक काल्पनिक प्रश्न उपस्थित कर देता है और हमें कर प्रणाली में ऐसे परिवर्तन सूचित करने के लिए कहता है जो आर्थिक स्थिति के स्पष्टतया स्फीतिकारी या अपस्फीतिकारी मोड़ लेने पर उपयुक्त होते हैं।

40. इस अध्याय के प्रारम्भ मे हमने यह बतलाया है कि कर-नीति में आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने के उद्देश्य का बड़ा महत्व होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में मोटे तौर से दो तरीकों से मदद मिल सकती है। एक तरीका तो यह है कि ऐसा कर का ढाचा बनाया जाय जो आर्थिक उतार-चढ़ावों को उनके उत्पन्न होने पर स्वतः ही दूर कर दे; द्वितीय, स्फीतिकारी और अपस्फीतिकारी दशाओं का मुकाबला करने के लिए कर-प्रणाली में परिवर्तन किये जांय। पहले तरीके मे आर्थिक उतार-चढ़ाव से मुकाबला करने के लिए कर प्रणाली की स्वचालित क्षमता आरोही प्रत्यक्ष करों पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भरता उत्पन्न करके बढ़ाई जा सकती है। ऐसे करों की आय में मौद्रिक एवं कीमतों के परिवर्तनो के फलस्वरूप कर के आधार (tax base) में होने वाले परिवर्तनों से ज्यादा अनुपात मे परिवर्तन होता है। मूल्यानुसार होने वाले वस्तु-करों के अधिक उपयोग से भी इसी तरह की मदद मिलती है, क्योंकि कीमतों के परिवर्तनों से करो से प्राप्त आय में परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। लेकिन किसी भी समय मे कर-प्रणाली का निर्माण सुदृढ़ कर-नीति के समस्त उद्देश्यों को ध्यान मे रख कर करना होता है और इसमें प्रशासनिक कार्यक्षमता एवं सुविधा की आवश्यकताएं भी शामिल होती हैं। प्रशासनिक कारणों से ऐसे विशिष्ट शुल्को (specific duties) को प्राथमिकता देनी पड़ जाती है जिनसे प्राप्त आय मे आर्थिक दशाओ मे होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप प्रतिक्रिया नही हो पाती है। इसलिए जिस सीमा तक कर प्रणाली की स्वचालित क्षमता मे मुद्रास्फीति व अपस्फीति को दूर करने के लिए सुधार किया जा सकता है उस पर अन्य कारणों का भी प्रभाव पड़ता है। अतः समस्या इस प्रकार है कि कर प्रणाली के सामान्य ढांचे के दिये हुए होने पर इसमे उस समय कैसे सुधार किया जाय जब कि उल्लेखनीय स्फीतिकारी अथवा अपस्फीतिकारी प्रवृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं?

41. इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भारत में स्फीतिकारी व अपस्फीतिकारी प्रवृत्तियों के वास्तविक इतिहास के संक्षिप्त विश्लेषण से प्रारम्भ करना लाभप्रद होगा। भारतीय अर्थव्यवस्था मे पिछले लगभग तीस वर्षों में प्रमुख स्फीतिकारी व अपस्फीतिकारी प्रवृत्तियो की जांच से पता लगता है कि सामान्य आर्थिक स्थिति मे आने वाले मोडों का प्रमुख स्रोत सदैव बाह्य ही रहा है। उदाहरणार्थ, 1924-25 मे कृषिगत पदार्थों के मूल्यों का चरम सीमा को छूने के बाद 1920 से प्रारम्भ होने वाली दशाब्दी के मध्य में और अन्तिम भाग में गिरना; 1929 के अत मे कीमतो का गिरना और 1930 से प्रारम्भ होने वाले शुरू के वर्षों मे तीव्र मदी का आना; और उसके बाद 1933 से 1937 तक भावों मे धीमे धीमे वृद्धि होना, 1938 मे एक अल्पकालीन व तीव्र गिरावट का आना; युद्ध-कालीन चढाव और पुनः युद्धोत्तर काल की तेजी; 1949 में भुगतान सतुलन मे सकट, कोरिया की तेजी और धीरे धीरे सामान्य स्थिति का आना—इन सबका उद्गम किसी-न-किसी अन्तर्राष्ट्रीय कारण को लेकर ही हुआ था। लेकिन बाह्य प्रभाव आन्तरिक आर्थिक प्रवृत्तियों पर छा गये जिससे कीमतो मे असमानताए उत्पन्न हो गई और इसी वजह से भारत की आर्थिक स्थिति मे समय समय पर विचित्रताए पाई गई हैं।

42. महान मदी जिसमे कीमतें अधिकांश अन्य देशो की तुलना मे भारत मे अधिक गिरी (हालाकि थोडी देर से गिरीं), ने प्राथमिक उत्पादन का एक उल्लेखनीय लक्षण स्पष्ट कर दिया जो यह है कि इस तरह के उत्पादन मे कीमतो के परिवर्तन के फलस्वरूप पूर्ति की लोच विपरीत पाई जाती है। कृषि का उत्पादन न केवल गिरा नही बल्कि कीमतों के न्यूनतम स्तर पर आते ही कुछ बढा। गिरती हुई कीमतो की स्थिति मे और बिक्री-योग्य बचत से प्राप्त आय एव जीवन-निर्वाह (subsistence) व लागत के बीच घटते हुए अंतर की दशा में कृषक ने मूल्य (value) के रूप मे जो कुछ खो दिया था उसकी पूर्ति उसने मात्रा के रूप में करने की कोशिश की। यह दशा लगभग विश्वव्यापी थी। इस स्थिति का उल्टा, अर्थात् कीमतों के ऊंचे बिन्दु को पार करते समय प्रयत्न व उद्यम मे होने वाली कुछ वृद्धि भी युद्धोत्तरकाल के प्रारम्भ मे अल्पविकसित देशों मे बड़े पैमाने पर देखने को मिली है। उत्पादन से सम्बन्धित प्राविधिक तत्वों के अलावा कार्य की पूर्ति मे एक किस्म की लोचहीनता भी होती है जो कृषक के जीवन-स्तर से निर्धारित होती है। इसी की वजह से सीमान्त भूमि का टुकड़ा अकृषित पड़ा रह जाता है क्योंकि उपज के अत्यधिक ऊंचे भाव हो जाने पर थोड़ा कम उत्पादन भी जीवन-स्तर को बनाये रखने के

लिए काफी रहता है। इससे यह जाहिर होता है कि, सामान्य धारणा के प्रतिकूल, ऊंची कीमतों के स्थान पर स्थिर कीमतें ही उपज के सुधार एवं कृषिगत उत्पादन की कुशलता के लिए सर्वोत्तम वातावरण प्रदान करती हैं। सामान्य धारणा, जिसमें ऊंचे उत्पादन का सम्बन्ध ऊंची कीमतों से किया जाता है, गैर-कृषिगत क्षेत्र के अनुभव के अलावा इस बात से उत्पन्न होती है कि अलग-अलग फसलों के उत्पादन व भावों की गति में सह-सम्बन्ध पाया जाता है। इसमें भ्रम यह है कि अलग-अलग वस्तुओं का अनुभव सम्पूर्ण कृषिगत उत्पादन और कीमतों पर लागू कर दिया गया है। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि कृषिगत कीमतों की गिरावट कृषक के लिए अच्छी रहती है। इसके विपरीत जब कीमतों में गिरावट होती है तो यह गिरावट कृषिगत पदार्थों में अपेक्षाकृत अधिक होती है: इससे ऋणी व ऋणदाता के सम्बन्धों में गम्भीर व विपरीत परिवर्तन आ जाते हैं और फलस्वरूप पुनर्समायोजन (readjustment) की समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इससे कृषक के लिए गैर-कृषक के मुकाबले व्यापार की आन्तरिक शर्तें भी बिगड़ जाती हैं, अर्थात् सरल शब्दों में, कृषक की क्रय-शक्ति में गिरावट आ जाती है। भारत में मंदी व मुद्रा-स्फीति दोनों का अनुभव इसी निष्कर्ष की तरफ ले जाता है कि कृषक के लिए ऊंचे मूल्यों की नहीं बल्कि स्थिर मूल्यों की आवश्यकता है और विशेषतया गैर-कृषि पदार्थों के मूल्यों से कुछ कुछ साम्य की आवश्यकता भी है।

43. हम यहां पर इस समस्या की सम्भावित प्रकृति एवं क्षेत्र का उल्लेख कर सकते हैं जिनके सम्बन्ध में कर-प्रणाली में किये जाने वाले परिवर्तन पर विचार किया जाना चाहिए। निकट भविष्य के बारे में विश्वास के साथ कोई भी भविष्यवाणी करना कठिन है। यह विशेषतया बाहरी तत्वों के सम्बन्ध में सही है। लेकिन यह आशा की जा सकती है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर बड़ी या छोटी हलचलों के अभाव में भूतकाल में सरकारों व प्रशासनों को जो अनुभव आर्थिक उतार-चढ़ावों को दूर करने में हुआ है वह भविष्य में आ सकनेवाली स्थिरता से दूर जाने से उत्पन्न तीव्रता को कम करने में मदद करेगा। जहां तक देश में अस्थिरता के तत्वों का [illegible] है, अधिक तीव्र सम्भावनाएं मुद्रा-स्फीति की शक्तियों के जारी रहने [illegible] होती है जो विकास आयोजन की गति से उत्पन्न होती है और इसी से [illegible] भी होती है। ये शक्तियां विकास आयोजन की वित्तीय व्यवस्था के साधनों पर भी निर्भर करती हैं। लेकिन योजना की अवधि में वास्तव में

होनेवाली घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा प्रारम्भिक अनुमानों से कम रही है। विनियोग की मात्रा मे तीव्र वृद्धि के होने पर यदि कुछ समय तक सार्वजनिक विनियोग मे होने वाली वृद्धि लक्ष्य से कम भी होती रहती है तो भी आन्तरिक समस्या मुद्रा अपस्फीति के बजाय मुद्रा-स्फीति की ही होगी। लेकिन समय-समय पर वास्तविक आर्थिक स्थिति आन्तरिक व बाहरी तत्वों की अन्तर्क्रिया से निर्धारित होगी। जिस सीमा तक अर्थ-व्यवस्था मे एक बड़ा गैर-मुद्रा का क्षेत्र (non-monetary sector) होता है, मूल्य-परिवर्तन उन्नत और पूर्ण मुद्राधारित अर्थ-व्यवस्थाओं (completely monetised economies) के जैसा प्रभाव नही डालते हैं। लेकिन भारत मे मुद्राविहीन क्षेत्र का संकुचन हो रहा है। इतना होने पर भी मौद्रिक क्षेत्र इतना विस्तृत है कि यह बढ़ती हुई कीमतों की अवधि मे मुद्रा-स्फीति विरोधी नीति की आवश्यकता के महत्त्व व तीव्रता को स्पष्ट कर देता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति मे कर-व्यवस्था को भी अपना भाग अदा करना होता है। अब हमे इस प्रश्न पर विचार करना है कि भारतीय कर-प्रणाली मुद्रा-स्फीतिकारी एव मुद्रा अपस्फीतिकारी दशाओं का मुकाबला कहा तक कर सकती है।

44. एक अधिक सामान्य विधि जिसके द्वारा कर-प्रणाली स्फीतिकारी अथवा अपस्फीतिकारी दशा के प्रभावों को कम कर सकती है वह निजी व्यय के लिए उपलब्ध होने वाली राष्ट्रीय आय की मात्रा मे कमी या वृद्धि करना है। इसके लिए क्रमश: बचत का बजट या घाटे का बजट बनाने की नीति अपनानी पड़ती है।

45. जहा तक स्फीतिकारी हलचल बाहरी प्रभावों से उत्पन्न होती है निर्यात-कर एक ऐसा सुपरिचित तरीका है जिसके द्वारा हमारी वस्तुओं के लिए तीव्र विदेशी माग को घरेलू अर्थव्यवस्था पर स्फीतिकारी प्रभाव डालने से रोका जा सकता है। जब बाहरी प्रभावों मे देश के अन्दर क़ीमतें गिरती हैं तो कर-प्रणाली में परिवर्तन करके भी इस गिरावट को रोकना कठिन हो जाता है। निर्यात-करों को समाप्त करके और आन्तरिक वस्तु-कराधान (Commodity taxation) मे काफी कमी करके विदेशी मांग की गिरावट को रोका जा सकता है और घरेलू मांग को बनाये रखा जा सकता है और इस प्रकार उत्पादकों की आय में होने वाली गिरावट को कम किया जा सकता है। जहां तक राज्यीय क्षेत्र में वस्तु-कराधान का प्रश्न है, राज्यों के द्वारा घाटा उठाने की असमर्थता के कारण स्थिति जटिल हो जाती है। ऐसा केवल उस समय नहीं होता है जब कि केन्द्रीय सरकार विशेषरूप से राज्यों को कर में कमी

करने देने के लिए ऋण व अनुदान (loans and grants) का एक व्यवस्थित कार्यक्रम लागू करती है।

46. राजकोषीय दृष्टि से समुन्नत देशों में भी जहां करों से प्राप्त आय उनकी राष्ट्रीय आय का काफी बड़ा अंश होती है, मंदी को दूर करने के उपाय के रूप में करों को घटाने के बजाय सार्वजनिक व्यय के विस्तार पर ज्यादा बल दिया जाता है। भारत जैसे देश में जहाँ करों के रूप में लिया गया राष्ट्रीय आय का अंश 7 या 8 प्रतिशत होता है (जब कि कई अन्य देशों में यह 25 से 40 प्रतिशत तक होता है), मुद्रा-अपस्फीति के प्रभावों को दूर करने मे आय-प्रभाव के रूप मे कर-प्रणाली बहुत कम काम कर पाती है। जो कुछ घाटे की वित्त-व्यवस्था की सहायता से किये गये सार्वजनिक खर्च के रूप में किया जाता है वह भारतीय अर्थव्यवस्था की ढांचे की बेलोचताओं (structural rigidities) एव अन्य विशेषताओं के कारण सीमित महत्त्व का हो जाता है। इतने पर भी भारत में अपस्फीतिकारी दशा के प्रभावों को मिटाने के लिए करारोपण की अपेक्षा सार्वजनिक व्यय की दशा में ज्यादा प्रभावपूर्ण कार्य किया जा सकता है।

47. मुद्रास्फीति के दिनों में करारोपण स्फीति के विपरीत प्रभावों को कम करने में महत्वपूर्ण भाग ले सकता है। यह केवल इसीलिये सच नहीं है कि इस सम्बन्ध में कर-प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होती है बल्कि इसलिए भी है कि ऐसी अवधियों मे खर्च में कमी करना ज्यादा कठिन होता है, चाहे अवधि युद्ध की हो जिसमें सैनिक व्यय सामने रहता है, अथवा यह तीव्र आर्थिक विकास की हो जिसकी गति बनाये रखनी पड़ती है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में भी अनुभव से यह पाया गया है कि यदि कर-प्रणाली मे उचित परिवर्तन किया जाता है तो वह मुद्रास्फीति की गति को कम करने में महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती है। उदाहरण के लिए, हमारे ही देश में कर प्रणाली युद्धकालीन मुद्रास्फीति एवं इसके युद्धोत्तर प्रभाव से उत्पन्न आय की वृद्धि के काफी बड़े भाग को निजी खर्च से दूर करने में सफल रही है। यह अंशतः केन्द्रीय कर प्रणाली की लोच के कारण हुआ है क्योंकि इसमें आयकर शामिल रहा है और अंशतः एक नये प्रकार कर—अतिरिक्त लाभ कर—और तम्बाकू जैसी वस्तुओं पर नये उत्पादन शुल्कों के लगने से हुआ है। युद्धकाल में प्रत्यक्ष कर केन्द्रीय करों की आय के 65 प्रतिशत तक पहुँच गये थे।

48. उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कर जो प्रत्यक्षतः ऊंची अतिरिक्त आय पर पड़ते हैं और वे वस्तु-कर जो मुद्रा-स्फीति से उत्पन्न सामान्य क्रय-शक्ति में होने वाली वृद्धि पर पड़ते हैं, वे मुद्रा-स्फीति विरोधी नीति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जब कर-प्रणाली का स्वाभाविक लोच और करों की अपेक्षाकृत ऊँची दरें दोनों मिलकर भी मुद्रास्फीति की गति को रोकने में असमर्थ रहती हैं तो ऐसी अवधि में विशेष मुद्रास्फीति-विरोधी करों जैसे अतिरिक्त लाभ कर और सामान्य व विलासी उपभोग दोनों की वस्तुओं पर वस्तु करों का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन जब मुद्रास्फीति एक निश्चित सीमा से आगे निकल जाती है तो कराधान वास्तविक हल भी प्रस्तुत नहीं कर पाता है। लागतें बढ़ती हुई आय का पीछा करती हैं और सार्वजनिक व्यय अधिकाधिक सार्वजनिक आय से आगे रहने लगता है। ऐसी परिस्थितियों में प्रभावपूर्ण इलाज यही है कि या तो सार्वजनिक व्यय में होने वाली वृद्धि को बंद किया जाय और उसमें तीव्र कमी लाई जाय, अथवा एक तीव्र मौद्रिक मार्जन (Monetary Purge) किया जाय जिसमें मुद्रा की पूर्ति अथवा तरल परिसम्पत्तियों पर पूंजी-कर लागू कर दिया जाय: कभी-कभी इन दोनों की एक साथ भी आवश्यकता हो सकती है।

49. भारतीय कर-प्रणाली पहले ही अपने पास आय-कर व वस्तु-कर के रूप में ऐसे महत्त्वपूर्ण साधन रखती है जिनका प्रयोग स्फीतिकारी दशाओं का मुकाबला करने में किया जा सकता है। आयकर एक अत्यधिक आरोही कर है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, तेजी या मुद्रास्फीति की दशाओं में यह अपने आप अधिक आय उत्पन्न करता है और कर के पश्चात् खर्च के लायक आय की वृद्धि को सीमित करता है। इस कर के इस अन्तर्निहित मुद्रास्फीति विरोधी लक्षण के बावजूद यह मानना होगा कि जब मुद्रास्फीति हो जाती है तो इस कर की दरों में वृद्धि करके आमदनियों में और भी कमी करने में इसकी उपयोगिता सीमित होती हैं, विशेषतया उस स्थिति में जब कि इसकी दरें असामान्य रूप से ऊँची कर दी जाती हैं। लेकिन तीव्र स्फीतिकारी परिस्थिति में प्रत्यक्ष कराधान को और कसने की सम्भावनाएँ अवश्य रहती हैं। इसी प्रकार वस्तु-करों के प्रयोग का क्षेत्र बढ़ा कर एवं उनकी दरों में वृद्धि करके उपभोग-माग को नियन्त्रित करने में मदद मिलती है। विशेष रूप से अर्थव्यवस्था के उन क्षेत्रों में विशिष्ट करों को लागू करना आवश्यक हो सकता है जो विकास-खर्च के स्फीतिकारी झुकाव से सबसे ज्यादा लाभान्वित होते हैं। उपर्युक्त उपाय और साथ में विशिष्ट करों, जैसे

अतिरिक्त लाभ कर, के लागू करने की सम्भावना कर के क्षेत्र में समय-समय पर उत्पन्न हो सकने वाली साधारण स्फीतिकारी दशाओं का मुकाबला करने में बहुधा पर्याप्त सिद्ध होगी है।

50. मंदी के उत्पन्न होने की अप्रत्याशित स्थिति में करारोपण की कमी से विशेष अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि इसकी वजह से निजी खर्च के लिए जो आय मुक्त हो जायगी वह राष्ट्रीय आय का एक बहुत छोटा अंश होगी; ऐसी स्थिति में राजकोषीय दृष्टि से इलाज यह होगा कि सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की जाय और इसकी वित्तीय व्यवस्था घाटे के द्वारा उस समय तक की जाय जब तक कि अर्थ-व्यवस्था में पुनः सुधार न हो जाय और कीमतें व बिक्री मंदी से पूर्व की प्रवृत्तियां प्राप्त न कर लें।

51. दीर्घकालीन दृष्टिकोण से देखने पर अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता बनाये रखने का उद्देश्य आर्थिक विकास के व्यापक उद्देश्य में विलीन हो जाता है। अतः प्रश्न इस बात का है कि राजकोषीय व अन्य नीतियों को विकास का मार्ग सरल बनाये रखने की दृष्टि से बनाया जाय, और सार्वजनिक व्यय की गति व वस्तु-सामग्री को, करारोपण के स्तर व रूपों को एवं बजट-सम्बन्धी सम्पूर्ण स्थिति—बचत व घाटे—को आर्थिक दशा के परिवर्तनों के संदर्भ में व्यवस्थित किया जाय। लेकिन यह आवश्यक है कि राजकोषीय नीति के समस्त तत्त्व मूलतः आर्थिक विकास के अनुकूल ही हों।

52. करों से अतिरिक्त आय प्राप्त करने के स्रोत (Sources of additional tax revenue):—इस अध्याय में पहले हम मोटे तौर से कर नीति के ढांचे की वह रूपरेखा दे चुके हैं जो हमारे मतानुसार सार्वजनिक क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ निजी क्षेत्र में पूंजी-निर्माण व अधिक उत्पादन को प्रोत्साहन देने का जटिल कार्य यथा-सम्भव पूरा कर सकती है। उस विवेचन से उन मुख्य दिशाओं की जानकारी हो जाती है, जिन पर बढ़ने से सार्वजनिक क्षेत्र में विकास के अतिरिक्त साधन प्राप्त किये जा सकते हैं। केन्द्रीय क्षेत्र में ये इस प्रकार हैं: आयकर में वृद्धि जो निगम कर की कुछ कमी से आंशिक रूप से मिट जाती है एवं साथ में बचत व विनियोग के लिए कुछ अतिरिक्त छूटें और विलासिताओं, अर्द्ध-विलासिताओं एवं अनिवार्यताओं पर भी उत्पादन-करों में काफी वृद्धि और ऐसी मूल्य-नीतियों को अपना कर करेतर आय में कुछ वृद्धि करना जिनमें राजस्व को ज्यादा ध्यान में रखा जाता है। राज्यीय क्षेत्र में अतिरिक्त साधनों की

दिशाएँ इस प्रकार हैं :—भू-राजस्व पर साधारण सरचार्ज लगाकर आय में कुछ वृद्धि करना—इन सरचार्जों में उस अवधि के अनुसार परिवर्तन करना जब कि पिछले बन्दोबस्त किये गये थे ताकि एक राज्य में एक सामान्य समय-स्तर (Time-standard) के अनुसार एकरूपता आ जाय— कृषि आयकर के क्षेत्रीय विस्तार में वृद्धि करना एवं इसकी दरों को बढ़ाना, जायदाद कराधान (Property taxation) एवं स्थानीय संस्थाओं के द्वारा जायदाद के अन्तरण पर करों का अधिक व्यापक प्रयोग करना, और बिक्री कर के क्षेत्र को विस्तृत करना एवं आगे चलकर इसकी दरों में वृद्धि करना। राज्यीय क्षेत्र में अन्य छोटे करों के सम्बन्ध में भी हमने उन राज्यों को जो अब तक मुख्यतया कराधान के पुराने रूपों पर निर्भर रहते आये हैं अपेक्षाकृत कुछ नये करों को अधिक व्यापक रूप से अपनाने की सिफारिश की है। अगले दो अध्यायों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रमुख राजकीय उपक्रमों जैसे सिंचाई व बिजली आदि से भी आय बढ़ाने का कुछ क्षेत्र है।

53. हमारे विचारणीय विषयों में हमें विशेषतया कराधान के नये स्रोतों के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए कहा गया है। हमने ऊपर आय की वृद्धि की जिन सम्भावनाओं की चर्चा की है उनका प्रचलित कर-स्रोतों से ही सम्बन्ध है। कराधान की एक महत्त्वपूर्ण एवं नई दिशा की कल्पना एक ऐसे नये कर के रूप में कर सकना कठिन प्रतीत होता है जो संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) के अन्तर्गत होने वाली किसी भी सूची में शामिल नहीं है। वास्तव में हमने केन्द्रीय या राज्यीय सूचियों की ऐसी सभी मदों पर विचार किया है जिनका अभी तक अपेक्षाकृत कम उपयोग किया गया है लेकिन भविष्य में अधिक उपयोग किया जा सकता है। ऐसे अपेक्षाकृत अधिक उपयोग के सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव इस रिपोर्ट के विभिन्न स्थलों पर दिये जा चुके हैं। अब हम कराधान के नये रूपों से सम्बन्धित कुछ प्रस्तावों की चर्चा करेंगे जिन पर हमने विचार किया है लेकिन जिनको लागू करने की हम सिफारिश नहीं करेंगे। इनमें से कुछ का लाभप्रद उपयोग भविष्य में किया जा सकेगा।

54. सैद्धान्तिक रूप से आयकर (और मृत-सम्पत्ति करों) के पूरक के रूप में कुल धन पर नीची दर से लगाये जाने वाले वार्षिक कर के पक्ष में कुछ कहा जा सकता है। ऐसे कार्यक्रम की प्रशंसा में काफी कहा जा सकता है क्योंकि इसके जरिए व्यक्तियों के बीच करदातृता का ज्यादा अच्छा संतुलन प्राप्त किया जा सकता है बनिस्बत अकेले आयकर के, क्योंकि आयकर में

तो चोरी हो जाती है। धन का वितरण कराधान का ऐसा आधार है जो आय के वितरण से तो कम उपयुक्त होता है, लेकिन जो इस समय प्रयुक्त किये जाने वाले कई अन्य आधारों से ज्यादा उपयुक्त होता है। व्यक्तियों की परिसम्पत्तियों व दायित्वों (Assets and Liabilities) के सम्बन्ध में एकत्र की गई सूचना भी करदाताओं के द्वारा रिपोर्ट की गई आय, उत्तराधिकार व उपहार में प्राप्त राशियों की शुद्धता की जांच में काफी महत्त्व रखती है। लेकिन पूंजीगत परिसम्पत्तियों के मूल्य का निर्धारण प्रशासकीय कठनाइयों से भरा हुआ है जिनकी वजह से ऐसा कर कुछ समय तक लागू नहीं किया जाना चाहिए।

55. लाभों से सम्बन्धित सामाजिक सुरक्षा के अंशदान को आंशिक रूप से छोटी आमदनियों के प्रत्यक्ष कराधान के ही भेद माने जा सकते हैं। चूंकि प्रारम्भिक वर्षों मे जब कार्यक्रमों का विस्तार जारी रहता है उस समय संग्रहीत राशि लाभ पर व्यय की गई राशि से अधिक होती है, इसलिए विशुद्ध प्राप्तियों से विकास कार्यों के लिए उपलब्ध होने वाले साधनों में लाभप्रद वृद्धि होती है। भारत में इस दिशा मे कर्मचारी राज्य बीमा योजना और कर्मचारी प्रोविडेन्ट कोष योजना के रूप में पहले ही शुरुआत की जा चुकी है।

56. आय के कराधान मे अपेक्षाकृत अधिक समानता लाने के लिए बहुधा पूंजीगत लाभ पर कर लगाने की सिफारिश की जाती है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि ये लाभ आय मे होने वाली वृद्धि को सूचित करते हैं और इस प्रकार करदाता की करदेय क्षमता को बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त ये उन तत्वों मे गिने जाते हैं जिनसे धन की असमानता पैदा होती है, और विशेषतया एक विकासशील अर्थव्यवस्था में जिसमे औद्योगीकरण और शहरी करण निरन्तर बढ़ते जाते हैं। उपरोक्त कारण भारत में पूंजी लाभ कर के लागू करने के पक्ष में जाते हैं। वास्तव मे हमारे देश में दो वर्ष की अल्पावधि के लिए पूंजी लाभ कर रहा था लेकिन यह अप्रैल 1949 मे मुख्यतः इस बात को लेकर समाप्त कर दिया गया कि गिरते हुए मूल्यों के कारण इससे काफी आय नहीं हो रही थी। साथ मे यह बात भी कही गई कि इसने विनियोग पर विपरीत मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला और इसने स्टॉक व शेयरों की स्वतन्त्र हस्तान्तरणता में भी बाधा डाली। उस समय पूंजी लाभ कर को समाप्त करने के लिए जो कारण दिये गये थे वे आज भी लागू होते हैं। अब पुनः आय तो विनियोग को प्रोत्साहन देने के लिए पहले की अपेक्षा आज ज्यादा अच्छे वातावरण

करण की आवश्यकता है, क्योंकि अगली पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास के महत्त्व के बढ़ने की आशा है। इसके अतिरिक्त हम आयकर की दरों में वृद्धि का भी सुझाव दे रहे हैं। यदि इस समय पूंजी लाभ-कर लगा दिया जाता है—और इसकी आकस्मिक (Casual) अथवा अनियमित प्रकृति के कारण यह साधारण आय कर और अधि-कर (Super-tax) की अपेक्षा नीची दरों पर ही लागू किया जायगा—तो करदेय आय के एक अंश के रूप में मानी जा सकने वाली आय को पूंजी-लाभ बतलाने के प्रयास से कर टालने (tax avoidance) का भय बढ़ जायगा। इसके अलावा मृत सम्पत्ति कर के लागू हो जाने से कर व्यवस्था में अब धन की असमानता और फलस्वरूप बाद मे आमदनी की असमानता को कम करने का एक प्रत्यक्ष साधन भी उपलब्ध हो गया है। इन परिस्थितियो मे हम कुछ समय के लिए पूंजी लाभ पर एक विशिष्ट कर लागू करने की सिफारिश नहीं करते हैं। लेकिन यहां पर हम यह कहना चाहेंगे कि यदि विकास की तीव्र गति के कारण अथवा अन्य किसी कारण से स्थिति बदल जाती है और हम निरंतर बढ़ती हुई कीमतों व मुनाफों एवं पूंजी-मूल्यों (Capital Values) की अवधि मे प्रवेश करते हैं, तो पूंजी लाभ कराधान के लिए काफी उपयुक्त साधन बन सकता है और इसे कर के क्षेत्र में ले लेना चाहिए।

57. भूमि और अन्य सम्पत्ति के मूल्य मे होने वाली अनार्जित वृद्धियां, जो चाहे सुधार के विशिष्ट सार्वजनिक कार्यक्रमो के परिणामस्वरूप हुई हों अथवा समाज में सामान्य आर्थिक प्रगति के अंग के रूप मे हुई हो, इन पर होने वाला कराधान काफी दीर्घकाल से सैद्धान्तिक रूप से एक आदर्श कर माना गया है जो उद्यम या उत्पादन को प्रभावित किये बिना आय उत्पन्न कर सकता है। लेकिन इसके प्रशासन मे प्रमुखतया गम्भीर व्यावहारिक कठिनाइयां होने से इसे सफलता नहीं मिल पाई है। वास्तविक जायदाद से प्राप्त पूंजीगत लाभों पर राज्यों के द्वारा कुछ सीमा तक परोक्षरूप से कर लगाया जाता है जो शहरी भूमि व इमारतो पर आनुपातिक जायदाद कर के रूप मे, उस भूमि पर जहां सिंचाई की नई सुविधाएं प्रदान की गई हैं कुछ वर्षों तक बिना वसूल किये गये मुनाफों (unrealised gains) पर सुधार कर (betterment levies) के रूप में और गैर-कृषिगत उपयोग में बदली गई कृषिगत भूमि पर बढ़ी हुई कर की राशि के रूप में लागू किया गया है। जहाँ तक शहर की वास्तविक जायदाद का प्रश्न है इस पर लगा हुआ अपेक्षाकृत भारी वार्षिक कर और इसके अन्तरण पर लगे हुए कर बड़ी मात्रा में होने वाली अनार्जित वृद्धियो को रोक

सकते हैं। सुधार-कर अथवा विशिष्ट कर-निर्धारण सभी पूंजीगत लाभों को शामिल नहीं कर लेते हैं बल्कि ये उन्हीं को शामिल करते हैं जो विशिष्ट सार्वजनिक सुधारों से उत्पन्न होते हैं। फिर भी ये कर के ढांचे में काफी मूल्यवान वृद्धि के रूप में माने जा सकते हैं और विशेषतया इसलिए कि ये पूंजीगत लाभों को कुछ वर्षों की एक उपयुक्त अवधि तक व्याप्त कर देते हैं।

58. दूसरा कर जिस पर विचार किये जाने की आवश्यकता है वह अतिरिक्त लाभ कर (Excess profits tax) है। यह कर उद्योग और व्यापार के उन लाभों पर लगाया जाता है जो 'सामान्य' अथवा 'उचित' लाभ के स्तर से ऊँचे होते हैं। मुद्रास्फीति के समय यह आय का एक उत्तम साधन हो जाता है। इसी वजह से यह ज्यादातर युद्धकाल और युद्धोत्तर काल में असामान्य व्यावसायिक लाभों पर कर लगाने के सुविधाजनक साधन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह अतिरिक्त लाभ पूंजी पर एक निश्चित प्रतिफल के प्रतिशत के आधार पर (उचित लाभ) निर्धारित किया जा सकता है अथवा एक निर्दिष्ट अवधि में प्राप्त किये गये मुनाफों (सामान्य मुनाफों की तुलना के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। कई अतिरिक्त लाभ-करों के नियमों में दोनों विधियों का प्रयोग किया गया है। प्रतिशत के स्तर को अपनाने से कुछ असंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं क्योंकि सभी प्रकार के उपक्रमों पर समान रूप से लागू करने के लिए लाभ का कोई विशेष अनुपात निर्धारित करना सम्भव नहीं होता है और आधार-अवधि अथवा सामान्य लाभ के स्तर की अपेक्षा इसे लागू करना ज्यादा कठिन होता है। यही कारण है कि अतिरिक्त लाभ कर के विधान में दूसरी विधि का अधिक उपयोग हुआ है और प्रतिशत प्रतिफल का एक विकल्प के रूप में प्रयोग तभी हुआ है जबकि यह नितान्त आवश्यक हुआ है (जैसे नये उपक्रमों के सम्बन्ध में) अथवा जहाँ इसको लागू न करने से काफी असमानता उत्पन्न हो जाती।

59. भारत में अतिरिक्त लाभ कर विधान (1940 का अधिनियम XV संशोधित होने के बाद) बहुत कुछ ब्रिटिश कानून के नमूने पर बना था। इसके अन्तर्गत 36,000 रु० से नीचे के लाभ पर कर नहीं लगता था। अनुरूप राज्य में कर की दरें कम थीं। 1 सितम्बर 1939 के बाद के अतिरिक्त मुनाफों पर 31 मार्च 1941 तक कर की दर 50 प्रतिशत थी; इसके बाद अतिरिक्त लाभों पर यह 66⅔ प्रतिशत थी। अतिरिक्त लाभ कर-विधान के एक भाग के रूप में युद्धोत्तर जमा की व्यवस्था विस्तृत रूप से अपनाई गई थी। इसके पीछे मुख्य विचार यह था कि अतिरिक्त लाभ क

एक अंश जो कर के रूप में ले लिया गया है वह युद्ध के पश्चात् करदाता को लौटा दिया जायगा। 31 मार्च 1946 के बाद उत्पन्न होने वाले मुनाफों के सम्बन्ध में भारतीय कर हटा दिया गया था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यह कर 1945 के रेवेन्यू अधिनियम के द्वारा पहले ही समाप्त कर दिया गया था और संयुक्त राज्य में यह 1946 के अंत में समाप्त किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका मे 30 जून 1950 के बाद मे समाप्त होने वाले करदेय वर्षों (taxable years) के लिए अतिरिक्त लाभ-कर पुनः लागू कर दिया गया था।

60. यहाँ पर यह तर्क दिया जा सकता है कि अतिरिक्त व्यावसायिक लाभ युद्धकालीन अवधि मे ही नहीं बल्कि मुद्रास्फीति की किसी अन्य अवधि में भी उत्पन्न हो सकते हैं। इस अवधि मे विशाल मात्रा में विकास पर व्यय किया जाता है और भारी मात्रा मे मुनाफा प्राप्त हो सकता है। लेकिन युद्ध-काल में अतिरिक्त लाभ कर के अनुभव ने यह दिखला दिया कि कई दृष्टियों से इसमें स्वेच्छाचारिता का तत्व होता है, विशेषतया सामान्य लाभों का स्तर निर्धारित करने मे। यदि इसका उपयोग कर-प्रणाली के एक सामान्य अंग के रूप मे किया जाना है तो अतिरिक्त मुनाफों के निर्धारण मे प्रतिशत प्रतिफल का आधार ही काम आ सकता है। लेकिन व्यवहार में यह भी सतोषप्रद नहीं होगा क्योंकि पूंजी का मूल्यांकन करना होगा और विभिन्न व्यवसायों की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर ध्यान देना होगा। सामान्य अवधि में अतिरिक्त लाभ कर के सम्बन्ध संयुक्त राष्ट्र अमेरिका व अन्य देशों के अनुभव ने आय पर लगाये जाने वाले करों के प्रचलित रूपों की तुलना में कोई विशेष लाभ नहीं दिखलाये हैं। भारत मे मार्च 1947 मे व्यावसायिक लाभ कर 1946-47 के लाभों पर लगाया गया था और इसकी दर पूंजी पर 6 प्रतिशत से अधिक के लाभों अथवा एक लाख रु० के लाभों, इनमें से जो भी अधिक हो, पर 16 $\frac{2}{3}$ प्रतिशत थी। बाद मे 1948-49 मे कर की दर घटा कर 10 प्रतिशत कर दी गई थी और पूंजी पर प्रतिफल की वह सीमा जिस पर कर लागू नहीं हो सकता था, बढ़ा दी गई थी और अंत मे 1950-51 के बजट मे यह कर समाप्त कर दिया गया था।

61. अतिरिक्त लाभ कर (E.P.T.) पूंजी-लाभ पर कराधान की तरह, अत्यधिक मुद्रास्फीति की अवधि मे, जब कि काफी मात्रा मे लाभ अर्जित किये जाते हैं, काम मे लिये जाने के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है; लेकिन हम अतिरिक्त लाभ-कर अथवा व्यावसायिक लाभ-कर को कर-प्रणाली के

सामान्य भाग के रूप में लागू करने की सिफारिश नहीं करते हैं। साधारणतया वैयक्तिक आयकर और कम्पनी अधिकर (super tax) आय व अन्य उद्देश्यों की दृष्टि से पर्याप्त होते हैं।

62. दूसरा कर जिस पर विचार करने की आवश्यकता है वह नमक पर उत्पादन कर है। यह कर प्राचीन समय से देश की राजस्व व्यवस्था का एक अंग रहा है और भारत में ब्रिटिश सरकार ने इसमें काफी वृद्धि भी की थी। इस देश में गोपालकृष्ण गोखले से प्रारम्भ करके महात्मा गांधी तक सार्वजनिक कार्यकर्ताओं ने सदैव नमक कर का विरोध किया है। इस विरोध की याद की अवस्थाओं में नमक कर ने विदेशी शासन के प्रतीक के रूप में एक राजनीतिक महत्त्व प्राप्त कर लिया था और इसकी समाप्ति स्वतन्त्रता आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम बन गया था। 1947 में स्वतन्त्रता के आगमन से नमक कर समाप्त कर दिया गया और तब से यह पुनः लागू नहीं किया गया है।

63. नमक कर को फिर से लागू करने की वांछनीयता के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए जिस महत्वपूर्ण तत्व पर विचार किया जाना चाहिए वह यह है कि वस्तु-करारोपण के विस्तृत क्षेत्र की वर्तमान पृष्ठभूमि क्या है। केन्द्रीय उत्पादन करों के दायरे में ऐसी वस्तुएँ आती हैं जैसे तम्बाकू, सूती वस्त्र, चीनी, माचिस, चाय आदि जो साधारण जनता के उपभोग में काम आती हैं। बिक्री करों का विकास विस्तृत क्षेत्र को शामिल करने के लिए किया गया है और उनकी करवाह्यता नमक कर से ज्यादा भिन्न नहीं है।

64. इस रिपोर्ट में अन्यत्र हमने केन्द्रीय व राज्यीय क्षेत्रों में उपभोग करों के विस्तार के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये हैं उनसे उपभोग करों के भार में और भी वृद्धि होगी। अतः यदि हम उपभोग करों के विस्तार एवं इनसे प्राप्त आय की अब तक की वृद्धि एवं भविष्य में हो सकने वाली वृद्धि पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उपभोग-करों पर लादा जाने वाला नमक-कर केवल इस आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता कि अपने आप में इसकी करवाह्यता या करापात अपेक्षाकृत कम होता है।

65. एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व भी होता है जो नमक कर को सामान्य उपभोग की वैसी ही अन्य वस्तुओं जैसे खाद्य फसलों पर लगे हुए उसी प्रकार के करों से पृथक करता है। कर-प्रणाली की सामान्य करवाह्यता की जांच

के समय हमने यह बतलाया था कि खाद्य-फसलों का एक बड़ा भाग घरेलू उपभोग के लिए उत्पन्न किया जाता है न कि बिक्री के लिए। इसी वजह से यह वस्तु करों की पहुँच से दूर होता है। इसके विपरीत नमक छोटे रियायती भू-भागों में उत्पन्न किया जाता है, लेकिन यह सीमित मात्रा तक ही निजी उपभोग में प्रयुक्त किया जाता है, और इसकी लगभग सम्पूर्ण मात्रा नकद ही बेच दी जाती है। चूंकि नमक शायद ही कभी जीवन-निर्वाह स्तर पर उत्पन्न किया जाता है और ऐसा कृषिगत फसलों में नहीं होता है, इसलिए यह कर से नहीं बच सकता है जिससे यह अपने प्रभाव में अपेक्षाकृत अवरोही (regressive) होता है। नमक कर इस कारण से भी अवरोही होता है कि मनुष्य की भोजन की वस्तु के रूप में इसका उपभोग अधिकांश रूप में बेलोच होता है। इसी कारण से इसका भार निम्न आमदनी वाले व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। इसके अतिरिक्त चूंकि शारीरिक श्रम में लगे हुए व्यक्तियों को दैहिक कारणों से अपनी खुराक में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा ज्यादा नमक की आवश्यकता होती है, इसलिए इस कर का भार ऐसे व्यक्तियों पर न केवल आय को देखते हुए अधिक होता है बल्कि निरपेक्ष रूप में भी अधिक होता है।

66. नमक कर पर एक राजकोषीय उपाय के रूप में चर्चा करते समय इसके राजनीतिक पहलू को भी नहीं भुलाया जा सकता है। कर इसलिए लगाये जाते हैं कि आय प्राप्त की जा सके और प्रशासनिक समस्या के रूप में कर के संग्रह में यह मान लिया जाता है कि जिन लोगों को कर देना है वे उचित सीमा तक अपनी प्रतिक्रिया का परिचय देंगे। एक कर में चाहे जो गुण हों लेकिन यदि इससे व्यापक नाराजगी और आम जनता का विरोध पैदा हो जाता है तो उस सीमा तक यह एक अवांछनीय कर माना जाना चाहिए। हमने अपनी जांच के दौरान जो कुछ सुना है उसमें यह बात विशेषतया नमक कर पर लागू होती है और हमारा विचार है कि इसको भुलाना निर्णय की दृष्टि से एक गम्भीर त्रुटि ही होगी।

अन्तर-सरकारी कर समन्वय और कर-अनुसंधान :—

67. कर-नीति का हमारा विवेचन उस समय तक पूर्ण नहीं माना जायगा जब तक कि केन्द्रीय सरकार और राज्यों के बीच और स्वयं विभिन्न राज्यों के बीच कर मामलों के समन्वय के महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ चर्चा न करली जाय।

के समय हमने यह बतलाया था कि खाद्य-फसलों का एक बड़ा अंश घरेलू उपभोग के लिए उत्पन्न किया जाता है न कि बिक्री के लिए। इसी वजह से यह वस्तु करों की पहुँच से दूर होता है। इसके विपरीत नमक छोटे रियायती भू-भागों में उत्पन्न किया जाता है, लेकिन यह सीमित मात्रा तक ही निजी उपभोग में प्रयुक्त किया जाता है, और इसकी लगभग सम्पूर्ण मात्रा नकद ही बेच दी जाती है। चूंकि नमक शायद ही कभी जीवन-निर्वाह स्तर पर उत्पन्न किया जाता है और ऐसा कृषिगत फसलों में नहीं होता है, इसलिए यह कर से नहीं बच सकता है जिससे यह अपने प्रभाव में अपेक्षाकृत अवरोही (regressive) होता है। नमक कर इस कारण से भी अवरोही होता है कि मनुष्य की भोजन की वस्तु के रूप में इसका उपभोग अधिकांश रूप में बेलोच होता है। इसी कारण से इसका भार निम्न आमदनी वाले व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। इसके अतिरिक्त चूँकि शारीरिक श्रम में लगे हुए व्यक्तियों को दैहिक कारणों से अपनी खुराक में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा ज्यादा नमक की आवश्यकता होती है, इसलिए इस कर का भार ऐसे व्यक्तियों पर न केवल आय को देखते हुए अधिक होता है बल्कि निरपेक्ष रूप में भी अधिक होता है।

66. नमक कर पर एक राजकोषीय उपाय के रूप में चर्चा करते समय इसके राजनीतिक पहलू को भी नहीं भुलाया जा सकता है। कर इसलिए लगाये जाते हैं कि आय प्राप्त की जा सके और प्रशासनिक समस्या के रूप में कर के संग्रह में यह मान लिया जाता है कि जिन लोगों को कर देना है वे उचित सीमा तक अपनी प्रतिक्रिया का परिचय देंगे। एक कर में चाहे जो गुण हों लेकिन यदि इससे व्यापक नाराजगी और आम जनता का विरोध पैदा हो जाता है तो उस सीमा तक यह एक अवांछनीय कर माना जाना चाहिए। हमने अपनी जांच के दौरान जो कुछ सुना है उसमें यह बात विशेषतया नमक कर पर लागू होती है और हमारा विचार है कि इसको भुलाना निर्णय की दृष्टि से एक गम्भीर त्रुटि ही होगी।

अन्तर-सरकारी कर समन्वय और कर-अनुसंधान :—

67. कर-नीति का हमारा विवेचन उस समय तक पूर्ण नहीं माना जायगा जब तक कि केन्द्रीय सरकार और राज्यों के बीच और स्वयं विभिन्न राज्यों के बीच कर मामलों के समन्वय के महत्वपूर्ण विषय पर कुछ चर्चा न करली जाय।

68. प्रत्यक्ष कराधान के क्षेत्र में तो समन्वय की कोई समस्या ही नहीं आन पड़ती है क्योंकि भारत में, कुछ अन्य संघीय व्यवस्थाओं के विपरीत, राज्य सरकारों को गैर-कृषि आमदनी पर आयकर लगाने का अधिकार नहीं है। लेकिन उन्हें कृषि-आय पर आयकर लगाने का हक है। उनमें से कुछ तो पहले से ही इस अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं और हमने यह सुझाव दिया है कि अन्य राज्यों को भी ऐसा ही करना चाहिए। जिस सीमा तक केन्द्रीय आयकर की वैयक्तिक दर निर्धारित करने के लिए कृषिगत आय गैर कृषि आय के साथ मिलाई जाती है और कृषिगत आय पर राज्यीय करों की वैयक्तिक दर को निर्धारित करने के लिए गैर कृषि आय कृषि-गत आय के साथ मिला दी जाती है, उस सीमा तक इसके सफल संचालन के लिए केन्द्रीय व राज्य सरकारों की कर लगाने की मशीनरी के बीच काफी सहयोग का होना आवश्यक है।

69. वस्तु-कराधान के क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार और राज्यों के बीच सबसे ज्यादा सहयोग और समन्वय की आवश्यकता होती है। भारत में जिस तरह से बिक्री करों का विकास हुआ है उसमें न केवल सामान्य बिक्री पर लगाये जाने वाले कर शामिल हैं बल्कि उसमें विशिष्ट वस्तुओं पर लगाये जाने वाले विशिष्ट कर भी शामिल हैं जिनमें से अनेक को केन्द्रीय सरकार ने उत्पादन करों के रूप मे कराधान के अन्तर्गत ले रखा है। इसके अलावा आर्थिक नीति के उद्देश्य की दृष्टि से राज्यीय बिक्री कर-व्यवस्था के प्रयोग के सम्बन्ध में भी कुछ प्रश्न हैं जिनका राज्यों की परिधि से बाहर के क्षेत्रों व हितों पर प्रभाव पड़ सकता है। हमने इस रिपोर्ट के आगे के पृष्ठों में विभिन्न स्थानों पर वैयक्तिक करों के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान आकर्षित किया है जिस पर कुछ एकीकृत रूप मे विचार व कार्य किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त संघ के विभिन्न राज्यों के बीच कर के अनुभव व सूचना के विनिमय का भी बहुत महत्त्व है।

70. इन सबके अलावा इस बात को देखते हुए कि हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक वित्त का महत्त्व बढ़ रहा है और जिस सीमा तक राजस्व प्रणाली के केन्द्रीय, राज्यीय व स्थानीय अंग एक दूसरे के सम्पर्क में आते जा रहे हैं, कराधान व व्यय की समस्याओं के प्रति एक एकीकृत व राष्ट्रीय दृष्टि-कोण के विकसित करने की आवश्यकता हो जाती है चाहे इसका सम्बन्ध केन्द्रीय क्षेत्र से हो अथवा राज्य एवं स्थानीय क्षेत्रों से हो। वैयक्तिक करों की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में भी आंकड़े एकत्र करने की पहले से ज्यादा आवश्य-

कता है। ऐसा न केवल वित्तीय परिणामों के मूल्यांकन की दृष्टि से किया जाना चाहिए बल्कि विशुद्ध आय के दृष्टिकोण को छोड़कर राजस्व नीति के अन्य उद्देश्यों को प्राप्त करने में इनकी प्रभावोत्पादकता के मूल्यांकन के लिए तो और भी ज्यादा मात्रा में किया जाना चाहिए। उदाहरणस्वरूप उस सीमा की समय-समय पर जांच की जानी चाहिए जहां तक इस रिपोर्ट में हमारे द्वारा सुझाई गई उत्पादन व विनियोग के लिए दी गई कर-सम्बन्धी प्रेरणाएं उन उद्देश्यों को प्राप्त करा पाती हैं जिनके लिए ये लागू की गई हैं। औद्योगिक व व्यापारिक जगत में राज्यीय उपक्रमों का एक विस्तृत क्षेत्र भी है जिसमें विभिन्न राज्यों एवं केन्द्रीय सरकार के वैयक्तिक अनुभव को एकत्र करना सर्वाधिक लाभप्रद होगा। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने और द्वितीय योजना के शुरू होने की स्थिति में हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस बात पर शीघ्र ध्यान दिया जाना चाहिए कि राज्यों के कर-सम्बन्धी प्रयत्नों में भी आयोजित विकास की भांति बड़ी मात्रा में समन्वय स्थापित किया जाय।

71. उन मामलों के विस्तार को देखते हुए जिसमें कर-सम्बन्धी प्रयत्न और कर नीतियों में समन्वय की आवश्यकता होती है और एक ऐसे संगठन की आवश्यकता को देखते हुए जिसके अन्तर्गत विभिन्न योजनाओं में समन्वय स्थापित करने के लिए कर समस्या के विशेष पहलुओं की जांच की जा सकती है, हम संविधान की धारा 263 के अन्तर्गत अखिल भारतीय कराधान परिषद की स्थापना की सिफारिश करते हैं जिसमें केन्द्रीय सरकार व समस्त राज्यों के प्रतिनिधि होंगे। परिषद् का मुख्य उद्देश्य राज्यों की कर नीतियों, कर विधान एवं कर-प्रशासन में आवश्यकतानुसार समन्वय स्थापित करना होगा जो स्वयं राज्यों के बीच और संघ व राज्यों के बीच स्थापित किया जायगा। राज्यों से सम्बन्धित कर के मामलों में वे भी शामिल होंगे जिनका उनकी स्थानीय संस्थाओं से सम्बन्ध है। राज्यों के बीच पाये जाने वाले विवाद एवं एक या अधिक राज्यों और संघ के बीच होने वाले विचाराधीन विषय जिनको एक बड़ी संस्था के समक्ष रखना वांछनीय माना जायगा, परिषद के समक्ष लाये जा सकेंगे। आम प्रश्नों पर समय-समय पर विवेचन करने के लिए एक संगठित संस्था की व्यवस्था करना संघ व राज्यों एवं स्वयं राज्यों के बीच कर-समन्वय एवं सहयोग की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

72. यह वांछनीय होगा कि इस संस्था में सम्बन्धित सरकारों का राजनीतिक स्तर पर अर्थात् मंत्रियों के द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाय। अतएव

हमारा यह सुझाव है कि परिषद् के सदस्य वित्त व स्थानीय स्वशासन
के संघीय व राज्यीय मंत्री हों। लेकिन भारत में निम्न व्यवस्था भी
चाहिए . (अ) सरकारी एवं गैर सरकारी समितियों के जरिए विशे
सहायता और (आ) सम्बन्धित प्रश्नों का निरन्तर विशेषज्ञों के स्तर पर अ
परिषद् जब कभी आवश्यक हो गैर-सरकारी व सरकारी व्यक्तियों की
तदर्थ (ad hoc) या सलाहकार समितियां नियुक्त कर सकती है। परि
तत्वावधान में नियतकालिक या अन्य सम्मेलन (जैसे विभिन्न राज्यों ए
के वित्त कर अधिकारियों का वार्षिक सम्मेलन) भी किया जा सक
इस संस्था को यह रूप देना सम्भव नहीं होगा कि यह एक ऐसे कार्य के
निश्चित औपचारिक (formal) निर्णय ले सके अथवा औपच
सिफारिशें प्रस्तुत कर सके जिनके प्रति सभी सदस्य सहमत न हों। अतः
तक हो सके परिषद् की कार्य-प्रणाली अनौपचारिक ही रखी जाय।

73. परिषद् के अस्तित्व का यह अर्थ नहीं है कि संघ और ए
अन्य राज्यों के बीच अथवा विभिन्न राज्यों के बीच द्विपक्षीय अथवा
किस्म की बहस व बातचीत आदि की साधारण विधि का उपयोग नहीं हो

74. परिषद् का एक स्थाई सचिवालय कर अनुसंधान ब्यूरो (
Research Bureau) होगा जो वित्त-मंत्रालय से जुड़ा हुआ हो। प
के समक्ष उत्पन्न होने वाले विशिष्ट प्रश्नों की जांच के अतिरिक्त यह स
संघीय, राज्यीय व स्थानीय करों से सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन
सामग्री के सतत् संग्रह व समन्वय का कार्य भी करेगा। हम इस सगठन
स्थापना की निम्न कारणों से सिफारिशें करते हैं: सम्पूर्ण कर प्रणाली और इ
मुख्य अंगों—केन्द्रीय, राज्यीय एवं स्थानीय करों का अध्ययन किया जा
विदेशी कर-प्रणालियों की प्रमुख नई प्रवृत्तियों का ध्यान रखा जाय;
सम्बन्धी आंकड़ों के लिए एक समन्वयात्मक एजेन्सी का काम करना
राजस्व-विश्लेषण (fiscal analysis) एवं अनुसंधान के लिए आंकड़ों में सुध
करने के लिए कदम उठाना; विशेष करों या कर समूहों के *क्रियान्वयन*
सम्बन्ध में, बचत एवं पूंजी-निर्माण पर प्रत्यक्ष कराधान के प्रभावों के सम्ब
में, विशेष उद्योगों पर विशेष करों के भार के बारे में और केन्द्रीय व राज्यी
वस्तु-कराधान आदि के बीच उत्पन्न हो सकने वाले अतिछादन (overlap
वगैरः के सम्बन्ध में समय-समय पर विशेष जांच करवाना और साधारणतय
सरकारों को वस्तु-सामग्री और प्राविधिक सलाह प्रदान करके कर-नीतियों के
निर्माण में मदद पहुंचाना। यह सगठन अलग-अलग राज्य सरकारों की वित्तीय

स्थिति का सतत अध्ययन भी अपने हाथ में ले सकता है जैसा कि वित्त आयोग ने सुझाया था। भारत में सार्वजनिक वित्त की वार्षिक समीक्षा को प्रकाशित करना भी इसके कर्त्तव्य का एक अंग होगा। इसमें केन्द्रीय व राज्य सरकारों के साथ-साथ स्थानीय संस्थाएँ भी शामिल होंगी।

75. ऐसे कार्य को सरकार के तत्त्वावधान में करवाना ही पर्याप्त नहीं होगा। हमारा यह मत है कि इन क्षेत्रों मे विश्लेषणात्मक कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए विश्वविद्यालयों व अन्य गैर-सरकारी अनुसंधान-संस्थाओं में कुछ सक्रिय कदम उठाये जाय। अतएव हम इस बात की सिफारिश करते हैं कि चुनी हुई अनुसंधान संस्थाओं में सार्वजनिक वित्त व सार्वजनिक सेवाओं के सम्बन्ध में छोटे अनुसंधान केन्द्रों के लिए वित्तीय व्यवस्था की जाय। ऐसे केन्द्रों व हमारे द्वारा प्रस्तावित कर अनुसंधान ब्यूरो के बीच निकट सम्पर्क की भी व्यवस्था की जाय। यदि विश्वविद्यालयों मे स्थापित अनुसंधान केन्द्र ठीक दिशा मे प्रगति करते है तो समय पाकर कर अनुसंधान ब्यूरो एवं चुने हुए अधिकारियों के सहयोग से इनका उपयोग कर अधिकारियों के लिए प्रबोधन व प्रशिक्षण पाठ्यक्रम (refresher and training courses) की व्यवस्था में सहायता करने मे किया जा सकता है।

3

करापात

आर. ए. मसग्रेव
(मिशिगन विश्वविद्यालय)

प्रस्तुत लेख का प्रयोजन सामान्य सतुलन की पृष्ठभूमि में उत्पादन-कर एवं आयकर के आपात की तुलना करना है। यह कोई आसान काम नहीं है। हम शुरु में ही भटक न जाँय, इसलिए यह लाभप्रद होगा कि हम अपना विश्लेषण एक सम्पूर्ण-उपभोग की अर्थ-व्यवस्था में पाई जाने वाली सरल स्थिति से ही करें। तत्पश्चात् हम नवक्लासिकल मॉडल के अन्तर्गत एक अधिक वास्तविक स्थिति का अध्ययन करेंगे जहाँ पूजी-निर्माण हो सकता है। अंत में एक तरलता-पसदगी मॉडल जैसी अधिक जटिल स्थिति पर विचार किया जायगा, लेकिन इस बार वह संक्षेप में ही होगा।

1. सम्पूर्ण-उपभोग वाले मॉडल में करापात

सर्वप्रथम, उन शब्दों की परिभाषा करना उपयुक्त होगा जिनका आगे के विवेचन मे उपयोग किया गया है। कराधान के "आपात एवं प्रभावों" के अध्ययन मे हम एक सतुलन की स्थिति से प्रारम्भ करते हैं जिसमे करों एवं सार्वजनिक व्ययों का एक दिया हुआ ढांचा एक महत्त्वपूर्ण अग होता है। बजट-नीति में कुछ परिवर्तन किये जाते हैं और समायोजन होते हैं, एवं एक नया संतुलन प्राप्त किया जाता है। उसके बाद हम नई स्थिति की तुलना पुरानी से करते हैं।

सम्पूर्ण परिवर्तन की जाँच करते समय हमें इसके विभिन्न पहलुओं के बीच अतर करना होगा। जैसे हमें यह जानना होगा कि क्या साधनों का सार्वजनिक व निजी उपयोगों के बीच हस्तान्तरण हुआ है। यह सार्वजनिक [illegible] व सेवाओं के व्ययों में होने वाले परिवर्तनों का कार्य है और इसे [illegible]स्तुओं [illegible]तान्तरण" कह सकते हैं। हमें यह भी जानना होगा कि निजी "साधन-ह[illegible] उपलब्ध होने वाली वास्तविक आय के वितरण में क्या कोई उपयोग के लि[illegible] मैं इसे "करापान" कहना चाहूँगा। अंत में हम यह जानना परिवर्तन हुआ है[illegible] कि क्या कुल [illegible]उत्पत्ति में कोई परिवर्तन हुआ है। इसे "उत्पत्ति-प्रभाव"

कहा जा सकता है। ये तीनों परस्पर निर्भर होते हैं, लेकिन समग्र परिवर्तन के अलग-अलग मापनीय पहलू माने जाते हैं। इन विशिष्ट परिभाषाओं के जो चाहे गुण हों, लेकिन ये कम-से-कम उस अस्पष्टता से तो मुक्त हैं जो बहुधा कराधान के "आपात एवं प्रभावों" के साथ जुड़ी हुई होती है।

अब हम बजट समायोजन की विभिन्न किस्मों पर विचार करेंगे और वितरण अथवा करापात में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों का माप करेंगे। उदाहरणार्थ, हम सार्वजनिक व्ययों को स्थिर रख कर करों से प्राप्त आय में वृद्धि अथवा कमी कर सकते हैं।[1] मैं इसे "निरपेक्ष करापात"[2] कहना चाहूँगा। अथवा हम एक कर की जगह उतनी ही आय वाला दूसरा कर प्रतिस्थापित कर सकते हैं।

---

1. इसमें यह मान्यता निहित है कि आय के रूप में प्राप्त होने वाला लाभ कर-प्रणाली में से वापिस ले लिया जायगा, अथवा खोई गई आय मुद्रणालय के वित्त से पूरी करदी जायगी।

2. जैसा कि मूलपाठ में बतलाया गया है, निरपेक्ष करापात आय की दशाओं में होने वाला वह परिवर्तन है जो कराधान के स्तर में होने वाले परिवर्तन से उत्पन्न होता है और इस स्थिति में सार्वजनिक व्यय स्थिर रहता है। इसका अंतर भेदात्मक करापात या करवाहृता से करना होगा जिसमें वितरण के ऐसे परिवर्तन मापे जाते हैं जो उस समय उत्पन्न होते हैं जब कि समान आय देने वाला एक कर दूसरे की जगह बदला जाता है। जहाँ तक व्यय के परिवर्तनों का सम्बन्ध है, हम इसी तरह से निरपेक्ष एवं भेदात्मक व्ययापात के बारे में भी कह सकते हैं।

   हम पाठक को यहाँ चेतावनी देना चाहते हैं कि "निरपेक्ष" शब्द केवल "भेदात्मक" के विपरीत अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। विशेषत: "निरपेक्ष करापात" शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कर के लागू होने से सम्पूर्ण समूह पर कोई निरपेक्ष भार पड़ेगा, जैसा कि सार्वजनिक उपयोग के लिए साधनों के हस्तान्तरण से होता है। साधन-हस्तान्तरण कर के परिवर्तनों का नहीं बल्कि व्यय का परिणाम होता है।

   इन धारणाओं के अधिक विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—

   Papers and Proceedings, Sixty-fifth Annual Meeting of the American Economic Association, Chicago, 1952

इसको मैं "विभेदात्मक करापात" कहता हूँ। अथवा हम वितरण के उस परिवर्तन को मालूम कर सकते हैं जो करों एवं खर्चों को एक-सी मात्रा तक बढ़ाने से उत्पन्न होता है। इसे मैं "संतुलित बजट करापात" कहता हूँ। इसी प्रकार अन्य संयोगों पर भी विचार किया जा सकता है।[3] इनमें से प्रत्येक दृष्टिकोण वांछनीय होता है और उसका उपयोग किया जा सकता है, बशर्ते कि उसको व्यवस्थित रूप से निभाया जाय।

करापात सापेक्ष कीमत-परिवर्तन के फलन के रूप में
(Incidence—A Function of Relative Price Change)

वितरण की स्थिति में होने वाले ऐसे परिवर्तन जो कर-नीति के परिवर्तनों से उत्पन्न होते हैं, सापेक्ष साधन एव वस्तु-कीमतों के परिवर्तनों पर निर्भर करते हैं। विनिमय अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति बाजार से दो तरह से सम्बद्ध रहता है :—(1) एक तो उस कीमत के द्वारा जो उसे अपनी सेवाओं की बिक्री से प्राप्त होती है और (2) उस कीमत के द्वारा जो उसे उन वस्तुओं के लिए देनी होती है जिन्हें वह खरीदता है। जब कर-नीति में कोई परिवर्तन किया जाता है तो हो सकता है कि बजट के स्रोतों और उपयोगों दोनों तरफ ही उसकी सापेक्ष स्थिति बदल जाय।

हो सकता है कि स्रोतों की तरफ उसकी खर्च की जाने वाली आय में परिवर्तन हो जाय, ऐसा या तो उसकी आमदनी के परिवर्तन के कारण हो सकता है अथवा उसके वैयक्तिक कर सम्बन्धी दायित्वों के परिवर्तन से उपयोग-पक्ष की ओर हो सकता है कि उसके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं की कीमतें बदल जाय, ऐसा या तो मांग के परिवर्तनों से उत्पन्न लागत के परिवर्तनों के कारण होता है, अथवा वस्तुओं के कराघात में होने वाले परिवर्तनों के कारण। किसी भी व्यक्ति की स्थिति में होने वाले परिवर्तन का अनुमान लगाते समय हमें स्रोतों एवं उपयोगों दोनों तरफ उसकी स्थिति के परिवर्तनों पर ध्यान देना होगा।

(American Economic Review, Suppl. [1953]) में मेरे लेख "General Equilibrium Aspects of Incidence Theory" का प्रथम खण्ड। नीचे संख्या 24 भी देखें।

3. निरपेक्ष कर और निरपेक्ष व्यय के आपात के मामलों में सम्मिश्रण किया जा सकता है ताकि कर व खर्च के संतुलित न होने वाले समायोजनों का आपात जाना जा सके।

उदाहरण के लिए, एक ऐसी स्थिति को लीजिए जिसमें दो व्यक्ति क और ख हैं, जो क्रमश: दो साधन म और भा बेचते हैं और दो वस्तुएँ प और फ खरीदते हैं। अब यदि म की कीमत भा की तुलना में बढती है और/अथवा प की कीमत फ की तुलना मे घटती है, तो क की स्थिति ख की तुलना में सुधरेगी; और ख के लिए उलटा सम्बन्ध लागू होगा। हम क की आमदनी में होने वाले परिवर्तन को निम्नांकित ढग से माप सकते हैं :–

$\Delta R = \Delta E - \Delta T_p - Q_r \Delta P_r + Q_f \Delta P_f$, जहाँ ΔR वास्तविक आय के परिवर्तन को सूचित करना है, ΔE आय के परिवर्तन को, ΔT_p वैयक्तिक करों के परिवर्तन को, Q_r और Q_f उन वस्तुओं की खरीदी गई नई मात्राओं को जिनकी कीमतें क्रमश: बढ़ी व घटी हैं, और ΔP_r और ΔP_f वस्तुओं की कीमतों में क्रमश: कमी या बढोतरी को सूचित करते हैं।[4] करापात ΔR के द्वारा परिभाषित आय के वितरण में होने वाले परिवर्तनों का माप करता है।

---

4. वैकल्पिक रूप मे हम यों लिख सकते हैं $\Delta R = (E_1 - T_{p_1})/P_1 - (E_o - T_{po})/P_o$, जहाँ P_o वह कीमत सूचनांक है जिसे प्रथम अवधि के खर्चों के अनुसार भार दिया गया है, और P_1 वह सूचनांक है जिसे कर के परिवर्तन से समायोजन के पश्चात् किये जाने वाले खर्चों के अनुसार भार दिया गया है।

एक कठिन प्रश्न के सम्बन्ध मे यह संक्षिप्त कथन कम से कम मोटे तौर से यह दिखलाने के लिए दिया गया है कि करापात के माप का क्या आशय है। प्रस्तावित माप पूर्णता से दूर है। जब एक कर के स्थान पर दूसरा कर लगाया जाता है तो विभिन्न व्यक्तियों के बीच लाभ-हानि अनिवार्यत: कट नहीं जाती है, अथवा बजट में वृद्धि करने पर विशुद्ध हानि अनिवार्यत: प्राप्त आय के बराबर नहीं हो जाती है। लगाई जाने वाली साधनों की इकाइयों के यथास्थिर रहने पर भी ये कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती है, लेकिन इनसे टालना सुगम नहीं होता है। वर्तमान उद्देश्य की दृष्टि से तो यह ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि कर-नीति के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले आर्थिक तथ्यों के सारे परिवर्तनों की जानकारी होने पर भी करापात का माप एक कठिन विषय ही बना रहेगा।

सापेक्ष कीमत-परिवर्तन कर-विभेद का फलन होते हैं

(Relative Price Changes—A Function of Tax Discrimination)

आगे हम यह देखते हैं सापेक्ष कीमतों में होने वाले परिवर्तन (और इसी वजह से करापात में), जो कर-नीति के विशेष परिवर्तनों से उत्पन्न होते हैं, सामान्यता के अंश अथवा इसके अभाव (विभेद) पर निर्भर करते हैं जो विशेष करों में निहित होती है। यही एक महत्वपूर्ण तत्व है, यह नहीं कि हमारा सम्बन्ध आय से है अथवा वस्तु-करों से।

हमारे सम्पूर्ण उपभोग वाले मॉडल की चक्रीय प्रवाह की प्रणाली (circular-flow system) में समस्त सौदे साधन-सौदों एवं वस्तु-सौदों में विभाजित किये जा सकते हैं।[5] कोई भी कर किसी-न किसी सौदे पर लगाया जायगा, लेकिन यह विभिन्न पहलुओं में सामान्य या विभेदकारी हो सकता है।[6] सारणी 1 का वर्गीकरण नई दिशा में ले जाने की स्थिति प्रस्तुत करता है।

सामान्य कर :—हम सर्वप्रथम सामान्य करों के आपात पर विचार करते हैं। सारणी 1 में दो प्रकार के वास्तविक सामान्य कर दिखलाये गये हैं : मद-संख्या 1 समस्त वस्तु सौदों पर लागू होती है और मद संख्या 3 समस्त साधन सौदों पर लागू होती है।

---

5. विषय को सरल रखने के लिए हम यह मान लेते हैं कि समस्त वस्तुओं में उत्पादन की एक ही अवस्था होती है।

6. हम यहाँ पर उन इकट्ठी राशि वाले करों के विशेष मामले को छोड़ देते हैं जो आर्थिक कार्यों पर निर्धारित नहीं किये जाते हैं।

सारणी 1
कर-विभेद की किस्में

	निम्न पर कर लागू होता है			
	समस्त विक्रेता व समस्त क्रेता	कुछ विक्रेता समस्त क्रेता	कुछ क्रेता समस्त विक्रेता	कुछ क्रेता व कुछ विक्रेता
वस्तुओं पर कर :				
समस्त ...	1	5	9	13
कुछ ...	2	6	10	14
साधनों पर कर :				
समस्त ...	3	7	11	15
कुछ ...	4	8	12	16

प्रथम नियम तो यह है कि इस बात का कोई महत्व नहीं है कि ऐसा कर बाजार के विक्रेता पक्ष पर लागू किया जाता है अथवा क्रेता पक्ष पर। वस्तुओं के सौदों पर लगाये जाने वाले कर के सम्बन्ध मे इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि यह कर सामान्य बिक्री-कर का रूप ग्रहण करता है अथवा सामान्य व्यय-कर का। समस्त साधन-सम्बन्धी सौदों पर लगाये जाने वाले कर के बारे में भी इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि यह आय-कर का रूप लेता है, अथवा साधनों की खरीद पर कर का रूप लेता है। बिक्री-कर के बदले में व्यय प्रतिस्थापित कर देने से स्थिति अपरिवर्तित बनी रहती है जैसे कि आय-कर के लिए साधन की खरीद को प्रतिस्थापित करने से बनी रहती है। यह समानता, जिस पर पहले एजवर्थ ने ध्यान दिया था, विभेदकारी एवं सामान्य करों दोनों पर लागू हो जाती है, लेकिन दूसरी स्थिति में इसका विशेष महत्व होता है।[7]

7. विभेदकारी करों के सम्बन्ध मे क्रेताओं अथवा विक्रेताओं के लक्षण अंतर का आधार बनाये जा सकते हैं, इस प्रकार इस बात की आवश्यकता हो सकती है कि कर क्रेता अथवा विक्रेता-पक्ष की ओर मोड़ा जाय।

द्वितीय, और भी रुचिप्रद बात यह है कि हम देखते हैं कि समस्त साधन सम्बन्धी सौदों पर लगाये जाने वाले कर और समस्त वस्तु-सौदों पर लगाये जाने वाले कर में कोई अंतर नहीं होता है। एक को दूसरे से प्रतिस्थापित कर लेने पर भी सापेक्ष वस्तु और साधन-कीमतें अपरिवर्तित बनी रहती हैं। यद्यपि परिणामस्वरूप सापेक्ष कीमतें बदल सकती हैं, लेकिन सापेक्ष मूल्य और फलस्वरूप करापात अपरिवर्तित बने रहते हैं। अतएव हम इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक सच्चा सामान्य आय-कर और बिक्री कर सम्पूर्ण उपभोग के मॉडल मे समान होते हैं। इस बात को स्वीकार कर लेने पर कि वस्तु और साधन-सौदों पर सच्चे सामान्य कर एक से होते हैं ताकि भेदात्मक करापात तटस्थ रह सके, यह प्रश्न उठता है कि ऐसे करों का निरपेक्ष आपात कैसा होता है ? जब हम इस तरह से प्रश्न करते हैं तो सार्वजनिक खर्चों के सम्बन्ध मे मान्यताएं स्वीकार करने की आवश्यकता हो जाती है। मान लीजिए, इस किस्म का एक सामान्य कर लागू कर दिया जाता है और सार्वजनिक खर्च उतनी ही मात्रा मे बढ़ा दिये जाते हैं। यदि हम यह मान लें कि (अ) साधनों की पूर्ति बेलोच है, (आ) निजी उपयोग के लिए उपलब्ध होने वाली आय मे आने वाली कमी से निजी माग के प्रारूप में कोई परिवर्तन नही होता है, और (इ) सार्वजनिक मांग ठीक उन्हीं साधनों की ओर जाती है जो निजी मांग से मुक्त हो पाते हैं; तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कर और व्यय की ऐसी योजना का संतुलित बजट करापात सापेक्ष दशाओं को अपरिवर्तित रहने देगा। ऐसी स्थिति में निरपेक्ष बजट करापात आनुपातिक होगा।

ये मान्यताए कहां तक वास्तविक हैं ? साधनों की बेलोच पूर्ति की मान्यता एक विशेष कर की दशा मे लागू नही होती है, लेकिन एक सच्चे सामान्य कर की वर्तमान पृष्ठभूमि में यह काफी वास्तविक हो सकती है। यदि विभिन्न साधनो की पूर्ति लगभग लोचदार होती है तो प्रतिफल की सापेक्ष दरें, उदाहरण के लिए, कर से पूर्व विभिन्न प्रकार की दक्षता के लिए दी जाने वाली मजदूरी की दरें, अधिक लोचदार साधन के पक्ष मे परिवर्तित हो जायेंगी। इस स्थिति मे आय की सापेक्ष दशाएं बदल जायेंगी।[8] मांग के स्थिर

8. ध्यान रहे कि हमारा क्रियाशील माप (operational measure) सर्व योग्य मौद्रिक आय को कीमतों के अनुसार कम कर देने पर प्राप्त राशि में होने वाले परिवर्तनों के जरिए होना है। इसमें उस भार या लाभ की व्यवस्था नहीं की गई है जो समय के कार्य और अवकाश के बीच किये

प्रारूप की मान्यता वास्तविक नहीं होती है। निजी उपयोग के लिए उपलब्ध होने वाली आय में परिवर्तन होने से वैयक्तिक प्राथमिकताएं बदल जाती हैं और सरकार का प्राथमिकता का प्रारूप निजी क्रेताओं के प्रारूप से भिन्न होता है। इस प्रकार मांग के प्रारूप में होने वाले परिवर्तन आय के उपयोगों व स्रोतों दोनों की दृष्टि से व्यक्तिगत दशाओं को प्रभावित करेंगे। लेकिन अधिकांश परिस्थितियों में हम यह आशा कर सकते हैं कि वैयक्तिक दशाओं में होने वाले ऐसे परिवर्तन आय के सभी आकार-समूहों वाले व्यक्तियों में समान रूप से होते हैं। जहां तक यह स्थिति पाई जाती है, ऐसे परिवर्तन वैयक्तिक दशाओं को तो प्रभावित करते हैं लेकिन आय के समूहों के अनुसार आय के आकार-वितरण (size distribution) को परिवर्तित नहीं कर पाते हैं। इस अर्थ में सम्पूर्ण बजट-प्रक्रिया का करापात आनुपातिक बना रहता है। [9]

भेदात्मक कर (Discriminatory taxes) :—

अब हम विभिन्न भेदात्मक करों के अन्तरजनित करापात पर आते हैं। हम मद संख्या 2 से प्रारम्भ करते हैं, जिसमें वस्तु-सौदों पर एक कर लगाया जाता है जो समस्त सौदा लेने वालों पर लागू होता है, लेकिन यह कुछ वस्तुओं पर ही लागू होता है।

इस कर के बदले में एक सामान्य कर (चाहे वह सारणी 1 की मद संख्या 1 हो अथवा मद संख्या 3 हो) लगा देने से कर लगी हुई वस्तुओं की कीमत कर-मुक्त वस्तुओं की तुलना में बढ़ जाती है। और इससे उन साधनों की आय में कमी हो जाती है जिन्हें कर लगी हुई वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है, बनिस्बत उन साधनों के जिन्हें कर-मुक्त वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होता है। कुल मिलाकर इससे उन लोगों की आमदनी की स्थिति में सुधार होगा जिनकी प्राथमिकता कर मुक्त वस्तुओं के

जाने वाले पुनर्वितरण के कारण उत्पन्न होती है। न इसमें उन जटिल समस्याओं की व्यवस्था की गई है जो परोक्ष करों के "अतिरिक्त भार" से सम्बन्धित होती हैं।

9. यहां पर यह मान लिया गया है कि करापात, आकार के अनुसार होने वाले आय के वितरण में होने वाले परिवर्तन के माध्यम से मापा जाता है, अर्थात् लोरेन्ज वक्र से मापा जाता है। देखिए मेरा लेख जिसका उल्लेख ऊपर फुटनोट संख्या 2 में आया है।

पक्ष में होती है और जिनकी आय उन साधनों से होती है जो प्रमुखतया कर मुक्त वस्तुओं के उत्पादन में लगाये जाते हैं। यह नहीं बल्कि इसमें उन लोगों की आमदनी की स्थिति भी बिगड़ जायगी जो प्रमुख रूप से कर लगी हुई वस्तुओं के उपभोक्ता अथवा पूर्ति करने वाले होते हैं। यह आशा करना उचित होगा कि इस स्थिति में करापात प्रमुखतया आय के उपयोग में (सापेक्ष वस्तु-मूल्यों में) होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करेगा, बजाय आय में होने वाले परिवर्तनों के (सापेक्ष साधन-मूल्य)।[10]

ऐसा ही तर्क मद संख्या 4 पर लगाया जा सकता है जो साधन के सौदों पर एक भेदात्मक कर होता है। यहां पर हम उन लोगों की आय की स्थिति में सुधार देखते हैं जो कर-मुक्त साधनों की पूर्ति करते हैं और जिनके उपभोग सम्बन्धी प्रारूप उन वस्तुओं को सूचित करते हैं जो प्रमुखतया कर-मुक्त साधनों से उत्पादित होती हैं। इस स्थिति में आय-पक्ष में होने वाले समायोजन काफी महत्त्वपूर्ण होते हैं।[11]

---

10. यहां पर पुनः आकार के समूहों के अनुसार आय के वितरण में होने वाले परिवर्तन के रूप में करापात का उल्लेख आया है। कुछ वस्तुओं पर लागू होने वाला कर ही अन्य वस्तुओं की तुलना में उनकी कीमत में वृद्धि करेगा। चूंकि आय के आकार और बजट के प्रारूपों के बीच एक व्यवस्थित सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिए सापेक्ष कीमत में होने वाला यह परिवर्तन सम्भवतः वास्तविक आय के आकार-वितरण को परिवर्तित कर देगा। इसके विपरीत आय में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन वितरणात्मक दृष्टि से तटस्थ होंगे। असाधारण दशाओं को छोड़कर यह आशा करना सही नहीं होगा कि साधनों के सापेक्ष प्रतिफलों में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन प्रमुखतया ऊंची या नीची आय वाले समूहों वाले व्यक्तियों को ही उपलब्ध होंगे।

11. इस स्थिति में आय के परिवर्तन और आय के आकार के बीच एक व्यवस्थित सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि विभेदकारी अथवा पक्षपातपूर्ण बर्ताव के लिये विभिन्न साधन चुने जा सकते हैं, क्योंकि आय प्रमुखतया ऊंची अथवा नीची आय वाले समूहों को होती है। लेकिन इस स्थिति में इस बात के लिए कोई विशेष कारण नहीं जान पड़ता है कि ऊंची आय वालों के द्वारा खरीदी गई वस्तुओं की कीमतें नीची आय वाले समूहों के द्वारा खरीदी गई वस्तुओं की कीमतों की तुलना में बढ़ेंगी या घटेंगी।

इस विश्लेषण को इस रूप में फैलाया जा सकता है ताकि इसमें विशेष सौदा करने वालों के विपक्ष में किये जाने वाले विभिन्न किस्म के भेदों का समावेश किया जा सके। समस्त वस्तु-सौदों पर लगाया जाने वाला कर (मद संख्या 5) नियमों अथवा चेन स्टोरों तक सीमित किया जा सकता है। समस्त साधन-सौदों पर लगाया जाने वाला कर (मद संख्या 7) अपेक्षाकृत ऊंची आय वाले सौदा करने वालों तक सीमित किया जा सकता है जैसा कि आयकर के अन्तर्गत अतिकर के साथ होता है। अथवा हम विभिन्न किस्म के भेदों का मिश्रण कर सकते हैं, जैसा कि एक आरोही आयकर के अन्तर्गत (जिसमें बड़ी आमदनियों के विपक्ष में भेद किया जाता है) होता है, जो पूंजीगत लाभों पर अपेक्षाकृत नीची दरों की इजाजत देती है (और इस प्रकार अर्जित आय के विपक्ष में जाती है)। विश्लेषण की विभिन्न अवस्थाओं में समान आय वाले करों के जोड़े अथवा समूह स्थापित किये जा सकते हैं जो कर-निर्धारण के आधार के रूप में भिन्न होते हैं, लेकिन वे करापात की दृष्टि से समान अथवा लगभग एकसे परिणाम देते हैं। यह विशेषरूप से तब सम्भव होता है जब कि हम करापात की परिभाषा वैयक्तिक दशाओं में होने वाले परिवर्तनों के माध्यम से न करके आय के समूहों के अनुसार आय (कर के बाद शेष) के वितरण में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार करते हैं।[12] जैसे एक विभेदात्मक वस्तु-कर जो समस्त सौदा करने वालों पर लागू होता है (उदाहरण के लिए, सिगरेटों पर बिक्री-कर) वह समस्त आय के साधनों पर लागू होने वाले आयकर के बराबर हो सकता है, लेकिन इस पर समाश्रयण-मान (Scale of regression) लागू होता है जो बजट के प्रारूपों में सिगरेट पर किये जाने वाले व्यय के भार के अनुरूप होता है। इसके विपरीत सभी सौदा करने वालों पर लागू होने वाले विभेदकारी वस्तु-कर को सभी सौदा करने वालों पर लागू होने वाले विभेदकारी साधन-कर के बराबर कर सकना कठिन या असम्भव होगा। हो सकता है कि कई दशाओं में यह मेल बैठे अथवा न बैठे। यह आय के प्रारूपों और आय के उपभोग के प्रारूपों के प्रचलित अन्तर्सम्बन्धों पर निर्भर करता है।

---

12. जैसा कि प्रारम्भ में बतलाया गया है, वितरण में होने वाले परिवर्तन की हमारी परिभाषा में न केवल खर्च के योग्य मौद्रिक आय के वितरण में होने वाले परिवर्तनों पर विचार किया जाता है, बल्कि खरीदी गई वस्तुओं के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों पर भी ध्यान दिया जाता है।

कीमतों के निरपेक्ष समायोजन

अब तक का पूर्ण विवेचन सापेक्ष मूल्यों एवं मात्रा के रूप में ही किया गया है। वस्तुतः यह समस्या का एक महत्वपूर्ण अंग है। लेकिन वास्तविक जगत में करों के समायोजनों में निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों प्रकार के मूल्यों के परिवर्तन शामिल होते हैं। लेकिन यह एक ऐसी दुर्दशा है जिसके कारण करारोपण के सिद्धान्त में काफी भ्रम उत्पन्न हुआ है, और इसी वजह से सामाजिक लागतों में करों के विवेचन में भी गड़बड़ उत्पन्न होगई है।

हमारे सम्पूर्ण उपभोग के मॉडल में परिमाण-सिद्धान्त को कार्यशील बनाया जा सकता है। यहाँ पर यह मानना उचित होगा कि मुद्रा की कुल पूर्ति सौदे की मुद्रा के रूप में होती है और सौदे की मुद्रा का भुगतान सम्बन्धी प्रचलन-वेग स्थिर रहता है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति की एक दी हुई मात्रा भुगतान की उस कुल मात्रा को तय कर देती है जो किया जा सकता है। अब कल्पना कीजिए की सरकारी सौदों में (करों अथवा खर्चों में) भुगतान का वही प्रचलन-वेग निहित होता है जो निजी भुगतानों में होता है अथवा इनसे किसी निश्चित अनुपात में होता है। इससे हमें यह निर्धारित करने का अवसर मिल जायेगा कि बजट-नीति में परिवर्तन करने से निरपेक्ष कीमतों अथवा मुद्रा की पूर्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि ऐसे परिवर्तनों से भुगतान का ढांचा विस्तृत होता है अथवा संकुचित होता है, जब कि मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहती है, तो अपेक्षाकृत अधिक अथवा कम सौदों की व्यवस्था मुद्रा में भुगतान की उतनी ही मात्रा से होनी चाहिए। इसको सम्भव बनाने के लिए भुगतान की इकाई अथवा कीमत-स्तर को स्वयं को परिस्थिति के अनुसार बदलना होगा। यह सरल सिद्धान्त सारणी 2 में सामान्य करों के लिए और सारणी 3 मे विभेदात्मक करों के लिए बतलाया गया है। दोनों ही दशाओं में यह मान लिया गया है कि समस्त सौदों के लिए सौदा प्रचलन-वेग (Transaction Velocity) 20 के बराबर होता है।

एक सामान्य कर के लिए हम एक वस्तु की अर्थ-व्यवस्था की कल्पना कर लेते हैं और निजी क्षेत्र पर समग्र रूप से विचार करते हैं। हम कॉलम संख्या 1 में प्रदर्शित बजट-पूर्व की स्थिति से प्रारम्भ करते हैं और बजट का समावेश करते हैं। यह बजट सरकार को कुल उत्पत्ति का लगभग 40 प्रतिशत खरीदने का अवसर देता है और इसकी वित्तीय व्यवस्था विभिन्न प्रकार के करों से की जाती है। यहाँ पर यह मान लिया जाता है कि सरकारी खरीद प्रतिस्पर्धात्मक मूल्यों पर होती है।

	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(3)
8. मजदूरी का भुगतान "	100.00	83.33	100.00	60 00	100.00	71.40	100 00	60.00
9. कर के रूप में कुल प्राप्ति "	—	—	—	40.00	66.66	28.56	40.00	24.00
सरकारी क्षेत्र								
10. आयकर-प्राप्तियां (डालर में)								
11. उत्पादन-कर से प्राप्ति "		33.33	40.00	—	—	—	—	—
12. खर्च (डालर में)				30.00	66.66	28.56	40.00	24.03
13. प्रति इकाई मूल्य (डालर में)		33.33	40 00	30.00	66.66	28.56	40.00	24.00
14. क्रय की गई इकाइयां		0.83	1.00	1.00	1.66	0.71	1.00	0.60
श्रम क्षेत्र		40	40	40	40	40	40	40
15. कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति G.N.P.(6+7), डालर में…	100.00	83.33	100.00	100.00	166.66	100.00	140.00	84.00
16 कुल भुगतान (2+6+7+8+9) डालर में	200.00	200.00	240.00	200 00	333.33	200.00	280.00	168 00
17. मूल्य-स्तर (औसत)	1.00	0.83	1.00	1.00	1.66	1.00	1.40	0 84
18. मुद्रा की पूर्ति (डालर में)	10 00	10.00	12.00	10 00	16.66	10.00	14.00	8.40
19. सौदे का प्रचलन-वेग	20	20	20	20	20	20	[illegible]	[illegible]

(8)

कॉलम 1. स्वतः स्पष्ट है, नोट का प्रचलन-वेग 20 माना गया है।

कॉलम 2. यह निम्न दशाओं से निर्धारित होता है : (1) E=VM; (2) E=W+Ti+P+G; (3) Ti=G; (4) P=W—Ti; (5) G=40p; और (6) G+P=100p, जहाँ E=कुल भुगतान, M=मुद्रा की पूर्ति, W=मजदूरी का भुगतान, Ti= आयकर भुगतान, P=निजी खरीद के भुगतान, G=सरकारी खरीद के भुगतान, और p=प्रति इकाई कीमत। M=$10 और V=20, के दिये हुए होने पर हम E, W, Ti, P, G और p को निर्धारित कर सकते हैं।

कॉलम 3. भी उन्हीं दशाओं से निर्धारित होता है जिनसे कॉलम 2 होता है लेकिन अब हम V=20 और P=$ 1 दिया हुआ मानते हैं और E, W, Ti, P, G व M का पता लगाते हैं।

कॉलम 4. जिन शर्तों से निर्धारित होता है वे ये हैं : (1) E=VM; (2) E=W+P+Ts+G; (3) P=W; (4) Ts=G; (5) G=40p; और (6) G+P=100p, जहाँ Ts बिक्री-कर का भुगतान है। M और V के दिये हुए होने पर हम E, W, Ts, P, G, और p को हल कर सकते हैं।

कॉलम 5. के निर्धारण की शर्तें इस प्रकार हैं : (1) E=VM; (2) E=W+P+Ts+G; (3) W=P; (4) Ts=G; (5) G=40p; (6) G+P=100p; और (7) p=1+Ts/100. V=20 दिये हुए होने पर, हम E, W, Ts, P, G, p और M का हल निकाल सकते हैं।

कॉलम 6. के निर्धारण की शर्तें इस प्रकार है : (1) E=VM, (2) E=W+P+Ts+G; (3) W=P; (4) Ts=G; (5) G=40pg; (6) P=60 pp; और (7) pg=pp—Ts/60, जहाँ pg=सरकार के द्वारा दी जाने वाली कीमत और pp=निजी क्रेताओं के

जिस बजट में वित्तीय व्यवस्था एक सामान्य आयकर के जरिए होती है उसके संतुलित बजट-करापात का मामला कालम 2 व 3 में प्रस्तुत किया गया है। कालम 2 में हम मान लेते हैं कि मुद्रा की पूर्ति (पंक्ति 18) स्थिर रहती है। इसीलिये मौद्रिक भुगतान का स्तर (पंक्ति 16) भी अपरिवर्तित रहना चाहिये। लेकिन भुगतान के ढांचे की अवधि बढ़ जाती है। पहले की भांति व्यवसाय अपनी सम्पूर्ण आय को मजदूरी के भुगतान में बांट देता है; और, पहले की भांति, मजदूरी की आय चुका दी जाती है। आयकर के भुगतान पहले की खरीद के भुगतानों का स्थान ले लेते हैं। लेकिन सरकारी खरीद के भुगतान जोड़ दिये जाते हैं। चूंकि कुल मौद्रिक भुगतान यथास्थिर रहते हैं इसलिये भुगतान की इकाई—साधन और वस्तु-मूल्यों के स्तर (पंक्ति 1 और 4) अवश्य गिरेंगे।[13] कॉलम (3) में हम यह मान लेते हैं कि कीमत-स्तर तो स्थिर रहेगा। इसका आशय यह है कि मौद्रिक भुगतानों के स्तर (पंक्ति 16) में अवश्य वृद्धि होगी और मुद्रा की पूर्ति (पंक्ति 18) इसको सम्भव बनाने के लिए बढ़ाई जाती है।

अब हम यह कल्पना कर लेते हैं कि उन्हीं खर्चों की वित्तीय व्यवस्था बिक्री-कर से की जाती है जो सरकारी व निजी खरीद पर समान रूप से लागू होती है। कालम (4) में हम एक ऐसी स्थिति दर्शाते हैं जिसमें ऐसा कर साधनों के घटाये हुए भुगतानों में लग जाता है और वस्तुओं के मूल्य अपरिवर्तित रहते हैं। इस स्थिति में बजट का थोकफरोश सौदे के ढांचे की अवधि नहीं बढ़ा देता है।[14] अतएव मूल्य-स्तर मुद्रा की पूर्ति के स्थिर रहने पर अपरिवर्तित बना रहता है। कालम (5) में हम एक ऐसी स्थिति दर्शाते हैं जिसमें कर के लागू होने पर भी साधनों का भुगतान यथास्थिर बना रहता

13. यदि हम स्रोत की रुकावट मान लेते हैं तो एक भिन्न निष्कर्ष निकलेगा। इस स्थिति में आयकर के भुगतान मजदूरी के भुगतानों का स्थान ले लेते हैं और सार्वजनिक खरीद के भुगतान निजी खरीद के भुगतानों का स्थान ले लेते हैं। भुगतान के ढांचे की अवधि लम्बी नहीं होती है और मुद्रा की स्थिर पूर्ति मूल्यों को अपरिवर्तित रहने देती है। परिणाम सारणी 2 के कालम 4 के सदृश ही होता है।

14. कर्म के द्वारा किये जाने वाले बिक्री-कर के भुगतान मजदूरी-भुगतान का स्थान ले लेते हैं और सार्वजनिक खरीद के भुगतान निजी खरीद के भुगतानों का स्थान ले लेते हैं। देखिए, पूर्व टिप्पणी।

	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)

दी जाने वाली कीमत। V=20 और M=100 के दिये हुए पर, हम E, W, P, Ts, G, pg और pp को [illegible]
सकते हैं।

शर्तों से निर्धारित होता है जिनसे [illegible] (6) होता है, सिवाय इसके कि यहां M दिया हुआ नहीं है, और
pg=1, शर्त और जोड़ दी जाती है।

म (7) के जैसे ही निर्धारित होता है, सिवाय इसके कि अब (8) pp=1, होता है।

जिस बजट में वित्तीय व्यवस्था एक सामान्य आयकर के जरिए होती है उसके संतुलित बजट-करापात का मामला कालम 2 व 3 में प्रस्तुत किया गया है। कालम 2 में हम मान लेते हैं कि मुद्रा की पूर्ति (पंक्ति 18) स्थिर रहती है। इसीलिये मौद्रिक भुगतान का स्तर (पंक्ति 16) भी अपरिवर्तित रहना चाहिये। लेकिन भुगतान के ढांचे की अवधि बढ़ जाती है। पहले की भांति व्यवसाय अपनी सम्पूर्ण आय को मजदूरी के भुगतान में बाँट देता है; और, पहले की भांति, मजदूरी की आय चुका दी जाती है। आयकर के भुगतान पहले की खरीद के भुगतानों का स्थान ले लेते हैं। लेकिन सरकारी खरीद के भुगतान जोड़ दिये जाते हैं। चूँकि कुल मौद्रिक भुगतान यथास्थिर रहते हैं, इसलिये भुगतान की इकाई—साधन और वस्तु-मूल्यों के स्तर (पंक्ति 1 और 4) अवश्य गिरेंगे।[13] कॉलम (3) में हम यह मान लेते हैं कि कीमत-स्तर तो स्थिर रहेगा। इसका आशय यह है कि मौद्रिक भुगतानों के स्तर (पंक्ति 16) में अवश्य वृद्धि होगी और मुद्रा की पूर्ति (पंक्ति 18) इसको सम्भव बनाने के लिए बढ़ाई जाती है।

अब हम यह कल्पना कर लेते हैं कि उन्हीं खर्चों की वित्तीय व्यवस्था बिक्री-कर से की जाती है जो सरकारी व निजी खरीद पर समान रूप से लागू होती है। कालम (4) में हम एक ऐसी स्थिति दर्शाते हैं जिसमें ऐसा कर साधनों के घटाये हुए भुगतानों में लग जाता है और वस्तुओं के मूल्य अपरिवर्तित रहते हैं। इस स्थिति में बजट का श्रीगणेश सौदों के ढांचे की अवधि नहीं बढ़ा देता है।[14] अतएव मूल्य-स्तर मुद्रा की पूर्ति के स्थिर रहने पर अपरिवर्तित बना रहता है। कालम (5) में हम एक ऐसी स्थिति दर्शाते हैं जिसमें कर के लागू होने पर भी साधनों का भुगतान यथास्थिर बना रहता

---

13. यदि हम स्रोत की रुकावट मान लेते हैं तो एक भिन्न निष्कर्ष निकलेगा। इस स्थिति में आयकर के भुगतान मजदूरी के भुगतानों का स्थान ले लेते हैं और सार्वजनिक खरीद के भुगतान निजी खरीद के भुगतानों का स्थान ले लेते हैं। भुगतान के ढांचे की अवधि लम्बी नहीं होती है और मुद्रा की स्थिर पूर्ति मूल्यों को अपरिवर्तित रहने देती है। परिणाम सारणी 2 के कालम 4 के सदृश ही होता है।

14. फर्म के द्वारा दिये जाने वाले बिक्री-कर के भुगतान मजदूरी-भुगतान का स्थान ले लेते हैं और सार्वजनिक खरी[illegible]
भुगतानों का [illegible]

है जबकि वस्तुओं की कीमतों में कर की राशि के बराबर वृद्धि होती है। इस स्थिति में कुल भुगतानों में बढ़ोतरी होती है और मुद्रा की पूर्ति में भी उतनी वृद्धि की जाती है।

अब विभेदन के बावजूद भी सरकारी खरीद कर-मुक्त बनी रहती है तो स्थिति थोड़ी भिन्न होती है। यहाँ तीन दशाएँ सम्भव हो सकती हैं। सर्वप्रथम हम मुद्रा की पूर्ति को स्थिर मान लेते हैं। जैसा कि कालम (6) में दर्शाया गया है, इसका आशय यह है कि साधनों की कीमतें गिरती हैं, निजी क्रेताओं के लिए कीमतों में वृद्धि होती है, सार्वजनिक क्रेताओं के लिये कीमतें गिरती हैं और यौगिक कीमत-स्तर अपरिवर्तित बना रहता है। द्वितीय, हम मान लेते हैं कि निजी क्रेताओं के द्वारा दी जाने वाली कीमतों में कर की मात्रा के बराबर वृद्धि होती है जब कि सरकार के द्वारा दी जाने वाली कीमतें स्थिर रहती हैं। कालम (7) में दिखलाया गया है कि इससे मजदूरी अपरिवर्तित बनी रहती है, लेकिन मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होनी आवश्यक हो जाती है। अन्त में हम यह मान लेते हैं कि निजी क्रेताओं के द्वारा चुकाई जाने वाली कीमतें स्थिर रहती हैं। कालम (8) में दिखलाया गया है कि इससे सरकार के द्वारा चुकाई जाने वाली कीमतों में कमी, मजदूरी में गिरावट और द्रव्य की पूर्ति में सकुचन आ जाता है।

विभिन्न दशाओं की तुलना करने से भेदात्मक करापात का रूप स्पष्ट हो जाता है। यह इस बात को दर्शाता है कि निरपेक्ष कीमतों में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तनों (अथवा इसके अभाव के) फल होते हैं। वास्तव में हमारे परिमाण-सिद्धान्त की मान्यताओं के फलस्वरूप ऐसा ही होना भी चाहिये। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण, हम यह देखते हैं कि उत्पन्न होने वाला करापात निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों के बीच वास्तविक उत्पत्ति का बँटवारा, जो पंक्ति (5) और (14) में दर्शाया गया है, सर्वत्र एक-सा रहता है। विभेदात्मक करापात तटस्थ बना रहता है। यह परिणाम निरपेक्ष कीमत-परिवर्तन के भिन्न-भिन्न प्रारूपों के अंतरों से पूर्णतया अप्रभावित बना रहता है।

सारणी 3 में ऐसे ही समायोजन विभेदकारी करों के एक समूह के लिए दिखलाये गये हैं। इस उद्देश्य की दृष्टि से निजी क्षेत्र 'क' और 'ख' ... विभाजित किया जाता है जहाँ 'क' "अ" वस्तु का और 'ख' 'आ' का उपभोग करता है। परिस्थिति को सरल बनाने के लिए हम मान... हैं कि 'क' और 'ख' एक ही स्रोत से आय प्राप्त करते हैं और "अ" ... की प्रति इकाई उत्पादन-लागत समान रहती है।

सारणी 3
आंशिक करों के मूल्य-समायोजन

	कर से पूर्व	आंशिक आय-कर		आंशिक बिक्री-कर (सरकारी खरीद कर-मुक्त)		
		मुद्रा की स्थिर पूर्ति	स्थिर कीमतें	मुद्रा की स्थिर पूर्ति	कर-मुक्त वस्तु का मूल्य स्थिर	कर लगी हुई वस्तु का मूल्य स्थिर
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
उपभोक्ता-क्षेत्र 'क'						
1. मजदूरी	50 00	41·66	50·00	35 70	50 00	10 00
2. आयकर	—	33·33	40 00	—	—	—
3. क्रय-भुगतान	50 00	8·34	10 00	35 70	50 00	10·00
4. 'ग' की कीमत	1·00	0·83	1 00	3·57	5 00	1·00
5. खरीदी गई 'ग' की इकाइयाँ	50	10	10	10	10	10
उपभोक्ता-क्षेत्र 'ख'						
6. मजदूरी	50·00	41·66	50 00	35·70	50 00	10·00
7. क्रय-भुगतान	50 00	41·66	50·00	35·70	50 00	10 00
8. 'घ' की कीमत	1·00	0·83	1·00	·71	1·00	0·20
9. खरीदी गई 'घ' की इकाइयाँ	50	50	50	50	50	50

	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
गृह-क्षेत्र						
10. निजी क्षेत्र की प्राप्तियाँ	100·00	50 00	60 00	71·40	100·00	20·00
11. सार्वजनिक क्षेत्र की प्राप्तियाँ	—	33·33	40 00	28·56	40 00	8·00
12. मजदूर का भुगतान	100·00	83·33	100 00	71·40	100·00	20·00
13. कर से प्राप्त कुल आय	—	—	—	28·56	40·00	8·00
सरकारी क्षेत्र						
14. आय-कर से प्राप्तियाँ	—	33·33	40·00	—	—	—
15. उत्पादन-कर से प्राप्तियाँ	—	—	—	28·56	40 00	8 00
16. खर्चे	—	33·33	40 00	28 56	40·00	8·00
17. खरीदी गई इकाइयाँ	—	40	40	40	40	40
समस्त क्षेत्र						
18. कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति G.N.P. (10+11) (डालरों में)	100 00	83·33	100·00	200 00	140·00	28·00
19. कुल भुगतान, (डालरों में)	200·00	200 00	240·00	200 00	280·00	56·00
20. मूल्य स्तर, औसत	1 00	0 83	1·00	1·00	1·40	0·28
21. मुद्रा की पूर्ति, (डालरों में)	10 00	10 00	12 00	10 00	14·00	2·80
22. नोटों का प्रचलन-वेग	20	20	20	20	20	20

आंकड़े निकटतम हैं। गणना सारणी 2 के जैसी ही है, लेकिन उसमें कुछ ज्यादा जटिल है।

कालम (1) में हम सारणी 2 की बजट-पूर्व की स्थिति दोहराते हैं, लेकिन अब उपभोक्ता-क्षेत्र को क और ख में विभाजित कर देते हैं। पहले की भांति यहां भी बजट का समावेश कर दिया जाता है और सरकार कुल उत्पत्ति का 40 प्रतिशत खरीदती है। लेकिन अब सम्पूर्ण भार 'क' पर पड़ेगा। सरलता के लिए हम मान लेते हैं कि सरकार अ-वस्तु खरीदना चाहती है, इस प्रकार 'क' के द्वारा मुक्त की जाने वाली इकाइयां ले लेती है।

क पर आंशिक रूप से आय-कर लगा कर भी सम्पूर्ण भार डालने का कार्य पूरा किया जा सकता है। एक आंशिक आयकर से वित्त प्राप्त करने वाले बजट का सतुलित बजट करापात कालम (2) और (3) मे दिखलाया गया है। पहले की भांति, कालम (2) मुद्रा की स्थिर पूर्ति पर, और कालम (3) कीमत के स्थिर स्तर पर आधारित है। कीमतों एवं मुद्रा की पूर्ति में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन वैसे ही होते हैं जैसे कि सामान्य कर के होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि अब सम्पूर्ण आयकर क से प्राप्त किया जाता है, जिससे ख की वास्तविक आय बजट से पूर्व की स्थिति के जैसी ही बनी रहती है।

वैकल्पिक रूप मे, क पर कर-भार उसके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तु 'अ' पर बिक्री-कर लगा कर भी डाला जा सकता है। यहां पर यह मान लिया जाता है कि सरकारी खरीद कर-मुक्त रहती है। परिणामस्वरूप "अ" का मूल्य "आ" की तुलना मे बढ़ सकता है। पहले की भांति हम मुद्रा की स्थिर पूर्ति की मान्यता से प्रारम्भ करते हैं। यह कालम (4) मे दिखलाया गया है। बिक्री-कर से वित्त प्राप्त करने वाले बजट को लागू करने से मजदूरी और "आ" की कीमत दोनों मे गिरावट आती है जब कि "अ" की कीमत बढ़ती है। औसत रूप से कीमतें और भुगतान की कुल मात्रा अपरिवर्तित रहते हैं।[15] इसके पश्चात् हम "आ" की कीमत स्थिर कर लेते हैं। जैसा कि कालम (5) में दिखलाया गया है, मजदूरी अपरिवर्तित रहती है, 'अ' वस्तु की कीमत मे वृद्धि होती है, कुल भुगतान की राशि और मुद्रा की

15. मूलपाठ के उद्देश्यों की दृष्टि से विवेचन बजट-करापात की भाषा में किया गया है। प्रत्येक परिणाम की तुलना बिना बजट की स्थिति से की गई है। वैकल्पिक रूप मे, कर की विभिन्न दशाओं के बीच भी तुलना की जा सकती है, जो विभेदात्मक करापात की भाषा मे परिणाम देती है।

	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
ञ						
की प्राप्तियाँ	100·00	50·00	60 00	71·40	100 C0	20·00
क्षेत्र की प्राप्तियाँ	—	33·33	40 00	28·56	40 00	8·00
भुगतान	100·00	83·33	100 00	71·40	100 00	20 00
एवं कुल आय	—	—	—	28·56	40·00	8·00
से प्राप्तियाँ	—	33·33	40·00	—	—	—
-कर से प्राप्तियाँ	—	—	—	28·56	40 00	8 00
	—	33·33	40 00	28·56	40 00	8·00
गई इकाइयाँ	—	40	40	40	40	40
उत्पत्ति						
) (डालरों में)	100·00	83·33	100·00	200 00	140·00	28 00
(डालरों में)	200 00	200 00	240·00	200 00	280·00	56 00
औसत	1 00	0 83	1·00	1·00	1·40	0·28
(डालरों में)	10 00	10 00	12 00	10 00	14·00	2·80
	20	20	20	20	20	20

1 गणना सारणी 2 के जैसी ही है, लेकिन उससे कुछ ज्यादा जटिल है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं में यह भी सम्भव है कि परिणाम प्रारम्भिक समायोजन की दिशा से अप्रभावित न रहे।[16] यदि कर लगी हुई वस्तु की कीमत अपरिवर्तित रहती है और साधनों की लागत घटा दी जाती है तो सम्भव है कर-मुक्त वस्तुओं की कीमतें उनके अनुरूप नहीं घटें, क्योंकि लागत में होने वाली बचतों का कुछ अंश सम्भवतः एकाधिकारी मुनाफों को बढ़ाने में लग जाय। असली मजदूरी के परिवर्तनों से सामूहिक सौदाकारी पर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया हो सकती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि कीमतों अथवा नकद मजदूरी का समावेश किया गया है अथवा नहीं, इत्यादि। ऐसी जटिलताएं विशेषतया बाजार की उन दशाओं में उत्पन्न होती हैं जो पूर्णतया अधिकतम लाभ को तो व्यक्त नहीं करती हैं, लेकिन जहाँ नियन्त्रण लगाया जाता है, अथवा कीमत-उत्पत्ति की दशाओं में संशोधन करने के लिए एक किस्म का धक्का-सा आवश्यक होता है।

साथ में यह भी स्मरण रखना होगा कि समायोजन की प्रक्रिया में समय लगता है, जिससे सापेक्ष कीमतों का प्रारम्भिक परिवर्तन बड़े महत्त्व का होता है। इन सब बातों से महत्त्वपूर्ण मर्यादाओं का समावेश हो जाता है, लेकिन वर्तमान विवेचन की दृष्टि से उनको छोड़ा जा सकता है।

11. पूंजी-निर्माण वाली अर्थव्यवस्था में करापात

अब हम दूसरे मॉडल को लेते हैं जिसमें बचत और पूंजी-निर्माण को शामिल किया जाता है। लेकिन कुछ समय के लिए तरलता-पसंदगी की मान्यता का त्याग कर दिया जाता है। पूर्ण रोजगार की आय में से होने वाली बचतें सदैव पूंजीगत वस्तुओं की खरीद में लगा दी जाती हैं और मौद्रिक मुद्रा को छोड़ कर और कोई बचाया नहीं रखी जाती है। पहले की भाँति बजट-नीति के परिवर्तन इस प्रणाली में शामिल कर दिये जाते हैं और हमें यह देखना होता है कि इससे उत्पन्न होने वाले समायोजन सम्पूर्ण-उपभोग के मॉडल से किन अर्थों में भिन्न होते हैं। विशेष रूप से हमें (1) सामान्य और विभेदकारी आयकर के समायोजनों की तुलना करनी चाहिये और (2) हमें इस बात की जाँच करनी चाहिये कि इस स्थिति में एक सामान्य आय-कर और एक सामान्य वस्तु-कर में क्या सम्बन्ध होता है।

16. उपभोग-फलन (Consumption function) में मौद्रिक भ्रम होने पर भी क्याश प्रकार यह सकता है।

लागत व कीमत के सम्बन्ध

प्रारम्भ में हमें मशीन में वर्तमान मॉडल में निहित लागत व कीमत के सम्बन्धों पर विचार करना चाहिये। पहले की भाँति हम यहाँ भी एक प्रतिस्पर्धात्मक साधन और वस्तु-बाजार को मान लेते हैं।

सरलता की दृष्टि से हम कल्पना कर लेते हैं कि पूंजीगत वस्तुएं श्रम के प्रयोग से बहुत शीघ्र उत्पादित हो सकती हैं। तत्पश्चात् उन्हें उपभोग्य वस्तुओं के रूप में परिपाक (ripen) का अवसर दिया जाता है। परिपाक-प्रक्रिया के अंत मे पूंजीगत वस्तु में अतिरिक्त श्रम की मात्रा "प्रत्यक्षतया" जोड़ी जा सकती है, और उत्पादन जितना अधिक पूंजी-गहन होता जाता है "प्रत्यक्ष" श्रम की लागत कुल लागत की तुलना में उतनी ही कम होती जाती है। इस प्रणाली में अपरिपक्व पूंजीगत माल की लागत पूँजीगत वस्तुओं को उत्पन्न करने की श्रम-लागत के बराबर होती है। उपभोग्य वस्तु की लागत पूंजी की श्रम-लागत और उस पर ब्याज और साथ में उसमें प्रत्यक्षतः जोड़ी गई श्रम की लागत के बराबर होती है। साथ में यह भी है कि पूंजीगत वस्तु की कीमत उपभोग्य वस्तु के बट्टा काटे हुए मूल्य (discounted value) के बराबर होती है जिसमें प्रत्यक्ष श्रम-लागत[17] नहीं होती है। बदले में साधनों के अंश परिपाक-प्रक्रिया (ripening process) के लिए आवश्यक श्रम की पूर्ति के लिए चुकाई जाने वाली मजदूरी और बचत की पूर्ति के लिए चुकाये जाने वाले ब्याज के बीच विभाजित हो जाते हैं।

सामान्य आयकर के द्वारा वित्तीय व्यवस्था वाला बजट

हम एक ऐसे बजट के संतुलित बजट-करापात से प्रारम्भ करते हैं जिसकी वित्तीय व्यवस्था एक आनुपातिक आयकर से होती है। चूंकि यह एक सामान्य आयकर है, इसलिए यह दोनों साधनों (श्रम व कोषों की पूर्ति अथवा प्रतीक्षा) से प्राप्त आय पर समान रूप से लागू होता है। यदि हम यह मान लेते हैं कि दोनों साधनों की पूर्ति प्रतिफल की दर के परिवर्तित हो जाने पर भी बेलोच रहती है, तो बजट के समावेश से प्रारम्भ में साधनों की लगाई जाने वाली इकाइयाँ

---

17. जोखिम की बातों पर ध्यान न देने पर बट्टे की दर वह आन्तरिक दर होती है जो भावी आमदनी के वर्तमान मूल्य को लागत के बराबर कर देती है।

अपरिवर्तित बनी रहेंगी।[18] सीमान्त उत्पत्ति यथास्थिर रहती है ठीक उसी तरह जैसे कि कर से पूर्व मजदूरी व ब्याज के बीच आय का बटवारा हुआ करता है।[19] मजदूरी पाने वाले और ब्याज पाने वाले लोगों की खर्च के योग्य आमदनी में एक-सी कमी आती है। उपभोग-वस्तुओं और पूंजीगत वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें भी अपरिवर्तित रहती हैं। ऐसी हालत में मजदूरी पाने वालों और ब्याज पाने वालों की सापेक्ष दशाएँ अपरिवर्तित बनी रहती हैं। बजट का करापात अनुपातिक ही निकलता है, और यहाँ तक परिणाम वही होता है जो सम्पूर्ण-उपभोग-मॉडल में पाया जाता है। लेकिन एक पूंजी-निर्माण के मॉडल में यह सम्पूर्ण चित्र का एक अंग ही माना जा सकता है। साधनों की सापेक्ष मात्राएं एक अवधि में अपरिवर्तित नहीं रहती हैं। बजट के समावेश से निजी उपयोग के लिए उपलब्ध होने वाली आय घट जाती है और इसी कारण से बचतों की निजी पूर्ति भी घट जाती है। यदि हम यह मान लेते हैं कि ब्याज के परिवर्तन से बचतों की पूर्ति बेलोच रहती है तो भी यही स्थिति रहेगी (यदि हम क्लासिकल संदर्भ में केन्स की शब्दावली का उपयोग करें तो) हमें केवल यही मानने की आवश्यकता रह जाती है कि खर्च के योग्य आमदनी में से किये जाने वाले उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति धनात्मक (positive) होती है। यह मानने पर कि सार्वजनिक खर्च उपभोग्य वस्तुओं पर किया जाता है, बजट के समावेश से पूंजी-निर्माण की दर में कमी आ जाती है।[20]

यदि पूंजी-संचय घटता है तो पूंजीगत स्टॉक और कुल उत्पत्ति भावी समय में कम हो जायेंगे। यहां पर पूंजी किसी अन्य स्थिति की अपेक्षा श्रम की तुलना में ज्यादा दुर्लभ होती है। परिणामस्वरूप ब्याज की दर अपेक्षाकृत

---

18. यदि मूलपाठ के अपने पैरा में वर्णित दीर्घकालीन पहलुओं पर विचार न भी करें तो भी यदि साधनों की पूर्ति लोचदार होती है तो विभिन्न साधनों की पूर्ति की सापेक्ष स्थिति में परिवर्तन हो जायगा। जैसा कि हमने सम्पूर्ण उपभोग के मॉडल के विवेचन में बतलाया है, अधिक लोचदार साधन की पूर्ति करने वालों की सापेक्ष स्थिति में सुधार की प्रवृत्ति होती है। देखिए नीचे फुटनोट संख्या 24।

19. हम यह सरल मान्यता भी स्वीकार कर लेते हैं कि अधिक और कम पूंजी-गहन वस्तुओं के बीच मांग का प्रारूप नहीं बदलता है।

20. यदि सरकार पूंजीगत वस्तुओं पर व्यय करती है तो हमारे तर्क का क्रम ही बदल जाता है, लेकिन सिद्धान्त वही रहता है।

ऊंची होती है और ब्याज व मजदूरी के बीच साधनों के भागों का बंटवारा उस स्थिति की तुलना में भिन्न पाया जाता है जब कि बजट नहीं होता है। चूंकि ब्याज की दर अब ऊंची होती है, इसलिए पूंजीगत वस्तुओं की कीमत उपभोग वस्तुओं की तुलना में नीची होती है। पूंजीगत स्टॉक के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले ये दीर्घकालीन समायोजन हमारे इस अल्पकालीन निष्कर्ष को बदल देंगे कि बजट का आपात आनुपातिक होगा। लेकिन यह आसानी से नहीं बतलाया जा सकता कि किसकी स्थिति ज्यादा अच्छी होगी।[21]

विभेदकारी आय-कर का प्रतिस्थापन

अब हम उस अन्तरजनित आपात (Differential incidence) का वर्णन करते हैं जो सामान्य कर के स्थान पर विभेदकारी आयकर के प्रतिस्थापित करने से उत्पन्न होता है।

मान लीजिए, सामान्य आय-कर की जगह इतनी ही आय देने वाला एक ऐसा आयकर लगा दिया जाता है जो समस्त साधनों की आय पर लागू होता है लेकिन जो कुछ उपयोगों (उद्योगों) के रोजगार तक ही सीमित रहता है।

यहां हमारे समक्ष एक महत्त्वपूर्ण और परिचित अंतर उपस्थित होता है जो अल्पकालीन और दीर्घकालीन आपात (incidence) के बीच पाया जाता है। अल्पकाल में विशेष उपयोगों में पूंजी की पूर्ति काफी बेलोच होती है। इसी तरह श्रम की पूर्ति की लोच सामान्य बाजारों की अपेक्षा आंशिक बाजारों में अधिक होती है, लेकिन यहा पर समय का तत्व कम प्रबल होता है। इससे कुछ परिचित से निष्कर्ष निकलते हैं जिन पर यहां विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है।

2. द्वितीय, मान लीजिए, एक सामान्य आयकर की जगह एक ऐसा विभेदकारी आयकर लगा दिया जाता है जो समस्त उद्योगों तक फैला दिया जाता है लेकिन जिसके अन्तर्गत ब्याज की आय ही आती है। यह मामला हमारे बाद के विवेचन की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है, जब कि हम पूंजीगत वस्तुओं पर लगाये जाने वाले वस्तु-कर की चर्चा करेंगे।

---

21. देखिए J.R. Hicks "Distribution and Economic Progress : *A Revised Version*," *Review of Economic Studies, IV* (1936–37).

पुनः कल्पना कीजिए कि बचतों की पूर्ति प्रतिफल की दर के परिवर्तन पर बेलोच बनी रहती है। इस स्थिति में साधनों की मात्राएं अपरिवर्तित रहती हैं।[22] उपभोग व पूंजीगत वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें अपरिवर्तित रहती हैं, जैसे कि कर से पूर्व मजदूरी व ब्याज की आय रहती है। लेकिन कर के पश्चात् मजदूरी की आय, कर के पश्चात् होने वाली ब्याज की आय की तुलना में बढ़ जाती है। चूंकि ब्याज से प्राप्त आय कुल पारिवारिक आय के प्रतिशत के रूप में बढ़ती है और मजदूरी की आय आमदनी के पैमाने पर ऊपर बढ़ते समय घटती है, इसलिए हमारा यह निष्कर्ष होगा कि कर-प्रतिस्थापन का अन्तर-जनित आपात (differential incidence) अवरोही होगा।

इस तुलना का सम्बन्ध उन परिवर्तनों से होता है जो आय के पैमाने में विभिन्न बिन्दुओं पर विशेष व्यक्तियों की आय की दशा में हुआ करते हैं। लेकिन अब हम विभिन्न व्यक्तियों के बीच की तुलना आय के एक ही स्तर पर करेंगे। यदि हम समस्त व्यक्तियों को "क" श्रेणी (जिसमें वे व्यक्ति आते हैं जो केवल मजदूरी की आय प्राप्त करते हैं और सारी उपभोग पर व्यय कर देते हैं) और 'ख" श्रेणी (जिसमें वे व्यक्ति आते हैं जो केवल ब्याज की आय प्राप्त करते हैं और इसमें से सारी बचा लेते हैं) में विभाजित कर सकें, तो समस्या अपेक्षाकृत आसान हो जायगी। इस स्थिति में आंशिक कर का प्रतिस्थापन स्पष्टतया 'क-"समूह के पक्ष में जायेगा और सम्पूर्ण भार 'ख"-समूह पर पड़ेगा।

परिस्थिति उस समय कम स्पष्ट होती है जब कि हम 'ग' श्रेणी के लोगों (जो अधिकतर मजदूरी से आय प्राप्त करते हैं, लेकिन काफी बचत करते हैं) और 'घ" श्रेणी के लोगों (जिनकी आय ज्यादातर ब्याज से होती है, लेकिन जो भारी मात्रा में उपभोग करते हैं) की दशाओं की तुलना करते हैं। आय की सापेक्ष स्थिति में होने वाले परिवर्तन का सार यह बतलाता है कि करों के प्रतिस्थापन से ग को लाभ पहुंचता है और घ को हानि होती है.

22. दीर्घकालीन दृष्टिकोण से इसकी भी एक मर्यादा हो सकती है, और वह यह है कि समाज की बचत करने की प्रवृत्ति, और फलस्वरूप पूंजी-निर्माण की दर, कर-प्रतिस्थापन से प्रभावित हो सकती है। ऐसा इसलिए होता है कि या तो बचतें विशुद्ध प्रतिफल (कर के पश्चात्) के परिवर्तन पर लोचदार होती हैं, अथवा (आय के किसी भी दिये हुए स्तर पर) बचत की प्रवृत्ति ब्याज से प्राप्त आय के किसी अंश से पूरी हुई होती है।

फिर भी यह परिणाम केवल तात्कालिक रूप में ही स्पष्ट प्रतीत होता है। दीर्घकालीन दृष्टि से यह बिलकुल स्पष्ट नहीं होता है कि, चुनाव का अवसर दिये जाने पर, एक सामान्य आयकर की जगह ब्याज पर कर का प्रतिस्थापन किये जाने पर 'ग' उसका समर्थन करे और 'घ' उसका विरोध करे। असल में ग तो ख की स्थिति की तरफ बढ़ रहा है। यह भावी वर्षों में ब्याज पर ऊंचे कर के कारण ज्यादा हानि उठाता रहेगा। दूसरी तरफ घ बचत में से खर्च कर सकता है और इस प्रकार क की स्थिति की तरफ जा सकता है। यदि ऐसा होता है तो ब्याज पर कर लगने से उस पर उत्तरोत्तर कम भार पड़ेगा। इस तरह से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह अच्छा होगा कि आघात की धारणा का सम्बन्ध एक विशेष अवधि से ही किया जाय। ग को अल्पकाल में लाभ हो सकता है, लेकिन दीर्घकाल में हानि हो सकती है और घ के लिए इसके विपरीत होगा।[23]

उपभोग्य वस्तुओं पर सामान्य कर

अब हम उपभोग्य वस्तुओं के सौदों पर लगाये जाने वाले एक सामान्य कर पर आते हैं जो एक सामान्य बिक्री-कर कहलाता है और एक सामान्य आयकर की जगह प्रतिस्थापित किया जाता है। इस विषय की चर्चा में हमें दो समस्याओं के बीच स्पष्टतया अंतर करना होगा अन्यथा अनावश्यक भ्रम उत्पन्न हो जायगा।[24] पहली समस्या तो यह है कि एक आनुपातिक आयकर से

---

23. दूसरे शब्दों में हम ग और घ पर डाले गये भावी कर-भारों के वर्तमान मूल्यों की तुलना सम्बन्धित करों से कर सकते हैं। ये मूल्य ग और घ की भावी बजट-योजनाओं पर निर्भर करते हैं।

24. मेरे पूर्व लेख (देखिये ऊपर का फुटनोट संख्या 2) के दूसरे भाग में मैं इस अंतर के विशेष महत्त्व से परिचित नहीं था। वास्तव में समस्या नं० 1 व नं० 2 में अंतर न करने के कारण ही व्याख्या में एक त्रुटि रह गई थी जिसे यहां ठीक किया जाना चाहिए। मेरा पूर्व निष्कर्ष यह था कि आयकर के स्थान पर उपभोग्य वस्तुओं पर बिक्री-कर लगा देने के परिणाम साधनों की लोचों पर निर्भर करते हैं, यदि बचतों की पूर्ति असीमित रूप से लोचदार होती है तो भार श्रमिक पर पड़ेगा और यदि श्रम की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है तो भार ब्याज प्राप्त करने वाले पर पड़ेगा। यह निष्कर्ष दो अवस्थाओं में प्राप्त किया गया था। पहली अवस्था में तो यह तर्क दिया गया था कि आनुपातिक आयकर के

वित्त प्राप्त करने वाले बजट का निरपेक्ष बजट-आपात मालूम किया जाय। इसके बाद दूसरी समस्या यह है कि आनुपातिक आयकर की जगह एक बिक्री-कर के प्रतिस्थापित किये जाने पर आपात कैसे परिवर्तित होता है, इसका पता लगाया जाय। प्रथम समस्या का विवेचन पहले किया जा चुका है। अब हम यह कल्पना कर लेते हैं कि साधनों की पूर्ति प्रतिफल की दर के परिवर्तन पर बेलोच बनी रहती है ताकि कम से कम अल्पकाल में तो आयकर से वित्त प्राप्त बजट का आपात आनुपातिक होगा, अर्थात् यह आय की सापेक्ष दशाओं को अपरिवर्तित रहने देगा। इस समय हमारा सम्बन्ध दूसरी समस्या से ही है।

अब मान लीजिये कि एक सामान्य आयकर के स्थान पर उपभोग्य वस्तुओं पर एक सामान्य बिक्री-कर प्रतिस्थापित किया जाता है। ऐसी स्थिति में परम्परागत निष्कर्ष यह होगा कि यह प्रतिस्थापन उनको तो मुक्त कर देता है जो बचाते हैं और सारा भार उपभोक्ताओं पर ही डाल देता है। प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि जब उपभोग्य वस्तुओं पर कर लगाया जाता है तो ऐसी वस्तुओं की कीमतों में कर की राशि के बराबर वृद्धि हो जाती है और

हटा देने से सापेक्ष दशाएं अपरिवर्तित रहती हैं। दूसरी अवस्था में यह तर्क दिया गया था कि बिक्री-कर के लागू होने से सापेक्ष दशाएं बदल जायेंगी और यह साधनों की लोचों पर निर्भर करेगा।

इस तर्क में इस तथ्य को भुला दिया गया है कि, विभिन्न लोच-वाली साधनों की पूर्तियों के दिये हुए होने पर, आय-कर के हटा देने से सापेक्ष दशाएं अपरिवर्तित नहीं रह जायेंगी। प्राप्त निष्कर्ष में जो एक विपरीत मान्यता पर आधारित था, वास्तव में उस विभेदात्मक करापात का वर्णन नहीं किया गया जो आयकर के स्थान पर बिक्री-कर के लागू होने से उत्पन्न होता है। इसके बजाय इसने बिक्री-कर के निरपेक्ष आपात (absolute incidence) के जैसी किसी चीज का वर्णन किया; यहां आयकर के हटाने का कोई महत्व नहीं, क्योंकि इसे वितरणात्मक दृष्टि से तटस्थ माना गया था।

वर्तमान लेख में समस्या नं० 1 और नं० 2, जैसी कि वे मूलपाठ में प्रस्तुत की गई हैं, में ध्यानपूर्वक अंतर करके मैं इस त्रुटि को दूर करने का प्रयास करूंगा। पूर्व तर्क की सुधारी हुई व्याख्या—कि बिक्री कर का निरपेक्ष आपात साधनों की पूर्ति-सम्बन्धी लोचों पर निर्भर

लिए कर का भार उपभोक्ता पर पड़ता है। हालांकि यह निष्कर्ष हो सकता-कुछ सही है, लेकिन इस तर्क में दो दोष हैं। सर्वप्रथम, हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उपभोग्य वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायेंगी। यह भी सकता है कि उपभोग्य-वस्तुओं की कीमतें अपरिवर्तित रहें, जब कि साधनों को दिये जाने वाले लागत-सम्बन्धी भुगतान घट जाय। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, ऐसी स्थिति में उत्पन्न होने वाला परिणाम मौद्रिक व्यवस्थाओं पर निर्भर करता है।[15] द्वितीय यह मानते हुए कि कीमतों में वृद्धि होगी, हम इससे आपात के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है, आपात तो सापेक्ष कीमत में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करता है, और ये परिवर्तन निरपेक्ष कीमतों अथवा कीमत-स्तरों के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होते हैं।

पहले दोष का पता कई वर्ष पूर्व गुनीसन ब्राउन ने लगाया था और हाल ही में अर्ल रोल्फ ने अपने एक महत्वपूर्ण लेख में उस पर आगे विचार किया है।[16] दोनों इस बात को स्वीकार करते हैं कि कर लगी हुई वस्तुओं

करता है—हमारे वर्तमान तर्क से पूर्णतया मेल खाती है जिसमें यह बतलाया गया है कि (अ) आयकर से वित्त प्राप्त बजट का निरपेक्ष आपात साधनों की लोचों पर निर्भर करता है और (आ) आयकर की जगह एक बिक्री-कर के प्रतिस्थापन का परिणाम मूलपाठ के विवेचन में वर्णित बातों पर ही निर्भर करता है। एक वैकल्पिक दृष्टिकोण, और यह भी वर्तमान विधि से मेल खाता है, यह होगा कि पहले बिक्री-कर से वित्त प्राप्त करने वाले बजट का निरपेक्ष आपात निर्धारित किया जाय और तत्पश्चात् आयकर के प्रतिस्थापन की तरफ बढ़ा जाय।

15. वर्तमान मॉडल सम्पूर्ण-उपभोग-मॉडल के जैसा ही है, क्योंकि कोई रकम बकाया नहीं रखी जाती है। दोनों दशाओं में मुद्रा की पूर्ति, कुल भुगतान और कीमत स्तर के पारस्परिक सम्बन्ध एक से ही रहते हैं। ऊपर तालिका 2 और 3 में बतलाया गया सिद्धांत दोनों मॉडलों में लागू होता है।

16. देखिए Earl R. Rolph, "A Proposed Revision of Excise Tax Theory," *Journal of Political Economy*, LX, No. 2 (April, 1952), 102-17, and Harry Gunnison Brown, "The Incidence of a General output or a General Sales Tax," "*Journal of Political Economy*," XLVII, No. 2 (April, 1939), 254-63.

कीमतो का बढ़ना आवश्यक नहीं है। वास्तव में वे तो और भी आगे
ल जाते हैं और यह मानते हैं कि समायोजन तो स्थिर कीमतों और घटे
साधन-भुगतानों में होना चाहिये।[37]

लेकिन यह एक साधारण-सी बात है। यदि मैं इस समस्या को सही
मे समझ पाया हूँ तो मेरी राय मे यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि ब्राउन-
क की स्थिति मे अभी भी एक दूसरा दोष रह गया है—इसका आशय
है कि कर उपभोक्ता पर नही पड़ता है और यह आपात की दृष्टि से
आनुपातिक आयकर के समान ही है क्योंकि प्रारम्भिक समायोजन साधनो
भुगतानों मे कमी का रूप ले लेता है। यह निष्कर्ष स्वत. नही निकलता
यह मान्यता कि साधनो के भुगतान घटा दिये जाते हैं इस बात को
नहीं करती है कि कर सभी व्यक्तियो पर समान रूप से लागू होता है,
उसी प्रकार से जैसे की कीमतों की वृद्धि की परम्परागत मान्यता यह
नहीं करती है कि कर केवल उपभोक्ता पर ही पड़ता है। समायोजन
दशा आपात को निर्धारित नहीं करती है और इसे ही आपात नहीं समझ
चाहिए।

हमें उपर्युक्त बात को ध्यान मे रखकर इस प्रश्न पर पुन विचार
चाहिए। उपभोग्य वस्तुओं की कीमत उन उत्पादन के साधनों को
जाने वाले लागत-भुगतानो के बराबर होती है जो इन वस्तुओं के
न मे लगाये जाते हैं। अतएव यहाँ पर कर लागत-सम्बन्धी-भुगतानो पर
वाला कर माना जा सकता है। हमारे पूर्व तर्क के अनुसार समस्त
-भुगतानों पर लगाया जाने वाला कर समस्त साधनों की आय पर
जाने वाले कर के सदृश होता है। जब एक कर की जगह दूसरा कर
थापित किया जाता है, तो हम केवल साधनों की आय और खर्च के
आय के बीच की खाई को पाट देते हैं, और इसकी जगह फर्म की
यों और साधनों के भुगतानों के बीच वैसी ही खाई बना देते हैं। दोनों

यह निष्कर्ष विशुद्ध प्रतियोगिता की मान्यता के आधार पर निकाला
जाता है, लेकिन बाजार की अपूर्णताओं का समावेश करने पर सम्भवतया
यह लागू न भी हो। लेकिन यदि हम इस तरह से तर्क करना चाहते हैं
क अन्तिम फल मौद्रिक नीति के बजाय मूल्य-निर्धारण का परिणाम
होता है तो हम उनमे मॉडल पर चले जाते हैं जहाँ तरलता अधिमान
ना पक्षों पर ध्यान दिया जाता है।

मौद्रिक आय स्थिर बनी रहती है।[29] यदि हम यह मान लेते हैं कि उपभोग्य वस्तुओं की निरपेक्ष कीमत अपरिवर्तित रहती है तो हम देखते हैं कि पूंजीगत वस्तुओं की कीमत उसी तरह से गिरेगी जैसे कि ब्याज व मजदूरी पाने वालों की खर्च के योग्य मौद्रिक आय गिरती है।[30] दोनों ही स्थितियों में सापेक्ष दशाओं में होने वाले परिवर्तन के रूप में परिणाम एक-से होते हैं।

अब हम व्याख्या के तौर पर एक दूसरे समायोजन पर विचार करेंगे जिसमें पूंजीगत वस्तुओं की कीमत के घटने पर खर्च के योग्य मौद्रिक आय अपरिवर्तित रहती है। कुल मिलाकर हम देखते हैं कि (अ) खर्च के योग्य मौद्रिक आय के रूप में सापेक्ष दशाएँ अपरिवर्तित रहती हैं, (आ) यदि उपभोक्ताओं और बचत करने वालों की आमदनी का समान रूप से एक से कीमत सूचनांक से अपस्फीतीकरण किया जाता है तो खर्च के योग्य वास्तविक आय के रूप में सापेक्ष दशाएं अपरिवर्तित बनी रहती हैं, और (इ) यदि हम उपभोक्ताओं की आमदनी का उपभोग्य अथवा पूंजी-वस्तुओं की कीमतों के आधार पर अपस्फीतीकरण कर देते हैं तो वे बचतकर्ताओं से ज्यादा क्षति उठाते हैं (यह इस पर निर्भर करता है कि इनमें से कौन-सी वस्तुएँ किस क्रम में खरीदी जाती हैं)। यदि हम (आ) व्याख्या को चुनते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि एक आनुपातिक आयकर और उपभोग्य वस्तुओं पर सामान्य कर आपात की दृष्टि से समान होते हैं। यदि हम (इ) व्याख्या को चुनते हैं तो हमारा निष्कर्ष यह होगा कि दूसरा कर उपभोक्ता पर पड़ता है।[31] चूंकि

---

29. साधनों के भुगतान डालर में अपरिवर्तित बने रहते हैं जिससे मजदूरी व ब्याज की आय स्थिर रहती है। आयकर के हटाये जाने पर मजदूरी व ब्याज के पाने वालों की खर्च के योग्य आय में एक-सी दर से वृद्धि होती है। (चूंकि साधनों की पूर्ति बेलोच रखी जाती है, इसलिए इस स्थिति में आयकर के हटाने से आय में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। देखिए ऊपर फुटनोट 24) मजदूरी की दर और परिणाम-स्वरूप पूंजीगत वस्तुओं की कीमत बदल जाती है।

30. साधनों के भुगतानों व आय में कर की मात्रा के बराबर कमी आ जाती है, लेकिन आयकर के हटा देने से डालर में खर्च के योग्य आय अपरिवर्तित रह जाती है। मगर मजदूरी की दर के घटने पर पूंजीगत वस्तुओं की बाजार-कीमत गिरती है।

31. हमारे लिए यहां उपभोक्ताओं व बचतकर्ताओं की आय के स्रोतों के सम्बन्ध में धारणा आवश्यक नहीं है, जैसा कि विभेदकारी आयकर के सम्बन्ध में

आय के पैमाने पर (Income-scale) ऊपर जाने से आय के अंश के रूप में उपभोग घटता है, इसलिए इसका आशय यह है कि विभेदकारी करापात (Differential incidence) अवरोही ही होगा।

सम्पूर्ण-उपभोग के मॉडल में स्पष्टतः (इ) ही सही दृष्टिकोण बन जायगा। चूंकि सम्पूर्ण आय उपभोग में लगा दी जाती है, इसलिए आय और सापेक्ष आय की दशाओं को केवल चालू उपभोग के माध्यम से ही परिभाषित किया जा सकता है। अब हम आय के दो सम्भावित अर्थों के बीच चुनाव कर सकते हैं—इनमें एक अर्थ तो सम्भाव्य उपयोग की शक्ति के रूप में धन का संचय है, और दूसरा खरीदी गई वस्तुओं, चाहे वे उपभोग्य वस्तुएं हों अथवा टिकाऊ वस्तुएं हों, के रूप में धन का संचय है।[32] यदि हम पहली धारणा का चुनाव करते हैं तो उपभोक्ताओं और बचतकर्ताओं दोनों की आय का [illegible] से उपभोग्य वस्तुओं की कीमत के अनुसार अपस्फीतीकरण होना चाहिए और हमारे दोनों करों में करापात की दृष्टि से कोई अंतर नहीं होता है।[33] यदि हम दूसरी धारणा का चुनाव करते हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपभोग्य वस्तुओं का कर उपभोक्ता पर पड़ता है।

दोनों धारणाओं के बीच का चुनाव, न्याय के अधिकांश प्रश्नों की भांति, अनिवार्यतः एक सामाजिक दर्शन का विषय है, न कि [illegible] लेकिन जैसा कि मुझे लगता है, दूसरे दृष्टिकोण के पक्ष में काफी [illegible] जा सकता है। यदि हम सम्भाव्य उपभोग की धारणा को स्वीकार करते हैं तो हमारा आशय यह होता है कि यह जोन्स के लिए तटस्थता का [illegible]

करना आवश्यक था। अब यह जरूरी नहीं है, क्योंकि विभिन्न [illegible] प्राप्त होने वाली खर्च के योग्य सापेक्ष आय अपरिवर्तित रहने [illegible] है। अब हम दीर्घकालीन व्याख्या की उन कठिनाइयों में नहीं [illegible] ब्याज की आय पर एक विभेदकारी कर के सम्बन्ध में [illegible] हालांकि वर्तमान आय के उपयोगों व भावी आय के स्रोतों में [illegible] कार्य-कारण का सम्बन्ध हुआ करता है, लेकिन ऐसा कोई [illegible] विपरीत दिशा में नहीं देखा गया है।

32. अथवा बकाया के रूप में हों।

33. ऐसा दीर्घकालीन बातों को ध्यान में रखने पर होता है [illegible]
[illegible]

(Indifference) की स्थिति है, जोन्स अपनी आय का एक बड़ा भाग बचाता है, चाहे एक सामान्य आय-कर की जगह उपभोग्य वस्तुओं पर कर का प्रतिस्थापन किया जाय।[34] लेकिन इससे जोन्स के लिए अपना पहले का उपभोग का स्तर कायम रखना सम्भव हो जाता है और वह अधिक पूंजीगत वस्तुओं का भी संग्रह कर पाता है। वास्तव मे इस सग्रह का सम्भाव्य उपभोग मूल्य प्रारम्भ मे नहीं बढ़ाया जाता है। लेकिन धन का सचय कुछ सन्तुष्टि देता है; इसके अलावा, अवचत और फलस्वरूप, कर का भुगतान शायद कभी न हो पाये। जैसा भी हो, कर का भुगतान स्थगित कर दिया जाता है और इस पर ब्याज अर्जित किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह बाद का पहलू एक असली लाभ है जो आय की धारणाओं की बहस से भी परे है। इसके अलावा सम्भाव्य उपभोग की धारणा का आशय यह है कि स्मिथ के लिए (जो अपनी सम्पूर्ण आय उपभोग मे लगाता है) यह एक तटस्थता की स्थिति है, चाहे आय-कर के स्थान पर उपभोग्य वस्तुओं पर कर का प्रतिस्थापन कर दिया जाय। लेकिन स्मिथ को कर से पहले की अपेक्षा कर के बाद कम उपभोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं और उसे ऐसा प्रतीत हुए बिना नही रहेगा कि उसकी स्थिति पहले से खराब हो गई है।[35] कुल मिला कर मुझे यह निष्कर्ष उचित प्रतीत होता है कि कर उपभोक्ता पर पड़ता है।[36]

---

34. पाठक के लिए शायद इस तरह से सोचना उपयुक्त हो कि एक सामान्य आयकर एक सामान्य खर्च-कर (उपभोग्य अथवा पूंजीगत वस्तुओ की खरीद पर) की भाँति होता है, ताकि उपभोग्य वस्तुओ पर कर का प्रतिस्थापन (जो उपभोग्य वस्तुओं के व्यय पर कर के समान होता है) खर्च-कर से पूंजीगत वस्तुओं की खरीद को मुक्त करने के बराबर होता है।

35. मान लीजिए कि क अपनी सम्पूर्ण आय का उपभोग करता है ख उसको बचा लेता है। सम्भाव्य उपभोग की धारणा के अनुसार सापेक्ष दशाए अपरिवर्तित रहती हैं। दोनो की वास्तविक आय की स्थिति (सम्भाव्य उपभोग के रूप मे) एक ही दर से खराब हुई है, क्योकि दोनो की खर्च के योग्य अपरिवर्तित आय का अपेक्षाकृत उपभोक्ता-माल के ऊँचे मूल्यों से अपस्फीतीकरण हुआ है। मुझे ऐसा लगता है कि इससे कोई सार नही निकलता है।

36. इन दोनों व्याख्याओं के बीच मे किया जाने वाला चुनाव अनिवार्यतः उन्हीं बातों पर आ जाता है जो बचत-सम्बन्धी बहस के पुराने दोहरे-

अल्पकालीन परिणाम की हमारी व्याख्या जैसी भी हो, यह तो स्पष्ट है कि उपभोग्य वस्तुओं पर कर के प्रतिस्थापन से कुछ समय बाद साधन उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन से पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में हस्तान्तरित होने लगेंगे। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि अब बचतकर्ता अपनी बचत के बदले में अधिक पूंजीगत वस्तुएं प्राप्त कर सकते हैं जब कि उपभोक्ता कम उपभोग्य वस्तुएं प्राप्त करते हैं। लेकिन पूंजीगत वस्तुओं के रूप में प्राप्त होने वाला बचत पर बढ़ा हुआ प्रतिफल बचत की पूर्ति में वृद्धि कर सकता है। ज्योंही पूंजीगत स्टॉक में वृद्धि की जाती है त्योंही आय के स्रोतों और उपयोगों दोनों के सम्बन्ध में सापेक्ष दशाओं में अधिक परिवर्तन आयेंगे। इसके ठीक-ठीक परिणाम जो भी हों, यह तो स्पष्ट है कि एक कर की जगह दूसरे के प्रतिस्थापित किये जाने पर स्थिति पहले जैसी नहीं रहती है।

पूंजीगत वस्तुओं पर सामान्य कर

अंत में हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि यदि एक सामान्य आय-कर की जगह पूंजीगत वस्तुओं के सौदों पर कर लगा दिया जाता है तो क्या परिणाम निकलेंगे।[37]

हम कुछ समय के लिए यह मान लेते हैं कि हमारे प्रतिस्थापन के बावजूद भी श्रम व बचत की पूर्ति अपरिवर्तित बनी रहती है। उपभोग्य वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त धनराशि प्रत्यक्ष श्रम की मात्रा के भुगतान एवं पूंजीगत वस्तुओं के भुगतान के बीच पहले के जैसे अनुपातों में ही विभाजित हो जाती है। लेकिन पूंजीगत वस्तुओं के हिस्से का एक भाग इन पर लगे कर का भुगतान करने में चला जाता है। ऐसा करने पर पूंजीगत वस्तुओं में लगाई गई श्रम की मात्रा और बचत की पूर्ति करने वालों को देने के लिए राशि कम ही बच रहती है। पूंजीगत वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त श्रम के प्रति घण्टे की दर घटाई नहीं जा सकती, क्योंकि यह उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन

करारोपण में निहित है। देखिए "Double Taxation of Savings" in the **American Economic Review**, September, 1939 में मेरा नोट।

37. हमारे उद्देश्य के लिए विवेचन करने में यह स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है कि कर परिवर्तनों की प्रक्रिया में पूर्व निर्धारित किया जाता है अथवा इसके पश्चात्।

में लगे हुए प्रत्यक्ष श्रम की मात्रा के लिए दी जाने वाली राशि के बराबर हुआ करती है। इसलिए कर कोषों की पूर्ति करने वालों को कम भुगतान करने मे लगाया जाना चाहिए।[38] ब्याज से प्राप्त आय मजदूरी से प्राप्त आय की तुलना में घटती है। मजदूरी पाने वालों और ब्याज पाने वालों दोनों को आयकर के हटने से समान रूप से लाभ होता है, ताकि कुल मिलाकर ब्याज पाने वालों की खर्च के योग्य आय मजदूरी पाने वालों की तुलना में घटती है। हम जानते हैं कि यह परिणाम ब्याज की आय पर लगे विभेदकारी कर जैसा ही होता है।

पूंजीगत वस्तुएं (अपरिपक्व) की विशुद्ध कीमत उपभोग्य वस्तुओं की तुलना में अपरिवर्तित रहती हैं, जैसी कि यह ब्याज की आय पर लगे एक विभेदकारी कर के सम्बन्ध मे थी। (अपरिपक्व) पूंजीगत वस्तुओ की विशुद्ध कीमत मजदूरी की दर से निर्धारित होती है, और उपभोग्य वस्तुओ मे लगाई गई प्रत्यक्ष श्रम की मात्रा की लागत की तुलना मे अपरिवर्तित बनी रहती है। लेकिन उपभोग्य वस्तुओ की कुल लागत (अथवा कीमत) के अंश के रूप में प्रत्यक्ष श्रम की लागत अपरिवर्तित बनी रहती है। इसलिए (अपरिपक्व) पूंजीगत वस्तुओं की विशुद्ध कीमत उपभोग्य वस्तुओं की तुलना मे अपरिवर्तित बनी रहती है।[39]

---

38. (कर से पूर्व) बट्टे की आन्तरिक दर अपरिवर्तित रहती है, अब इस प्रतिफल का केवल एक अंश ही कोषों की पूर्ति करने वालो को उपलब्ध हो पाता है।

39. हम ब्याज प्राप्तकर्ताओं अथवा बचत करने वालों के लिये इस रूप में सोच सकते हैं कि वे अपरिपक्व पूंजीगत वस्तुओ को इनके उत्पादक से खरीदते हैं और परिपक्व पूंजीगत वस्तुओं को उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादक को बेचते हैं। यदि अपरिपक्व पूंजीगत वस्तुओं के विक्रेता से बिक्री के समय कर इकट्ठा किया जाता है तो ऐसी वस्तुओ की बाजार-कीमत विशुद्ध कीमत की तुलना में बढ़ती है। चूंकि परिपक्व पूंजीगत वस्तुओं का विक्रय मूल्य अपरिपक्व पूंजीगत वस्तुओं के विशुद्ध मूल्य की तुलना मे अपरिवर्तित रहता है, इसलिए बचतकर्ता को इस अन्तर, जो उसकी ब्याज की आमदनी है, में कमी के जरिए इस कर को अपने ऊपर लेना चाहिए। यदि कर बचतकर्ता से उस समय एकत्र किया जाता है जबकि परिपक्व पूंजीगत वस्तु बेची जाती है, तो उसे भी ऐसा ही लगता है कि उसकी विशुद्ध प्राप्तियां उसके व्यय की तुलना मे घट गई है।

पहले की भाँति हम इस तर्क को सापेक्ष से निरपेक्ष रूप में परिवर्तित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ मान लीजिए, कि उपभोग्य वस्तुओं की कीमत घट जाती है तो पूँजीगत वस्तुओं की विशुद्ध कीमत भी घट जायगी। ब्याज प्राप्त करने वालों की आय के मौद्रिक भाग भी घट जायगी, लेकिन मजदूरी पाने वालों की आय के मौद्रिक भाग में वृद्धि हो जायगी।

इससे शीघ्र ही जो परिणाम निकलेगा उसकी व्याख्या करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। नये कर का भार ब्याज के पाने वालों पर पड़ता है और मजदूरी पाने वाले कर से मुक्त हो जाते हैं। चूंकि आय के पैमाने पर ऊपर जाते समय आय के अंश के रूप मे ब्याज बढ़ता है, इसलिए हमारे कर प्रतिस्थापन का अन्तरजनित आघात (Differential incidence) अवरोही ही होगा। शीघ्रगामी परिणाम तो आय के उपयोग से स्वतन्त्र होगा, लेकिन एक दीर्घकालीन दृष्टिकोण मे इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि आय के वर्तमान उपयोग इसके भावी स्रोतों को निर्धारित करते हैं। यहाँ भी उसी किस्म की जटिलताएं उत्पन्न होती हैं जैसी कि ब्याज की आय पर कर लगने से उत्पन्न होती हैं, और जिन पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।[40]

इसके अलावा दीर्घकालीन विश्लेषण में पूंजीगत स्टॉक में परिवर्तन की पुर्नव्यवस्था होनी चाहिए। जब सामान्य आय-कर की जगह पूंजीगत वस्तुओं (अथवा ब्याज की आय) पर कर प्रतिस्थापित किया जाता है, तो सम्भव है कि साधनों का पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन से उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन मे हस्तान्तरण हो जाय। यह स्थिति अवश्य होगी, क्योंकि समूह के रूप में ब्याज-प्राप्तकर्ताओं की बचत करने की प्रवृत्ति मजदूरी पाने वालों की तुलना मे ज्यादा हुआ करती है,[41] अथवा ऐसी स्थिति के पाये जाने की सम्भावना हो सकती है क्योंकि प्रतिफल की विशुद्ध दर में होने वाली कमी की वजह से हो सकता है कि व्यक्ति बचत के स्थान पर उपभोग करने लगें। विकास

40. देखिए पूर्ण विवरण।

41. सम्भवतः यही स्थिति होगी, क्योंकि ब्याज की आय का एक अपेक्षाकृत बड़ा भाग ऊँची आय वाले लोगों के द्वारा ही प्राप्त किया जायगा। यह स्थिति उस समय भी पाई जायगी जबकि, आय के किसी भी दिये हुए स्तर पर, ब्याज व मजदूरी की आय एवं बचत व उपभोग के अनुपात में एक धनात्मक सम्बन्ध होता है।

की दर में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन, जैसा कि इस विवेचन में सर्वत्र देखा गया है, हमारे अल्पकालीन परिणामों को सीमित बना देंगे।

समस्त वस्तु-सौदों पर सामान्य कर

अब हम अपने निष्कर्ष समस्त वस्तु-सौदों पर लगाये जाने वाले एक सामान्य कर के अन्तर्गत ले आते हैं। इन सौदो मे उपभोग्य और पूजीगत वस्तुएँ दोनों समान रूप से आ जा जाती हैं।

चूकि पूजीगत वस्तुओ का कर ब्याज की आय पर लगे हुए कर के बराबर होता है, इसलिए यदि उपभोग्य वस्तुओ पर लगाया गया कर मजदूरी की आय पर लगे कर के समान होता है तो पूंजीगत वस्तुओ एव उपभोग्य वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर एक सामान्य आय-कर के समान ही होगा।

ऐसी स्थिति उस समय आती है जब कि (1) हम यह दृष्टिकोण स्वीकार कर लेते हैं कि उपभोग्य वस्तुओं पर लगाया गया कर उपभोक्ता पर पडता है, और (2) हम एक ऐसी स्थिति पर विचार करते हैं जिसमे मजदूरी की समस्त आय उपभोग मे लगा दी जाती है और ब्याज की सम्पूर्ण आय बचाली जाती है। हमारा निष्कर्ष उस परिस्थिति मे लागू नहीं होगा जब कि हम बचत करने वाले श्रमिकों एव उपभोग करने वाले ब्याज प्राप्त-कर्ताओ पर विचार करते हैं। एक सामान्य आय-कर और एक सामान्य वस्तु-कर के बीच जो सरल किस्म की समानता हमने सम्पूर्ण उपभोग के मॉडल में पाई थी, वह वर्तमान मॉडल मे लागू नहीं होगी।[42]

III तरलता-अधिमान मॉडल में करापात
(Incidence In The Liquidity Preference Model)

यहाँ स्थानाभाव के कारण हम तरलता-अधिमान-मॉडल की अधिक वास्तविक दशा मे इस समस्या पर पुनर्विचार करने की स्थिति मे नहीं हैं।

---

42. यदि हम करापात पर आय के वर्ग-वितरण (Bracket distribution) मे होने वाले परिवर्तनों के रूप मे विचार करें, तो एक ऐसे कर, जिसका भार विभिन्न वर्गों मे मजदूरी की आय के वितरण के अनुसार बँटता है और दूसरे एक ऐसे कर, जिसका भार विभिन्न वर्गों मे उपभोग-खर्चों के वितरण के अनुसार बँटता है, इन दोनों के बीच काफी समानता ही देखने को मिलेगी।

हम कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को लेते हैं जिनके सम्बन्ध में तर्क को संशोधित करने की आवश्यकता है।

1. तरलता-अधिमान या नकदगी का समावेश करने पर समायोजन की दिशा मौद्रिक नीति से एक सरल फलन के रूप में नहीं बतलाई जा सकती है। 'आगे के'' समायोजनों को तेजी से सम्पन्न करने के लिए आवश्यक बकाया राशि परिसम्पत्ति मुद्रा के रखाव (Holdings) से प्रदान की जा सकती है, अथवा ''पीछे के'' समायोजनों से मुक्त किये गये कोष परिसम्पत्ति मुद्रा में लगाये जा सकते हैं। अब समायोजन की दिशा बाजार के आचरण का विषय बन जाती है। मेरे विचार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं में आय-कर के स्थान पर उत्पादन-कर के लगाने का प्रभाव साधनों के घटे हुए भुगतानों के बजाय बढ़ी हुई कीमतों के रूप में ही होगा, कीमतों की ऊपर की ओर जाने की कठोरता (Rigidity) मजदूरी की नीचे की ओर जाने की कठोरता से काफी कम होगी।

परिसम्पत्ति-मुद्रा की पूर्ति में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन ब्याज की दर और विनियोग को प्रभावित कर सकते हैं जिससे समायोजन की विभिन्न दिशाएं वस्तुतः विभिन्न अन्तिम परिणाम उत्पन्न करती हैं। हमें इस सम्भावना को स्वीकार करना होगा, लेकिन मुझे इस बात में संदेह है कि इसका कोई बड़ा महत्त्व है।

2. उपभोग्य वस्तुओं पर लगाये जाने वाले कर के परिणामों का अध्ययन करते समय हमने सम्भाव्य उपभोग की शक्ति के संचय के रूप में होने वाली आय और उपभोग्य एवं/अथवा पूंजीगत वस्तुओं के संचय के रूप में होने वाली आय में अंतर किया था। तरलता-अधिमान का समावेश करने पर दूसरे विचार को फैलाकर इसमें मौद्रिक बकाया के रूप में होने वाले संचय या संग्रह को भी शामिल करना होगा। इससे एक विचित्र समस्या उत्पन्न हो जायगी कि ऐसी बकाया-राशि पर कौन-सा मूल्य-सूचनांक लागू किया जाय।

3. पूर्व विवेचन में निरंतर उन करों का उल्लेख आया था जो बचतों की पूर्ति को प्रभावित करते हैं अथवा नहीं करते हैं। यह महत्त्वपूर्ण था क्योंकि बचतों की पूर्ति पूंजी-संचय के स्तर और विकास की दर का निर्धारक थी। तरलता-अधिमान का समावेश करने पर बचत और पूंजी-निर्माण की स्पष्ट

कड़ी टूट जाती है। बचत पर कराधान के प्रभाव का महत्त्व अब प्रमुखतया उपभोग, और फलस्वरूप उपभोग-व्यय के स्तर पर प्रभाव न पड़ने के रूप में होगा। विनियोग पर कराधान के प्रभाव अब भी बचत की पूर्ति में गुणात्मक परिवर्तन के जरिए क्रियाशील होते हैं लेकिन उपलब्ध कोषों के विनियोजन या निवेश की इच्छा पर पड़ने वाले प्रभावों का अब विशेष महत्त्व हो जाता है।

4. इन तत्त्वों के कारण बजट-नीति के समायोजनों से कीमतों अथवा रोजगार के समग्र स्तर में परिवर्तन उत्पन्न हो सकते हैं। ये बदले में वितरण की दशा में और भी परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं। अब इस तरह से तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसे प्रभावों से करापात-विश्लेषण प्रभावहीन हो जाता है। इसमें यह मानना पड़ेगा कि विपरीत प्रभाव को कम करने वाली स्थायीकरण की नीतियाँ लागू की जाती हैं। समस्या को इस तरह से प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में काफी कुछ कहा जा सकता है, क्योंकि कर-नीति के निर्धारण में करापात का सम्बन्ध दी हुई आय के वितरण से ही होता है।

लेकिन यदि हम यह मान लेते हैं कि ऐसे स्थायीकरण के कार्य होते हैं, तो प्रश्न उठता है कि स्थायीकरण के कौन से उपाय काम में लिये जाते हैं? यदि मौद्रिक नीति को लेते हैं तो हम वास्तव में मौद्रिक और कर-नीति के संयुक्त आपात का विवेचन करते हैं। चूँकि समग्र माँग मौद्रिक और राजकोषीय नीति दोनों से निर्धारित होती है, इसलिए हम मौद्रिक नीति को स्थिर रख कर राजकोषीय नीति को शीघ्र ही पृथक नहीं कर सकते हैं। इसके बजाय हमें स्थायीकरण के उपायों के विभिन्न समूहों के अन्तर-जनित आपात पर विचार करना पड़ सकता है, जिसमें कर-नीति का आपात ही नहीं, बल्कि मौद्रिक नीति का आपात भी आता है।

4

करापात-सिद्धांत की पद्धति: हाल ही के कुछ योगदानों की आलोचनात्मक समीक्षा*

जेम्स एम० बुकानन

पिछले पच्चीस वर्षों में अर्थशास्त्रियों ने क्लासिकल अथवा परम्परागत अर्थ में सरकारी वित्त के विशुद्ध सिद्धांत के अध्ययन पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है। कुछेक अपवादों को छोड़कर जिन व्यक्तियों ने राजकोषीय सिद्धान्त में रुचि दिखलाई है उन्होंने केन्स के बाद अपनाये गये ढग के अनुसार राजकोषीय (बजट सम्बन्धी) नीति के सिद्धांत व प्रयोग में आनेवाली समस्याओं पर ही विचार किया है। उन्होंने कराधान व सार्वजनिक व्यय के सिद्धांतों को सापेक्ष रूप में भुलाकर राजकोषीय व मौद्रिक सिद्धांत के एकीकृत पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है।

परम्परागत सिद्धांत की तरफ वापिस जाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है और पिछले कुछ वर्षों के लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस तरह का परिवर्तन होनेवाला है। आजकल उत्पादन-कर के आपात से सम्बन्धित सिद्धांत में पुनः रुचि बढ़ गई है। यद्यपि इस रुचि के स्वतन्त्र रूप से विकसित होने के भी प्रमाण मिलते हैं, फिर भी इस का अधिकांश श्रेय अर्ल रोल्फ (Earl (Rolph) को दिया जाना चाहिए जिनके कार्य ने, जो इनकी लेखमालाओं [1] मे एव बाद में इनकी पुस्तक, **The Theory of Fiscal Econo-**

---

* (इस निबन्ध मे इटेलियन मे प्रकाशित एक लेख "La metodologia della teoria dell' incidenza," Studi economici (दिसम्बर, 1955) का काफी परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया गया है। इसमे मैंने पराविसिनी (Parravicini) के विवेचन से सम्बन्धित अनुच्छेद जोड़े हैं और निबन्ध मे कुछ अन्य स्थानों पर भी परिवर्तन किये हैं।)

Earl R. Rolph, "A Proposed Revision of Excise Tax Theory, "Journal of Political Economy, LX (1952), 102-

mics, 2 में पाया है, काफी वाद-विवाद को प्रोत्साहित किया है। जोन ड्यू, आर० ए० मसग्रेव, एच० पी० बी० जेनकिन्स [3] और जी० पराविसिनी ने इस बहस मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

इस लेख के प्रारम्भ मे मैं रोल्फ के विश्लेषण की सक्षेप मे समीक्षा करूँगा। द्वितीय, मैं इस विश्लेषण की उस आलोचना का विवेचन भी करूँगा जो ऊपर वर्णित सामग्री मे स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप मे शामिल है। लेख के तृतीय एवं मूल भाग मे मैं सम्पूर्ण बहस को एक ऐसे ढाँचे मे प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा जिसे मैं एक उचित कार्य-पद्धति का ढाचा मानता हूँ।

1. विश्लेषण

रोल्फ का विश्लेषण शुरू में अमेरिका मे एच० जी० ब्राउन [4] द्वारा प्रस्तुत किये गये सिद्धान्त का ही एक परिष्कृत, विस्तृत, व्यापक एवं कुछ

17, "A Theory of Excise Subsidies," **American Economic Review**, XLII (1952). 515-27; "Government Burdens and Benefits: Discussion, "**American Economic Review** XLIII (1953), 537-43; "A Theory of Excise Subsidies : Reply," **American Economic Review** XLIII (1953), 895–98.

(2) Berkeley : University of California Press, 1954.

(3) John F. Due, "Toward a General Theory of Sales Tax Incidence," **Quarterly Journal of Economics**, LXVII (1953), 253-66; Richard A. Musgrave, "General Equilibrium Aspects of Incidence Theory." **American Economic Review**, XLIII (1953), 504-17; "On Incidence," **Journal of Political Economy**, LXI (1953), 306-23; H.P.B, Jenkins, "Excise-Tax shifting and Incidence ; A Money-Flows Approach," **Journal of Political Economy**, LXIII (1955), 125-49.

लॉरेन्स अबोट (Lawrence Abbott) ने भी रोल्फ के विश्लेषण पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखी है. "A Theory of Excise Subsidies : Comment," **American Economic Review**, XLIII (1953), 890-95.

(4) H.G. Brown, "The Incidence of a general output or a general Sales Tax," **Journal of Political Economy**, XLVII (1939), 254-62.

पक्षों में काफी परिवर्तित रूप है। ब्राउन का यह दावा था कि पूर्ण रूप में जो सामान्य उत्पादन कर होता है वह उपभोक्ताओं पर खिसकाया जा सकता है। इसीलिए ऐसे कर का अन्तिम भार साधनों के स्वामियों पर उनकी आमदनी के अनुपात में पड़ता है। ब्राउन का मत तर्क की दृष्टि से सामान्य रूप से सही होने एवं शास्त्रीय विवेचन [5] में काफी मात्रा में स्वीकार किये जाने पर भी व्यापक स्वीकृति प्राप्त करने में असफल रहा है। मार्शल की पद्धति में प्रशिक्षण पाये हुए अर्थशास्त्रियों ने आंशिक-संतुलन विश्लेषण को सामान्य उत्पादन-कराधान पर लागू करने का प्रयास किया है जहां के लिए यह वास्तव में अनुपयुक्त है। इस निष्कर्ष पर शायद ही कभी आपत्ति उठाई जाती है कि उपभोक्ता सामान्य उत्पादन-करों का भार वहन करते हैं। इसका कारण यह है कि इस बात को नहीं पहचाना गया है कि आंशिक उत्पादन-कर और सामान्य उत्पादन-कर के विश्लेषणों में भिन्न-भिन्न सैद्धान्तिक ढांचों की आवश्यकता होती है।

रोल्फ को यह श्रेय है कि उसने अमेरिका में प्रचलित राजकोषीय सिद्धांत में इस कमी की ओर ध्यान आकर्षित किया है। लेकिन उसने ब्राउन के विश्लेषण से भी परे जाने और उसके निष्कर्षों को आंशिक उत्पादन-करों पर भी लागू करने का प्रयास किया है। अब मैं रोल्फ के विश्लेषण में पाये जाने वाले अध्ययन के ढांचे, पद्धति एवं निष्कर्षों की रूपरेखा प्रस्तुत करूँगा।

रोल्फ कर के प्रभावों का विश्लेषण सरकारी व्यय और/अथवा अन्य करों की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों से पृथक करके करता है। सरकारी व्यय एवं अन्य करों की मात्रा व बनावट को यथास्थिर मान लिया जाता है। वह स्पष्टतः विभेदात्मक कराधान पद्धति (differential incidence approach) को छोड़ देता है जिसमें यह मान लिया जाता है कि अन्य करों में पूरक परिवर्तन हो रहे हैं। इसी तरह वह सतुलित-बजट पद्धति (balanced

(5) विशेषतया शिकागो विश्वविद्यालय में भूतपूर्व प्रोफेसर हेनरी सी० साइमन्स के द्वारा दिये गये विवेचन में। दुर्भाग्यवश इस विषय पर साइमन्स के द्वारा प्रकाशित एकमात्र विवरण उनके एक लेख के सारांश में दिया गया है जो उन्होंने दिसम्बर 1939 में American Economic Association की एक सभा में प्रस्तुत किया था। देखिए **American Economic Review XXX (1940), 242-44.**

budget approach) को भी त्याग देता है। जिसमे अतिरिक्त कर-आय के बराबर ही अतिरिक्त सरकारी खर्च मान लिया जाता है।

कर सिद्धान्त मे रोल्फ के दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि केन्स के बाद की अवधि मे देखने को मिलती है जब करो पर अपस्फीतिकारी (स्फीति-विरोधी) नीति के रूप मे बल दिया गया और फलस्वरूप बजट-सतुलन का राजकोषीय आदर्श के रूप मे परित्याग कर दिया गया। यदि बजट-नीति के मामलो मे करों को आय-सृजन के उपायों की अपेक्षा मुख्यतया अपस्फीतिकारी उपायो के रूप मे ही माना जाना है तो कराधान के विश्लेषण मे इस दृष्टिकोण का लागू होना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

पद्धति-सम्बन्धी इस मान्यता से निकट सम्बन्ध रखने वाली और शायद इससे भी ज्यादा मूलभूत है रोल्फ की कर की परिभाषा। उसने कर की परिभाषा इस प्रकार दी है कि यह व्यक्ति से सरकार की तरफ होने वाला मुद्रा का हस्तान्तरण (money transfer payment) है। क्यों पुराना यह विचार कि कर वास्तविक भार डालते है कल्पित घोषित हो जाता है। राजकोषीय कार्यों से वास्तविक भार राजकोषीय खाते मे कर की तरफ से नहीं बल्कि खर्च की तरफ से उत्पन्न होता है। सरकारी क्रिया का समग्र वास्तविक भार पूर्णतया इस बात से निर्धारित होता है कि सरकार के अधिकार मे कुल आर्थिक साधनो का कितना भाग है। और चूंकि रोल्फ ने सरकारी खर्चों को यथास्थिर मान लिया है, इसलिए सरकार का समग्र वास्तविक भार केवल कर के परिवर्तन से ही नहीं बदल सकता है।

यह आश्चर्य की बात है कि रोल्फ के विश्लेषण मे वे स्पष्ट मान्यताएँ नहीं है जिनका सम्बन्ध मौद्रिक अधिकारियो द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियों से होता है। उसने करापात-सिद्धांत के अपने निरूपण में मौद्रिक सिद्धान्त के अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान को पूर्णतया स्वीकार किया है, और कम से कम अपनी पुस्तक मे तो राजकोषीय सिद्धांत के मौद्रिक आधार पर काफी बल दिया है। लेकिन उसका मौद्रिक विश्लेषण लगभग पूर्णतया प्रक्रिया के रूप में (in terms of process) ही किया गया है। दूसरे शब्दों में, हम यों कह सकते हैं कि वह मौद्रिक विश्लेषण को उस दशा पूरा मानता है जबकि यह दर्शा दिया जाय कि, उदाहरण के लिए, कर-प्रेरित क्रयशक्ति व्यक्तियों व फर्मों के व्यय-सम्बन्धी निर्णयों को कैसे प्रभावित करती है। कहीं भी वह उस मौद्रिक ढांचे को साफ तौर से नहीं बतलाता है जिसके अन्तर्गत विश्लेषण किया जाता है। अन्त में

केवल रोल्फ ने ही यह पद्धतीय भूल नहीं की है। मौद्रिक ढांचे की किस्म को स्पष्ट न कर सकने के कारण ही केन्स के विश्लेषण की काफी उपयोगिता, सम्भवतया अधिकांश उपयोगिता, घट गई है।[6]

रोल्फ के विश्लेषण सम्बन्धी ढांचे में शेष लक्षण अधिक परम्परागत हैं। इन लक्षणों में पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक व बंद अर्थ-व्यवस्था की मान्यता भी शामिल है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में दीर्घकाल में साधन पूर्णतया गतिशील होते हैं। विश्लेषण की सरलता के लिये केवल दो वस्तुओं का बिना बचत का मॉडल प्रयुक्त किया गया है। हालांकि इस तरह की सामान्य किस्म की मान्यताओं की यह आलोचना की गई है और की भी जा सकती है कि ये विश्लेषण के लागू होने को अनावश्यक रूप से मर्यादित कर देती हैं, फिर भी तृतीय खण्ड के विवेचन में इनको स्वीकार किया जायगा।

अब हम रोल्फ के विश्लेषण के कार्य-प्रणाली सम्बन्धी पहलुओं की जांच करेंगे। उसने एक कर के "आय-प्रभाव" और उसके "कीमत-आवटन" ("price-allocation") प्रभाव में काफी अन्तर किया है। कर के लागू होने पर व्यक्तियों की मौद्रिक आय में जो कमी आती है उसे आय-प्रभाव कहते हैं। जब हम कर की यह परिभाषा मानते हैं कि यह एक हस्तान्तरण-भुगतान है तो यह निजी मौद्रिक आय में अवश्य कमी करेगा और सरकार की आमदनी में इतनी ही मात्रा में वृद्धि करेगा। दूसरे शब्दों में, एक कर का आय-प्रभाव सरकार की कर से प्राप्त आय के ठीक बराबर होता है। इसके अतिरिक्त कर से अर्थ-व्यवस्था में कीमत-आवटन प्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं और नहीं भी।

आय-प्रभाव के कारण और इसके माध्यम कर अपस्फीतिकारी प्रभाव डालता है। खर्च करने की वैयक्तिक शक्ति कम हो जाती है और, मान्यतानुसार अतिरिक्त सरकारी व्यय अथवा अन्य करों में कमी के रूप में बराबर

6 इस विषय पर हाल ही में प्रस्तुत की गई उत्तम सामग्री के लिये देखिये फ्रिट्ज मेकलप (Fritz Machlup), "The Analysis of Devaluation," American Economic Review, XLV (1955), 273-75 मेकलप का कहना है कि 'अर्वाचीन अर्थशास्त्र' के अध्ययन क्रम में मुद्रा की पूर्ति को नीति सम्बन्धी चलराशि (policy variable) माने जाने की बजाय एक निर्भर चलराशि (dependent variable) माने जाने की ही प्रवृत्ति रही है।

करने वाले स्फीतिकारी प्रभाव उत्पन्न नहीं होने दिये जाते हैं। लेकिन कर का अपस्फीतिकारी प्रभाव केवल मौद्रिक ही होता है। कर कोई वास्तविक त्याग नहीं करवाता है। हम यह मान सकते हैं कि जिन व्यक्तियों व समूहों की मौद्रिक आय घट जाती है वे ही कर का भार वहन करते हैं।

एक सच्चे सामान्य उत्पादन-कर की स्थिति मे ये सब साधनों के स्वामी होते हैं। कर के चुकाये जाने की शर्त उत्पादन करने वाली फर्मों के द्वारा प्राप्त विशुद्ध कीमत मे कमी कर देती है। प्रत्येक फर्म को उस बिन्दु तक उत्पत्ति के घटाने की प्रेरणा होती है जहा सीमान्त लागत विशुद्ध कीमत के बराबर हो जाती है। लेकिन चूंकि प्रत्येक फर्म पर एक-सा प्रभाव पड़ता है, इसलिए सब की तरफ से उत्पत्ति को सीमित करने की कोशिश से साधनो के बाजारों मे बेकारी उत्पन्न हो जाती है। यदि साधन-बाजारो मे प्रतिस्पर्धा पाई जाती है तो साधनो की कीमतें इतनी गिर जायेंगी जिससे बेकारी दूर हो सके। नये सतुलन की स्थिति मे प्रत्येक फर्म कर के पूर्व की स्थिति के बराबर ही उत्पादन करेगी और विशुद्ध कीमत सीमान्त लागत के बराबर होगी। ऐसा समायोजन केवल साधनो की घटी हुई कीमतो के मार्फत ही पूरा हो सकेगा। साधनो के स्वामियो की मौद्रिक आय मे कर की मात्रा के बराबर कमी आ जाती है और प्रत्येक व्यक्ति उसके द्वारा प्राप्त की जाने वाली साधन-आय के अंश के अनुपात मे कर भुगतता है। चूंकि प्रत्येक फर्म उतनी ही उत्पत्ति जारी रखती है जितनी कि वह कर से पूर्व करती थी, इसलिए उत्पत्ति की बनावट (वस्तु-मिश्रण) कर के बाद भी अपरिवर्तित ही बना रहता है। समस्त वस्तुओ व सेवाओ पर लगाये जाने वाला सच्चा सामान्य उत्पादन-कर (जो एक-सा होता है) कीमत-आवटन प्रभाव नही डालता है।

इसके पश्चात् रोल्फ इस विश्लेषण को आशिक उत्पादन कराधान पर लागू करता है। चूंकि आय प्रभाव अब भी विद्यमान रहता है, इसलिए आय प्राप्तकर्ताओं को सरकार की कर से प्राप्त आय मे यहा भी कर-भार उठाना पड़ता है। लेकिन इस स्थिति में पूरक कीमत-आवटन प्रभाव भी पाये जाते हैं। सब वस्तुओ और सेवाओं मे से कुछ को छोडकर शेष पर कर के लगाये जाने से बिना कर की वस्तुओं की तुलना में कर लगी हुई वस्तुओ की कीमतों में बढ़ने की अधिक प्रवृत्ति होगी।

रोल्फ के ही शब्दों मे उसके निष्कर्ष निम्नांकित हैं :

1. "पूर्णतया सामान्य एवं एक-से करो की व्यवस्था उत्पादन की बनावट को अपरिवर्तित बने रहने देती है, वस्तुओ की कीमतों को नहीं बढ़ाती

है, और साधनों के स्वामियों की मौद्रिक आय को घटा देती है और ऐसा वह आनुपातिक रूप में करती है।

2. "आंशिक उत्पादन करों की कोई भी व्यवस्था वस्तु-मिश्रण को बदल देती है, भारी करोंवाली वस्तुओं की कीमतों को बढ़ा देती है, हल्के करों व बिना करों वाली वस्तुओं की कीमतों को कम कर देती है, और साधनों के स्वामियों की मौद्रिक आय को घटा देती है।

3. "उत्पादन कराधान की सभी प्रणालियां अवस्फीतिकारी होती है.........."[7]

II. आलोचना

ऊपर रोल्फ का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उसकी संक्षेप में आलोचना देना लाभप्रद होगा। यहां पर यह स्मरण रखना होगा कि नीचे जिन चार मतों का विवेचन किया जा रहा है उनमें से प्रत्येक मत कर-सिद्धान्त के क्षेत्र में एक सामान्य योगदान के रूप में देखा जा सकता है और वह रोल्फ के विचारों की आलोचना तक ही सीमित नहीं है। लेकिन चारों में एक सी बात यह है कि रोल्फ के विश्लेषण के कुछ अंशों पर आपत्ति उठाई गई है। इससे, कम से कम मेरे प्रयोजन के लिए, एक उपयुक्त ढंग की समरूपता की तरफ ले जाने वाली सामग्री उपलब्ध हो जाती है।

ड्यू का योगदान

ड्यू ने कराधान की परिभाषा वास्तविक रूप में (real terms) की है। इसे "कर भार के वितरण का प्रारूप समझा गया है; कर-भार का आशय वास्तविक आय की कमी है (.........) जो कर के लागू होने से उत्पन्न होती है।"[8] उसका रोल्फ से मौलिक मतभेद है, क्योंकि रोल्फ ने कराधान को मौद्रिक अर्थ में परिभाषित किया है और "कर-भार" की धारणा को स्पष्टतया अस्वीकार किया है।

ब्राउन-रोल्फ के विचारों (जिनको वह एक मानता है) के अपने विशेष विवेचन में ड्यू का कहना है कि उसके निष्कर्षों की सत्यता तीन मान्यताओं पर निर्भर करती है। वे इस प्रकार हैं: (1) साधनों की पूर्णतया बेलोच पूर्ति,

7. "A Proposed Revision of Excise-Tax Theory," p. 102.

8. Due, op. cit., p. 254.

और साथ में द्रव्य की एक दी हुई मात्रा; (2) पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा; और (3) कर से प्राप्त आय का उपयोग इस तरह से किया जाता है कि कर और आय के उपयोग दोनों पर विचार करने से भी वस्तुओं की समग्र मौद्रिक माग अपरिवर्तित बनी रहती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की मान्यता रोल्फ के विश्लेषण में स्पष्ट रूप से थी और इस मान्यता के औचित्य के सम्बन्ध मे ड्यू की आलोचना पर विचार नहीं किया जायगा। मैं रोल्फ से इस बात पर सहमत हूँ कि हमें अपेक्षाकृत बडे और अधिक महत्वाकांक्षी कार्यों पर जाने से पूर्व सरल दशाओ मे कराधान-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए। तृतीय मान्यता ब्राउन के विश्लेषण मे निहित मालूम देती है, जिसमे सरकार की करो से प्राप्त आय के उपयोग पर विचार किया गया है। लेकिन यह बात तो ब्राउन और रोल्फ के बीच मतभेद की हुई। रोल्फ ने स्पष्टत. सरकारी व्यय को यथास्थिर मान लिया है, और कर के अपस्फीतिकारी प्रभाव पर जोर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ड्यू ने ब्राउन और रोल्फ के बीच पाये जाने वाले इस मतभेद पर ध्यान नहीं दिया है। ड्यू की यह आलोचना सही है कि रोल्फ के कुछ निष्कर्ष केवल इसी मान्यता से उत्पन्न हो सकते हैं कि समग्र माग कायम रखी जाती है। अपने गणितीय मॉडलो मे रोल्फ ने कर का मुद्रास्फीति निरोधक उपाय के रूप मे प्रयोग किया है जो स्फीतिकारी अतर (gap) की दशा मे लागू किये जाने पर कर सहित समग्र मांग को सम्बन्धित पिछली अवधि मे पाई जाने वाली कर रहित समग्र माग के बराबर कर देता है। यहाँ पर यह माना जा सकता है कि यदि कर लागू नहीं किया जाता तो समग्र मांग में कर की आय के बराबर वृद्धि होती, अर्थात् मुद्रास्फीति हो जाती। लेकिन रोल्फ के लेखों को ध्यान से पढ़ने पर यह लगता है कि वह अपने विश्लेषण को समस्त राजकोषीय दशाओ पर समान रूप से लागू मानता है। और चूंकि वह करों के सामान्य अपस्फीतिकारी प्रभाव पर जोर देता है, इसलिए मेरा अनुमान है कि यदि उसके निष्कर्ष समग्र मौद्रिक मांग के बने रहने पर निर्भर करते हैं तो ऐसा उसके विश्लेषण की त्रुटि के कारण है, न कि उसकी अव्यक्त मान्यताओ को स्पष्ट करने की विफलता के कारण।

समग्र रूप से विचार करने पर ऐसा लगता है कि ड्यू रोल्फ-ब्राउन के इस मूल निष्कर्ष को अस्वीकार कर देता है कि सामान्य उत्पादन-कर साधनों के स्वामियों के द्वारा भुगते जाते हैं, न कि उपभोक्ताओं के द्वारा। वह इस परिणाम को अनेक स्थितियों मे से एक सम्भावित स्थिति ही मानता है। ड्यू

ने अपनी वैकल्पिक व्याख्या में यह मान लिया है कि मुद्रा की पूर्ति लोचदार होती है और मौद्रिक अधिकारी वस्तुओं की कीमतों को स्थिर रखने में विफल रहते हैं। अध्ययन के जिस ढांचे को उसने ज्यादा पसंद किया है उसमें कर की वजह से होने वाली मूल्य वृद्धि वास्तविक मूल्य-वृद्धियों के रूप में प्रगट होती है क्योंकि समग्र मौद्रिक माग में वृद्धि होने की आती है।

मसग्रेव का योगदान

मसग्रेव के अनुसार कराधान का आशय उन परिवर्तनों से है जो कर के सामने से निजी उपयोग के लिए उपलब्ध होने वाली वास्तविक आय के वितरण में उत्पन्न होते हैं।[9] उसने कराधान की तीन किस्मों में अन्तर किया है जो बजट सम्बन्धी समायोजन की अलग-अलग किस्मों से उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम, अन्य करों एवं सार्वजनिक व्यय को स्थिर रखने की दशा में एक कर के परिवर्तन से "निरपेक्ष कराघान" ("absolute incidence") उत्पन्न होता है। वस्तुतः यह रोल्फ का अध्ययन का ढांचा है। द्वितीय, एक कर में परिवर्तन कर दिया जाय, लेकिन साथ में दूसरे कर में इसको बराबर कर देने वाले या मिटा देने वाले ऐसे परिवर्तन कर दिये जाँय कि कुल सरकारी आय यथास्थिर बनी रहे। इन करों का जो वितरण-सम्बन्धी परिणाम निकलता है उसे "भेदात्मक कराधान" ("differential incidence") की श्रेणी में रखा गया है। अन्त में एक कर में परिवर्तन किया जा सकता है और साथ में सार्वजनिक व्यय में भी उसी मात्रा में परिवर्तन कर दिये जाते हैं। यह परिणाम "सन्तुलित बजट कराधान" ("balanced budget incidence") कहलाता है। मसग्रेव ने राजकोषीय सिद्धान्त में "भेदात्मक कराधान" के दृष्टिकोण का प्रबल समर्थन किया है, लेकिन उसने तीनों दृष्टिकोणों को पद्धति की दृष्टि से स्वीकार किया है।

मसग्रेव का विश्लेषण, जो केवल भेदात्मक और सतुलित बजट के माध्यम से ही किया गया है, यह दर्शाता है कि जिस विशिष्ट मौद्रिक ढाचे की कल्पना की गई है वह उन निरपेक्ष कीमतों में समायोजन की दिशा को निर्धारित करने में पूरी तरह से महत्त्वपूर्ण हो जाता है जो कर के परिवर्तन से उत्पन्न हुई है। प्रारम्भ में विभिन्न किस्म की मान्यताओं, जैसे मुद्रा की स्थिर पूर्ति की नीति, स्थिर मूल्य-स्तर अथवा अन्य विकल्प, के स्वीकार करने से विभिन्न

9. "On incidence," Journal of Political Economy, LXI (1953), 306.

किस्म के निष्कर्ष निकल सकते हैं। उसने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि निरपेक्ष कीमतों अथवा कीमत-स्तर में समायोजन की दशा का कराधान के प्रारूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। निरपेक्ष कीमतों में समायोजन की दिशा पूर्णरूप से एक मौद्रिक वस्तु है जो कर-भार के वितरण को प्रभावित नहीं करती है। "कराधान का सिद्धान्त मूलतः सापेक्ष कीमतों का ही सिद्धान्त है जब कि इस स्थिति में किये जाने वाले मौद्रिक परिवर्तनों का प्रभाव केवल मूल्य-स्तर पर ही पड़ता है।"[10]

मसग्रेव विश्लेषण की परम्परागत पद्धति में निहित दो भ्रमों को स्वीकार करता है जिनके द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया है कि उपभोक्ता उपभोग्य वस्तुओं पर लगाये जाने वाले सामान्य उत्पादन करों का भार वहन करते हैं। वह ब्राउन और रोल्फ दोनों को इस भ्रम को ढूंढ निकालने का श्रेय देता है, और वह यह है कि व्यक्तिक फर्मों के समायोजनों के कारण मूल्य-वृद्धि हो सकती है। लेकिन वह उनको इस बात के लिए दोषी ठहराता है कि वे दूसरे भ्रम से नहीं बच सके। यह भ्रम इस प्रकार है कि उन्होंने निरपेक्ष कीमतों में समायोजन की दिशा को ही करापात समझ लिया है। यह दर्शा कर कि, कुछ दशाओं में, साधनों की कीमतों में कर की मात्रा के बराबर गिरावट आती है, मसग्रेव ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि ब्राउन और रोल्फ ने यह नहीं बतलाया है कि साधनों के स्वामी कर का भार वहन करते हैं। मसग्रेव यह बतलाता है कि यदि समायोजन की दिशा ऐसी हो कि इससे मूल्य बढ़ जांय, घट जांय, अथवा स्थिर बने रहें तो भी कराधान का प्रारूप (incidence pattern) एक सा रह सकता है।

उपभोग-अर्थव्यवस्था के अपने विवेचन के बाद मसग्रेव एक ऐसी अर्थव्यवस्था पर विचार करता है जिसमें उपभोग की वस्तुएं और पूंजीगत वस्तुएं दोनों पाई जाती हैं। उपभोग्य वस्तुओं पर कर का समावेश करके वह यह दर्शाता है कि पूंजीगत वस्तुओं की कीमतें उपभोग्य वस्तुओं की तुलना में घट जाती हैं और कर का वास्तविक भार उपभोग और पूंजीगत वस्तुओं के बीच पाये जाने वाले क्रय के वैयक्तिक प्रारूप (individual purchase pattern) पर निर्भर करता है। यहां पर उसका विवेचन रोल्फ अथवा ब्रेनफिन्स से केवल इस अर्थ में भिन्न है कि वह पूंजीगत वस्तुओं का समावेश कर देता है।

---

10. वही पृष्ठ 314.

उपभोग्य वस्तुओं पर लगाये जाने वाले सामान्य उत्पादन कर के अपने विश्लेषण के बाद (जो ब्राउन-रोल्फ के अर्थ में एक सामान्य उत्पादन कर नहीं है), मसग्रेव समस्त पूंजीगत वस्तुओं पर सामान्य रूप से एवं समान रूप से लगाये जाने वाले कर के प्रभावों की जांच करता है और ऐसा करते समय वह उपभोग्य वस्तुओं को बिना कर लगे हुए ही छोड़ देता है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ऐसा कर पूर्णरूप से बचत की पूर्ति करने वालों के द्वारा ही भुगता जायगा। यह इस परिणाम पर उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन को पूंजीगत वस्तुओं से पूर्णतया पृथक करके पहुँचता है. प्रथम श्रेणी की वस्तुएं प्रत्यक्ष श्रम और पहले से उत्पन्न की गई पूंजीगत वस्तुओं की सहायता से उत्पादित होती हैं और द्वितीय श्रेणी की वस्तुएं प्रत्यक्ष श्रम और "प्रतीक्षा" से उत्पादित होती हैं। उपभोग्य वस्तुओं पर लगाये जाने वाले सामान्य कर और पूंजीगत वस्तुओं पर लगाये जाने वाले सामान्य कर के भार का विश्लेषण करने के बाद मसग्रेव इन दोनों को सच्चे सामान्य उत्पादन-कर के अपने विश्लेषण में शामिल करने का प्रयास करता है। चूंकि यह मान लिया जाता है कि पूंजीगत वस्तुओं पर लगाये जाने वाला कर बचत की पूर्ति करने वालों के द्वारा ही भुगता जाता है, इसलिए यदि करापात की दृष्टि से सामान्य उत्पादन-कर को साधनों के प्रतिफल पर लगाये जाने वाले सामान्य आय-कर के समान होना है, तो उपभोग्य वस्तुओं पर पड़ने वाला कर पूर्णरूप से उपभोक्ताओं के द्वारा ही भुगता जाना चाहिए (यही ब्राउन-रोल्फ निष्कर्ष है)। उपभोक्ता उपभोग्य वस्तुओं पर लगाये जाने वाले उत्पादन-कर का पूरा भार तभी वहन करते हैं जब कि मजदूरी से प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण आय उपभोग में लगा दी जाती है, और ब्याज की सम्पूर्ण आय बचा ली जाती है। चूंकि ये शर्तें अवास्तविक हैं, इसलिए मसग्रेव का यह निष्कर्ष है कि व्यवहार में बहुत कम पाये जाने वाले सम्पूर्ण उपभोग के मॉडल को छोड़कर रोल्फ का सामान्य प्रतिपादन कहीं भी लागू नहीं होता है।

मसग्रेव के विश्लेषण के अधिकांश भाग को चुनौती देना सम्भव नहीं होगा बशर्ते कि हम पूंजी के उस सिद्धान्त को स्वीकार करलें जिस पर कि यह आधारित है। वह बिना किसी मर्यादा या शर्त के पूंजी के ऑस्ट्रियन सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है जिसमें पूंजीगत वस्तुएँ उत्पादन के [illegible]." साधनों की सूचक होती हैं। उसने अर्थव्यवस्था के पूंजीगत वस्तुओं [illegible]-वस्तुओं के क्षेत्र में, धारणा की दृष्टि से, जो तीव्र अंतर किया है [illegible] इस पूंजीगत सिद्धान्त के आधार पर ही सम्भव प्रतीत होता है। इसके

विपरीत यदि हम ऑस्ट्रियन सिद्धान्त को अस्वीकार करके उसके स्थान पर नाइट का सिद्धान्त रख लें तो मसग्रेव का विश्लेषण सही नहीं रह जायगा। उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन एवं पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन मे किया जाने वाला स्पष्ट अंतर मिट जायगा और जो निष्कर्ष सम्पूर्ण उपभोग-वस्तुओं के मॉडल की मान्यता के आधार पर निकाले गये थे वे इसमे पूंजीगत वस्तुओं के समावेश से, कम-से-कम स्थैतिक विश्लेषण में तो अपरिवर्तित ही बने रहेंगे।

जेनकिन्स का योगदान

अब मैं उत्पादन-कर के भार-सम्बन्धी विवाद में एच० पी० बी० जेनकिन्स के योगदान का विवेचन करूँगा। उसका विश्लेषण अत्यधिक जटिल है और उसके गणितीय विश्लेषणात्मक मॉडलों के ढांचे से बाहर विवेचन कर सकना कठिन है। फिर भी उसकी पद्धति व उसके निष्कर्षों का सारांश दिया जा सकता है।

जेनकिन्स की पद्धति में मुद्रा-प्रवाह (Money flow) पर कर के प्रभावों के जरिए कराधान के प्रारूप को जानने का प्रयास किया गया है। यद्यपि उसका विशिष्ट विश्लेषण भेदात्मक कराधान की भाषा में हुआ है, फिर भी उसका मत है कि उसके निष्कर्ष सरकारी व्यय की मात्रा, अन्य कर एव मौद्रिक नीति के बारे में स्वीकार की जाने वाली मान्यताओं से असम्बन्धित किये जाने पर भी लागू होते हैं। जेनकिन्स के अनुसार नीति-सम्बन्धी इन तीन परिवर्तनशील तत्त्वों से सम्बन्धित स्पष्ट मान्यताएँ केवल विश्लेषण की स्पष्टता व सुविधा के लिए ही आवश्यक हैं, क्योंकि ये मुद्रा-प्रवाह की निरपेक्ष मात्राओं को ही प्रभावित करती हैं।

जेनकिन्स का मत है कि रोल्फ ने मौद्रिक अपस्फीति को गलती से कर का खिसकना मान लिया है। इस बात पर वह और मसग्रेव एक दूसरे से सहमत हैं। लेकिन जेनकिन्स मसग्रेव की भी आलोचना करता है और कहता है कि उसने करों के झूठे और सच्चे करापात में ठीक से अंतर स्पष्ट नहीं किया है। जेनकिन्स के अनुसार करापात की परिभाषा इस प्रकार है : "यह वह प्रारूप है जिसमे राज्य के द्वारा उपलब्ध की जाने वाली (सेवाओं) का आरोप्य या लगाया गया खुदरा वस्तु-मूल्य अन्तिम बाजार-भुगतानों के ढांचे में शामिल होता है।"[11] चूंकि यह परिभाषा अनिवार्यतः मौद्रिक है, इसीलिए

11. जेनकिन्स, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 131

जेनकिन्स की करापात की धारणा मसग्रेव अथवा डा् के बजाय रोल्फ के ज़्यादा समीप मालूम देती है लेकिन यह समानता वास्तविक होने के बजाय ऊपरी ज़्यादा है क्योंकि इस मौद्रिक परिभाषा के बावजूद भी जेनकिन्स का करापात का विश्लेषण अनिवार्यतः वास्तविक या अमौद्रिक रूप में ही किया गया है।

रोल्फ का मत है कि कर के भार-प्रभाव (जिन्हें वह स्पष्टतः "करापात" कह कर नहीं पुकारता है लेकिन जिनको वह ज़्यादा अच्छी परिभाषा के रूप में स्वीकार करता है) सरकार की कर से प्राप्त आय से अधिक नहीं हो सकते हैं, और यदि सीमान्त-आवंटन प्रभाव उपस्थित होते हैं तो इस प्राथमिक मात्रा से पूरक के रूप में ही होते हैं। जेनकिन्स भी लगभग ऐसा ही तर्क प्रस्तुत करता है कि कर-भार का वास्तविक अथवा सच्चा मौद्रिक मूल्य वस्तुओं व सेवाओं की सरकारी खरीद के मान लिये गये या आरोप्य मूल्य से अधिक नहीं हो सकता है। कर के कारण इससे पूरक के रूप में वास्तविक आय में जो कमियां आती हैं उन्हें सच्चा करापात नहीं कहा जा सकता है। वह उन्हें झूठा करापात कहता है, अथवा, अधिक विशिष्ट रूप में, दुसरा वस्तु-मूल्य में सैतिजीय परिवर्तन मानता है। मसग्रेव जेनकिन्स के "सच्चे" करापात और वस्तु-मूल्य के इन परिवर्तनों दोनों को ही अपनी व्यापक परिभाषा में शामिल करता है।

जेनकिन्स के विश्लेषण में विशेष रूप से अर्थव्यवस्था के सरकारी क्षेत्र का विवेचन शामिल किया गया है और वह रोल्फ व मसग्रेव दोनों की इस बात के लिए आलोचना करता है कि उन्होंने सरकार के द्वारा की गई खरीद की ध्यान से छानबीन नहीं की है। सर्वप्रथम, जेनकिन्स ने यह बतलाया है कि एक कर अपने प्रभाव में सही अर्थ में सामान्य तभी हो सकता है जब कि यह सरकारी खरीद और सम्पूर्ण निजी खरीद दोनों पर फैल जाय। इस स्थिति में ब्राउन-रोल्फ का पूर्ण रूप से पीछे की ओर खिसकाने का निष्कर्ष लागू होता है; कर का पूरा भार साधनों के स्वामियों पर पड़ता है। लेकिन यदि कर सरकारी खरीद तक नहीं फैलाया जाकर केवल निजी क्षेत्र तक ही सीमित रखा जाता है तो विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि, उत्पादन को दी जाने वाली आर्थिक सहायता की दशा को छोड़कर जिसमें कर-भार को आगे खिसकाना सम्भव होता है, कर अंशतः साधनों के स्वामियों के द्वारा और अंशतः उपभोक्ताओं के द्वारा भुगता जायेगा।

वह यह दर्शाता है कि जब सरकारी खरीद को छोड़कर अन्य वस्तुओं पर कर लगाया जाता है, तो साधनों के स्वामियों पर पड़ने व भार का मौद्रिक मूल्य सदैव सरकार की उत्पादन-कर की आय के होगा। इससे रोल्फ के प्रारम्भिक निष्कर्ष का समर्थन हो जाता है। उसका मत है कि रोल्फ ने इसी बिन्दु पर रुक कर गलती की। जेन्कि विश्लेषण से यह प्रगट होता है कि सरकार को कर से प्राप्त आय के मूल्य से भी अधिक मात्रा मे उपभोक्ताओं पर अतिरिक्त भार पड़ता। अतिरिक्त या पूरक भार सदैव पीछे ढकेली जाने वाली मात्रा के प्र ही होता है, और यह अनुपात अर्थव्यवस्था मे कुल कर-भार की मात्रा निर्भर किया करता है।

विश्लेषण की सुविधा के लिए जेनकिन्स यह मान लेता है कि मॉडलों मे कर केवल इतना ही होता है कि वह वस्तु-रूप मे सरकारी की एक दी हुई मात्रा की वित्तीय व्यवस्था के लिए पर्याप्त सिद्ध हो व्यवस्था मे उत्पादन के उन साधनों के अनुपात को मापना आव होता है जो सरकार के द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन जाते हैं। उसके मॉडलों में यह अनुपात सदैव पाँचवा भाग होता है आशय यह है कि अर्थव्यवस्था की उत्पादन-शक्ति का ⅕ भाग निजी के द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन मे लगा है। इससे जेनकिन्स को उस प्रारम्भिक दशा का ज्ञान हो जाता। उपभोक्ताओं की स्थिति मापी जा सकती है। यदि निजी तौर प जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं के उपभोक्ता दूसरा पदार्थों के ⅕ का ⅕ से ज्यादा भाग कर लगी हुई वस्तुओं के खरीदने मे लगाते हैं ऊपर का भाग कर-भार का मद माना जायगा, और उपभोक्ताओं भुगता जायगा। वास्तव में इस विश्लेषण में यह बतलाया गया है साधनों के भाव कुछ घटा दिये जाते हैं और सरकारी खरीद पर लगता है इसलिए सरकार को अपनी खरीद में सौदे की दृष्टि से जाता है। भुगतानों के रूप मे होने वाली यह विकृति कर के असली उस दिखाई देने वाले भार से अधिक बना देती है जो कर की सीमित रहता है।

मसग्रेव के साथ जेनकिन्स का मतभेद ज्यादा सूक्ष्म है और अर्जित उत्पादन-कर के विश्लेषण से ही प्रकट होता है। जैसा बतलाया जा चुका है यह करापात की परिभाषा के मामूली-से अन्तर

ही उत्पन्न होता है। उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले मौद्रिक भार को मापने के सम्बन्ध मे जेनकिन्स के द्वारा स्वीकार की गई प्रारम्भिक दशा में साधनों की लागतों का वह अंश आता है जो उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में निहित होता है। खुदरा खरीद में किये गये कुल भुगतानों का जो अंश साधनों की लागतों के इस अंश से ऊपर होता है वह उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले अतिरिक्त भार का माप माना जाता है। लेकिन उसका विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि जब उत्पादन-कर एक ही वस्तु पर लगाया जाता है (अथवा कुल वस्तुओं से कम पर लगाया जाता है) तो कर लगी हुई वस्तु के उपभोक्ताओं के द्वारा खुदरा वस्तु के मूल्य के रूप मे चुकाई जाने वाली जो राशि "माने गये या आरोपित खुदरा मूल्य" से अधिक होती है, वह कर के वास्तविक भार से अधिक होती है। यह स्मरण रखना होगा कि जेनकिन्स के अनुसार करापात के भी दो अंग होते हैं, एक तो सरकार की कर की आय और दूसरे, उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले वास्तविक भार का अतिरिक्त खुदरा मूल्य। लेकिन इससे ऊपर एक राशि और होती है जो आंशिक उत्पादन-कर की स्थिति मे कर लगी हुई वस्तु के उपभोक्ताओं के द्वारा चुकाई जाती है। एक स्थिति वह होती है जहाँ खुदरा वस्तु-मूल्य अतिरिक्त अथवा पूरक रूप मे हस्तान्तरित किया जाता है; यह स्थिति कर के लागू होने से उत्पन्न होती है। जेनकिन्स मसग्रेव को इस बात के लिए गलत ठहराता है कि उसने इसे करापात में शामिल कर लिया है।

खुदरा वस्तु-मूल्य में जिस तरह से यह पूरक अन्तरण होता है उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है। एक ही वस्तु पर लगाया गया कर अन्य समस्त वस्तुओं व सेवाओं की लागतों को कम कर देता है। इस प्रकार कर न लगी हुई वस्तुओं और सेवाओं के उपभोक्ताओं को उत्पादन-कर के लागू होने से ठीक उसी तरह से वास्तविक लाभ प्राप्त हो जाता है जिस तरह कि सरकार को सामान्य उत्पादन-कर और आंशिक उत्पादन-कर की स्थिति होता है। लेकिन कर न लगी हुई वस्तुओं के उपभोक्ताओं को यह लाभ कर लगी हुई वस्तु के उपभोक्ताओं को क्षति पहुँचा कर ही होता है। जेनकिन्स के अनुसार कर लगी हुई वस्तु के उपभोक्ताओं के द्वारा उठाये जाने वाले "भार" को अन्य उपभोक्ताओं के द्वारा प्राप्त किये जाने वाले "लाभों" के बराबर करने के लिए करापात में जोड़ना अनुचित होगा। कर लगी हुई वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों का परिवर्तन कर लगी हुई वस्तु के उपभोक्ताओं के द्वारा उठाये जाने वाले सच्चे करापात की मात्रा को आवश्यकता से अधिक दिखाता है। विभेद की यह मात्रा जो अन्य उपभोक्ताओं को दी जाने वाली

छिपी हुई आर्थिक सहायता से बराबर हो जाती है, एक हस्तान्तरण-होती है, जिससे कर लगी हुई वस्तुओं के उपभोक्ता कर लगी हुई और f कर लगी हुई वस्तुओं का उपभोग उसी अनुपात में करके सदैव बच सक जिस अनुपात में एक औसत अथवा प्रतिनिधि व्यक्ति इनका उपभोग करता

पराविसिनी का योगदान

(The Parravicini Contribution)

जियानिनो पराविसिनी ने करापात की इस बहस [12] में इटली प्रतिनिधित्व किया है। उसके तर्क मे, जो ब्राउन रोल्फ सिद्धांत की आलोच के रूप में स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है कुछ ऐसे तत्व हैं जो मसग्रेव उ जेनकिन्स दोनों के तर्कों से कुछ अर्थों में मिलते जुलते हैं। यद्यपि पराविसिनी विवेचन अधिक परिष्कृत प्रतीत होता है, फिर भी यह ह्यू के विवेचन सबसे अधिक निकट है।

अपने मॉडल की शर्त के रूप मे वह यह कल्पना कर लेता है कि मु की मात्रा और मुद्रा का प्रचलन-वेग स्थिर रहते हैं। उसके बाद वह द दर्शाता है कि उत्पादन-कर के लागू होने से यह प्रतिक्रिया होती है कि मु का आय-वेग बढ़ जाता है। यह प्रभाव मुद्रा के "कार्य-भार" में कमी माध्यम से प्रगट होता है। "कार्य-भार" की यह कमी कर-व्यय की क्रि से उत्पन्न होती है। सामान्य उत्पादन-कर जो प्राय. वितरण के अन्तिम सोपा पर लगाया जाता है एक ऐसे राजकोषीय आय-वृत्त के मार्फत कोष एक कर लेता है जिसमें अधिक सामान्य निजी आय-वृत्त की तुलना में अपेक्षाकृ कम सम्भवत् सोपान होते हैं। अतएव यदि मुद्रा की मात्रा और प्रचलन-वे दोनों स्थिर रखे जाते हैं तो सामान्य उत्पादन-कर के फलस्वरूप कीमतों i सामान्य रूप से अवश्य ही वृद्धि हो जाती है।

III आलोचना

पीछे करापात-सिद्धांत के जिन विभिन्न योगदानों का विवेचन किया गया है वह इतना संक्षिप्त है कि उसके जरिए पृथक्-पृथक् विश्लेषणों की

12. Giannino Parravicini, "Imposte indirette su merce e livello generale dei prezzi;" Moneta e credito (1954), 144-64; 298-312; "Imposte, moneta, e prezzi," Rivista di diritto finanziario e scienza delle finanze, XV (1956), 111-36.

मियों और जटिलताओं को स्पष्ट कर सकना कठिन है। मैंने प्रत्येक लेने वाले के प्रमुख योगदानों का ही विवरण देने का प्रयास किया है। कुछ अस्पष्ट रह गया है वह इस अनुभाग में स्पष्ट किया जायगा और में इस विषय पर मैं अपने विचार भी प्रकट करूंगा।

इस बहस में जो प्रश्न शामिल हैं वे विश्लेषणात्मक होने की बजाय : पद्धति से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। कुछ पद्धतीय प्रश्न चुनाव के में बदले जा सकते हैं। ब्राउन, मसग्रेव और जेनकिन्स के विश्लेषणों में जाने वाले अतर उनकी परिभाषाओं व गैर-राजकोषीय पूर्वमान्यताओं चुनाव में होने वाले अतरों में बदले जा सकते हैं। इसके विपरीत ड्यू व विसिनी दोनों के निष्कर्ष वस्तुत: उस मौद्रिक ढांचे पर निर्भर करते हैं वे अपने विश्लेषणार्थ उपयुक्त मान लेते हैं। लेकिन पद्धतीय त्रुटियां भी सकती हैं और जहाँ तक रोल्फ का सम्बन्ध है उसकी तरफ से इस सम्पूर्ण पात की बहस मे इस तरह की भी त्रुटि हुई है, और उसके आलोचक त्रुटि को स्पष्ट करने में असफल रहे हैं, हालांकि प्रत्येक ने इसकी उप-ति तो स्वीकार की है।[13]

आगे के विवेचन में मैं निम्न कथनो का समर्थन करने का प्रयास रूँगा :—

1. ब्राउन-रोल्फ का यह निष्कर्ष कि एक सच्चा सामान्य उत्पादन- र पीछे की ओर हस्तान्तरित किया जाता है और करापात उत्पादन के धनों के स्वामियों पर ही आता है, काफी सही है।

2. रोल्फ का यह कथन गलत है कि ऐसा कर वस्तु-मिश्रण को रिवर्तित नही करता है। लेकिन इस विषय पर ब्राउन, अपने विश्लेषण के मित सदर्भ में, अपने कथनो में सावधान एवं सही है।

3. एक आंशिक उत्पादन-कर सामान्यत: साधनों के स्वामियों एवं र लगी हुई वस्तु के उपभोक्ताओं के द्वारा वहन किया जाता है; हालांकि स भार का अधिकांश भाग साधारणतया साधनों के स्वामियों के द्वारा ही हन किया जाता है।

---

13. अब्बोट ने इसे काफी स्पष्ट रूप से देखा है, लेकिन उसने भी इस प्रश्न को पूर्ण सामान्य ढंग से व्यक्त नहीं किया है। अब्बोट, पूर्वोद्धृत।

4. रोल्फ अपनी पद्धतीय त्रुटि उस समय कर बैठता है जबकि वह एक कर का स्वतंत्र विश्लेषण करने का प्रयास करता है। उसकी त्रुटि एक आधारभूत किस्म की है क्योंकि इसमें अर्थशास्त्री के 'अन्य बातें पूर्ववत् रहें' नामक अस्त्र का अनुचित प्रयोग किया गया है।

5. प्रत्येक कर वास्तविक भार डालता है क्योंकि यदि ऐसा भार नहीं डाले तो वह कार्यात्मिक दृष्टि से व्यर्थ होता है।

6. मसग्रेव और जेनकिन्स के बीच अंतर करने के लिए हमें उनके विश्लेषणों में कर की निहित प्रकृति को स्पष्ट करना होगा।

7. जेनकिन्स की कर की धारणा परम्परागत विचार के ज्यादा अनुकूल है और यह करापात सिद्धांत के प्रश्नों को तीखा करने में सहायक होती है। लेकिन यदि मसग्रेव की धारणा का ठीक से उपयोग किया जाता है, तो यह अधिक सामान्य रूप से लागू की जा सकती है और इसी कारण से यह कुछ उद्देश्यों के लिए पद्धतीय दृष्टि से ज्यादा अच्छी मानी जाती है।

8. करापात-सिद्धांत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त मौद्रिक मान्यता यह है कि अन्तिम वस्तुओं की कीमतों के किसी सूचनांक को स्थिर करने के लिए सरकारी कदम उठाया जाय। केवल इस मान्यता की सहायता से ही करापात की धारणा को दृष्टि से मौद्रिक नीति के भार से पृथक किया जा सकता है।

चूंकि ऊपर के कथन एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं इसलिए इनमें से प्रत्येक का विवेचन स्वतन्त्र ढंग से नहीं किया जायगा। लेकिन इन कथनों का प्रयोग सुविधाजनक रूपरेखा के तौर पर करना लाभप्रद होगा।

1. इस बात के सम्बन्ध में काफी सहमति प्रतीत होती है कि एक पूरे सामान्य उत्पादन-कर के आपात के बारे में ब्राउन-रोल्फ निष्कर्ष सही है। यदि कीमतों को एक से कर की राशि के बराबर भी बढ़ने दिया जाता है, जैसा कि रूप् के स्फीतिकारी मॉडल में होता है, तो भी साधनों के स्वामी गैर-साधन स्वामियों की तुलना में ज्यादा बुरी स्थिति में आ जाते हैं; लेकिन इसमें यह मान लिया जाता है कि कर के बिना भी मुद्रास्फीति होती। साथ में यह भी सही है कि हमें मौद्रिक अधिकारियों की स्फीतिकारी नीतियों के लिए कर को उत्तरदाई नहीं ठहराना चाहिए। मसग्रेव अपने सम्पूर्ण-उपभोग के मॉडल में सामान्य वस्तु-कर और साधनों की आय पर आय-कर के बीच

बारीकियों और जटिलताओं को स्पष्ट कर सकना कठिन है। मैंने प्रत्येक भाग लेने वाले के प्रमुख योगदानों का ही विवरण देने का प्रयास किया है। जो कुछ अस्पष्ट रह गया है वह इस अनुभाग में स्पष्ट किया जायगा और साथ में इस विषय पर मैं अपने विचार भी प्रकट करूँगा।

इस बहस में जो प्रश्न शामिल हैं वे विश्लेषणात्मक होने की बजाय मूलतः पद्धति से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। कुछ पद्धतीय प्रश्न चुनाव के प्रश्नों में बदले जा सकते हैं। ब्राउन, मसग्रेव और जेनकिन्स के विश्लेषणों में पाये जाने वाले अतर उनकी परिभाषाओं व गैर-राजकोषीय पूर्वमान्यताओं के चुनाव में होने वाले अतरों में बदले जा सकते हैं। इसके विपरीत ड्यू व पराविसिनी दोनों के निष्कर्ष वस्तुतः उस मौद्रिक ढाँचे पर निर्भर करते हैं जिसे वे अपने विश्लेषणार्थ उपयुक्त मान लेते हैं। लेकिन पद्धतीय त्रुटियां भी हो सकती हैं और जहाँ तक रोल्फ का सम्बन्ध है उनकी तरफ से इस सम्पूर्ण करापात की बहस मे इस तरह की भी त्रुटि हुई है, और उसके आलोचक इस त्रुटि को स्पष्ट करने में असफल रहे हैं, हालांकि प्रत्येक ने इसकी उपस्थिति तो स्वीकार की है।[13]

आगे के विवेचन में मैं निम्न कथनों का समर्थन करने का प्रयास करूँगा :—

1. ब्राउन-रोल्फ का यह निष्कर्ष कि एक सच्चा सामान्य उत्पादन-कर पीछे की ओर हस्तान्तरित किया जाता है और करापात उत्पादन के साधनों के स्वामियों पर ही आता है, काफी सही है।

2. रोल्फ का यह कथन गलत है कि ऐसा कर वस्तु-मिश्रण को परिवर्तित नहीं करता है। लेकिन इस विषय पर ब्राउन, अपने विश्लेषण के सीमित संदर्भ में, अपने कथनों में सावधान एवं सही है।

3. एक आंशिक उत्पादन-कर सामान्यतः साधनों के स्वामियों एवं लगी हुई वस्तु के उपभोक्ताओं के द्वारा वहन किया जाता है; हालांकि भार का अधिकांश भाग साधारणतया साधनों के स्वामियों के द्वारा ही किया जाता है।

[13] मस्ग्रेव ने इसे काफी स्पष्ट रूप से देखा है, लेकिन उसने भी इस प्रश्न को पूर्ण सामान्य ढंग से व्यक्त नहीं किया है। मस्ग्रेव, पूर्वोद्धृत।

4. रोल्फ अपनी पद्धतीय त्रुटि उस समय कर बैठता है जबकि यह एक कर का स्वतन्त्र विश्लेषण करने का प्रयास करता है। उसकी त्रुटि एक आधारभूत किस्म की है, क्योंकि इसमें अर्थशास्त्री के 'अन्य बातें पूर्ववत् रहें' नामक अस्त्र का अनुचित प्रयोग किया गया है।

5. प्रत्येक कर वास्तविक भार डालता है क्योंकि यदि ऐसा भार नहीं डाले तो वह कार्यात्मक दृष्टि से व्यर्थ होता है।

6. मसग्रेव और जेनकिन्स के बीच अंतर करने के लिए हमें उनके विश्लेषणों में कर की निहित प्रकृति को स्पष्ट करना होगा।

7. जेनकिन्स की कर की धारणा परम्परागत विचार के ज्यादा अनुकूल है और यह करापात सिद्धांत के अस्त्रों को तीखा करने में सहायक होती है। लेकिन यदि मसग्रेव की धारणा का ठीक से उपयोग किया जाता है, तो यह अधिक सामान्य रूप से लागू की जा सकती है और इसी कारण से यह कुछ उद्देश्यों के लिए पद्धतीय दृष्टि से ज्यादा अच्छी मानी जाती है।

8. करापात-सिद्धांत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त मौद्रिक मान्यता यह है कि अन्तिम वस्तुओं की कीमतों के किसी सूचनांक को स्थिर करने के लिए सरकारी कदम उठाया जाय। केवल इस मान्यता की सहायता से ही करापात को धारणा की दृष्टि से मौद्रिक नीति के भार से पृथक किया जा सकता है।

चूंकि ऊपर के कथन एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं इसलिए इनमें से प्रत्येक का विवेचन स्वतन्त्र ढंग से नहीं किया जायगा। लेकिन इन कथनों का प्रयोग सुविधाजनक रूपरेखा के तौर पर करना लाभप्रद होगा।

1. इस बात के सम्बन्ध में काफी सहमति प्रतीत होती है कि एक पूरे सामान्य उत्पादन-कर के आपात के बारे मे ब्राउन-रोल्फ निष्कर्ष सही है। यदि कीमतों को एक से कर की राशि के बराबर भी बढ़ने दिया जाता है, जैसा कि ड्यू के स्फीतिकारी मॉडल में होता है, तो भी साधनों के स्वामी गैर-साधन स्वामियों की तुलना मे ज्यादा बुरी स्थिति में आ जाते हैं; लेकिन इसमे यह मान लिया जाता है कि कर के बिना भी मुद्रास्फीति होती। साथ में यह भी सही है कि हमें मौद्रिक अधिकारियों को स्फीतिकारी नीतियों के लिए कर को उत्तरदाई नहीं ठहराना चाहिए। मसग्रेव अपने सम्पूर्ण-उपभोग के मॉडल मे सामान्य वस्तु-कर और साधनों की आय पर आय-कर के बीच

समानता स्वीकार करता है, और जैसा कि हम बतला चुके हैं, वैकल्पिक पूंजी-सिद्धांत की स्थिति में सम्पूर्ण-उपभोग का मॉडल तुलनात्मक स्थैतिकी में विश्लेषण के लिए एक सामान्य ढांचा बन जाता है । वास्तव में यह स्थान ऐसा नहीं है जहां पूंजी-सिद्धांत के गहन और आज भी काफी अज्ञात समझे जाने वाले प्रश्नों के विवेचन में प्रवेश किया जाय, लेकिन मैं यह बतलाना चाहता हूं कि मैं नाइट के सिद्धांत को पसन्द करता हूं जो रोल्फ के विश्लेषण में निहित है । जेनकिन्स रोल्फ के निष्कर्ष से उस स्थिति में सहमत होता है जब कि कर सरकार के द्वारा खरीदी गई वस्तुओं और निजी व्यक्तियों के द्वारा खरीदी गई वस्तुओं दोनों पर लगाये जाते हैं । इस विशिष्ट स्थिति में जेनकिन्स का योगदान इस बात को दर्शाने में है कि एक कर उस समय तक सामान्य नहीं माना जा सकता जब तक कि उसमें सरकारी खरीद शामिल नहीं करली जाय ।

विश्लेषण की बारीकियां एवं पद्धति की बातें चाहे जितनी महत्वपूर्ण हों, लेकिन इनके बारे में होने वाली बहस से वह मूलभूत सहमति नहीं छिप जानी चाहिए जो सामान्य उत्पादन करों के आपात के स्थान के सम्बन्ध में पाई जाती है । आंशिक संतुलन के अस्त्र काफी सरलता से ऐसी परिस्थितियों पर लागू किये गये हैं और अब भी किये जा रहे हैं जहां वे काम नहीं करते हैं और, यदि प्रयुक्त किये गये, तो गलत परिणामों की तरफ ले जायेंगे । और यदि अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध में पेचीदा दृष्टिकोण अपना लेते हैं, तो समाज में साधारण रूप से इस तरह का दृष्टिकोण रखने वाले नीति-निर्धारक समूहों की शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता को नहीं भुलाया जाना चाहिए । पत्रकारों एवं राजनीतिज्ञों को यह जानना चाहिए कि एक सामान्य उत्पादन-कर अथवा आंशिक उत्पादन-करों के एक पूरे समूह में, और एक आनुपातिक आय-कर में वास्तव में मामूली-सा अन्तर ही है ।

2. ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान बहस में भाग लेने वाले सभी व्यक्तियों ने, केवल जेनकिन्स को छोड़कर, लेकिन स्वयं रोल्फ को शामिल करते हुए, इस तथ्य को भुला दिया है कि सामान्य उत्पादन-करों के सम्बन्ध में ब्राउन व रोल्फ के विश्लेषणों में मूलभूत अंतर है । अंतर इस प्रकार है कि ब्राउन का विश्लेषण तो निश्चित रूप से संतुलित-बजट करापात के सांचे में ढला है जिसमें सरकार की तरफ से कर से नई आय के प्राप्त करने एवं व्यय करने पर विशेष ध्यान दिया गया है । ब्राउन इस बात को स्पष्टतः स्वीकार करता है कि कर के फलस्वरूप सरकार के पास व्यय के लिए अधिक राशि हो जायगी

और व्यक्ति के पास कम हो जायगी। "वैयक्तिक रूप से लोगों के पास व्यय के लिए कम मुद्रा होगी। सामूहिक रूप से, बिक्री-कर से प्राप्त आय के रूप में जो सरकार के द्वारा खर्च की जाती है, उनके पास व्यय के लिए अधिक राशि होगी।"[14] इसकी वजह से ब्राउन यह कहते समय बहुत सावधान हो जाता है कि कर के फलस्वरूप उत्पत्ति की बनावट अपरिवर्तित रह जाती है। जल्दी से पढ़ने पर ऐसा लग सकता है कि उसने उत्पत्ति की बनावट को अपरिवर्तित माना था, लेकिन उसने एक फुटनोट में विशेषरूप से यह स्वीकार किया है कि यदि सरकारी माँग का प्रारूप व्यक्तिगत मांग से भिन्न होता है, तो यह निष्कर्ष लागू नहीं होगा।[15] यह एक रुचिप्रद बात है कि रोल्फ, ब्राउन के विश्लेषण का जिक्र करते हुए तो उनमें निहित विभेदात्मक करापात के पहलुओं को स्वीकार करता है, लेकिन वह यह पहचानने में विफल रहता है कि वस्तु-मिश्रण के सम्बन्ध में ब्राउन का प्रारम्भिक निष्कर्ष अपनी आशिक सत्यता के लिए इस पूर्वानुमानित ढांचे पर ही निर्भर करता है।[16] यदि सरकारी व्यय अथवा अन्य करों में पूरक परिवर्तन नहीं होने दिये जाते हैं तो सामान्य उत्पादन-कर के लागू होने से ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न हो जायेंगी जो उत्पत्ति की बनावट को परिवर्तित कर देंगी।

यह निम्न विधि से दर्शाया जा सकता है। मान लीजिए समस्त वस्तुओं और सेवाओं पर एक सामान्य उत्पादन-कर लागू किया जाता है और साथ में सरकार की तरफ से की जाने वाली अन्य करों की द्रव्य के रूप में वसूली

---

14. ब्राउन, पूर्वोद्धृत,

15. "यह तो सम्भव है कि कम व्यक्तिगत व्यय और अधिक सामूहिक व्यय विभिन्न किस्म की वस्तुओं की सापेक्ष मांगों और उनकी सीमांत लागत को परिवर्तित करदें और इस प्रकार उनकी सापेक्ष कीमतों पर कुछ प्रभाव डाल सकें।"

16. "ब्राउन के सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन-कराधान की एक सामान्य प्रणाली उत्पत्ति की बनावट व वस्तु-मूल्यों को कराधान की उस प्रणाली की तुलना में निरपेक्ष व सापेक्ष रूप में अपरिवर्तित रहने देती है जो समान आय देती है और पीगू के अर्थ में जिसके घोषणा सम्बन्धी प्रभाव कुछ भी नहीं होते है।"

"A Proposed Revision of Excise-Tax Theory," Journal of Political Economy, LX (1952), 107.

और द्रव्य के रूप में सरकारी व्यय अपरिवर्तित बने रहते हैं। (रोल्फ की मान्यताएं ये ही हैं।) सरकार के सम्बन्ध में यह मान्यता स्वीकार करनी होगी कि वह एकत्र आय का संचय कर लेती है, हालांकि रोल्फ ने कहीं भी इसकी आवश्यकता स्पष्ट नहीं की है। कर-संग्रह अर्थव्यवस्था पर अपस्फीतिकारी प्रभाव डालेगा, साधनों के स्वामियों की आमदनी घट जायगी, कुछ समूहों की आमदनी और अन्य स्रोतों से सरकार की आमदनी (मुद्रा में) अपरिवर्तित बनी रहेगी। जहां तक अन्तिम दोनों की मांग का प्रारूप साधनों के स्वामियों की मांग के प्रारूप से भिन्न होगा, वहां तक वस्तु-मिश्रण में परिवर्तन करना होगा।

अन्य दशाओं में जहां पुराने कर की जगह नया कर लगा दिया जाता है, अथवा एकत्र की गई नई आय अतिरिक्त सरकारी खरीद में पूंजी लगाने में प्रयुक्त होती है, वहां राजकोषीय प्रक्रिया के फलस्वरूप वस्तु-मिश्रण स्पष्टतः बदल जायगा।

3. रोल्फ का बड़ा योगदान सम्भवतः इस बात में है कि उसने सामान्य उत्पादन-करों के विश्लेषण को आंशिक उत्पादन-करों पर लागू किया है और उसने यह बतलाया है कि आंशिक उत्पादन-करों के आपात का एक अंश कर लगी हुई वस्तुओं के उपभोक्ताओं पर आने की बजाय साधनों के स्वामियों पर आयेगा। ब्राउन का विश्लेषण इतना विस्तृत नहीं है, और आंशिक-सतुलन के निष्कर्ष लगभग व्यापक रूप से आंशिक उत्पादन-करों पर भी लागू किये गये हैं। कुछ उद्देश्यों के लिए आंशिक सतुलन-विश्लेषण उपयुक्त रहता है, लेकिन धारणात्मक दृष्टि से सामान्य-सतुलन का ढांचा सदैव ज्यादा सही होता है। आंशिक-सतुलन पर जोर देने का कारण यह प्रतीत होता है कि उपभोक्ताओं पर इकट्ठा करापात आता है जो बिना कर लगी हुई वस्तुओं की तुलना में कर लगी हुई वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने से उत्पन्न होता है। ग्रेनबिन्स का विश्लेषण आंशिक उत्पादन कर के मॉडल में साधनों के स्वामियों एवं उपभोक्ताओं के सापेक्ष भार को पृथक करने में अत्यधिक मदद करता है।

4. रोल्फ उस समय एक मूलभूत पद्धतीय त्रुटि कर बैठता है जबकि वह एक नये कर का विश्लेषण अन्य करों अथवा सार्वजनिक व्यय से होने वाले परिवर्तनों से पृथक करके करने का प्रयास करता है और कर-प्रेरित मौद्रिक अपस्फीति या सकुचन के पूरे परिणामों तक पहुंचने में असफल रहता है। उसका दृष्टिकोण है कि सार्वजनिक व्यय और अन्य करों को यथास्थिर मान कर एक नए

इस कर के प्रभावों का विश्लेषण करना पूर्णतया उचित होगा। लेकिन इस दृष्टि-कोण के अपनाने पर कर के अपस्फीतिकारी प्रभावों पर पूर्णतया विचार किया जाना चाहिये। मौद्रिक दशाओं को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में यथास्थिर नहीं माना जा सकता है। जब रोल्फ सभी सम्भव पूरक प्रभावों को स्पष्टतया अथवा इन्हें भुलाकर यथास्थिर मान लेता है, तो वह एक ऐसे प्रश्न का एकदम गलत प्रयोग करता है जो अर्थशास्त्रियों के लिए काफी उपयोगी रहा है और ठीक से प्रयुक्त होने पर जिससे काफी सहायता मिल सकती है। हमारे लिए उन चल-राशियों को यथास्थिर मानना उचित होगा जो या तो उस चल-राशि (variable) की गति से पूर्णतया अप्रभावित रहती है जिस पर हमारा विश्लेषण कार्य करता है, अथवा यदि प्रभावित होती हैं, तो ये इतनी कम मात्रा में बदलती है कि स्थिरता की मान्यता हमारे निष्कर्षों को व्यर्थ सिद्ध नहीं कर देती हैं। लेकिन उन चीजों को स्थिर मानना अनुचित होगा जो हमारे विश्लेषण की प्रक्रिया के कारण अवश्य बदलती है। दूसरे शब्दों में, उन मात्राओं को स्थिर मानना अनुचित होगा जो सक्रिय चल-राशि (action variable) के साथ अवश्य बदलती हैं। कीमत-सिद्धान्त में हम एक वस्तु की कीमत को बदलते हैं और मौद्रिक आय के अपरिवर्तित रहने की मान्यता के आधार पर इसके प्रभावों की छानबीन करते हैं। हम ऐसा इसलिये कर सकते हैं कि एक वस्तु की कीमत में होने वाला परिवर्तन मौद्रिक आय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता है। लेकिन यदि हम एक ऐसे संस्थागत ढांचे का अध्ययन करते हैं जिसमें मजदूरी की दरें एक ही कीमत से बांध दी जाती हैं, तो हम किसी महत्वपूर्ण (जैसे गले में घण्टी वाली अगली भेड़) वस्तु की मांग की जांच में मौद्रिक आय के स्थिर रहने की प्रचलित मान्यता का उपयोग नहीं कर सकेंगे। अथवा, यदि हम अर्थशास्त्र के बाहर से कोई उदाहरण लें तो मान लीजिये कि हम एक जलाशय में जल की सतह को नीचे लाने के प्रभावों का विश्लेषण करना चाहते हैं। वर्षा, तापक्रम आदि जैसी चीजों को 'अन्य बातों के पूर्ववत्' रहने में शामिल करना लाभप्रद होगा, लेकिन हम इसके अन्तर्गत सम्बन्धित जलधारा के अन्य सभी आशयों (receptacles) के जल के स्तर को शामिल नहीं कर सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रोल्फ ने यही करने का प्रयास किया है। उसने बिना आवश्यक पूरक प्रभावों का पता लगाये एक कर के प्रभावों का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। वास्तव में यह एक चुनाव का विषय है कि तीन रास्तों में से किसका चुनाव किया जाय। कोई चाहे तो मसग्रेव की पसन्द के अनुसार अन्य कर में कमी का मार्ग चुन सकता है। अथवा संतुलित-बजट-विधि प्रयुक्त की जा सकती है। अथवा, यदि कोई चाहे

तो एक कर में परिवर्तन कर सकता है, और सरकारी खर्च अथवा अन्य करों को बदले बिना उत्पन्न होने वाले मौद्रिक अपस्फीति के पूरे प्रभावों का पता लगा सकता है। यदि रोल्फ ऐसा कर लेता तो उसका विश्लेषण बहुत सुधर जाता। लेकिन आखिर का चुनाव तो तीनों में सबसे कम उपयुक्त प्रतीत होता है। यहां मुख्य बात यह है कि इन तीनों में से एक का चुनाव करना होगा और जब इसे स्वीकार कर लिया जाता है तो, एक विस्तृत अर्थ में, निरपेक्ष करापात की धारणा को छोड़ना पड़ता है। अन्य चल-राशियों में पूरक परिवर्तन होने चाहिये। विश्लेषणकर्ता तो केवल यही कर सकता है कि वह उन पूरक चल-राशियों का चुनाव कर सके जिन्हें वह बदलना चाहेगा।

यहां पर रोल्फ के साथ न्याय करने के लिए यह स्मरण रखना होगा कि केवल उसी ने अन्य बातें पूर्ववत् रहें का दुरुपयोग नहीं किया था। इस तरह की व्याधि अर्थशास्त्रियों में आम तौर से पाई जाती है, और यह विशेष रूप से उनमें देखने को मिलती है जिन्होंने मार्शल के माग-वक्र के सम्बन्ध में दिये गये हिक्स के वर्णन को स्वीकार किया है और काम में लिया है। इस विषय पर मिल्टन फ्रीडमैन (Milton Friedman) का पद्धतीय योगदान वास्तव में इस बात को दर्शाने में है कि परम्परागत माग-वक्र की मान्यताएं परस्पर कैसे असंगत हैं, अर्थात्, उनमें किस तरह से 'अन्य बातें पूर्ववत् रहें' का दुरुपयोग किया गया है और उनसे किस प्रकार विश्लेषण की दृष्टि से गलत परिणाम निकले हैं।[17]

---

17. Milton Friedman, "The Marshallian Demand Curve," **Journal of Political Economy**, LVII (1949), 463–95; "The 'Welfare' Effects of an Income Tax and an Excise Tax," **Journal of Political Economy**, LX (1952), 25–33. उसका निबन्ध "The Methodology of Positive Economics," भी देखिये जो Essays in positive Economics में अन्य दो निबन्धों के साथ शामिल किया गया है (Chicago : University of Chicago Press, 1953).

    अन्य बातें पूर्ववत् रहें के उपयोग से सम्बन्धित सामान्य विवेचन के लिए मेरा लेख देखिए "Ceteris Paribus : Some Notes on Methodology," Southern Economic Journal, XXIV (1958), 259–70.

5. रोल्फ ने कर की परिभाषा में इसे एक मौद्रिक वस्तु बतलाया है, अर्थात् यह व्यक्ति से सरकार की तरफ किया जाने वाला एक हस्तान्तरण भुगतान है। इसीलिए ऐसा माना जाता है कि इससे कोई वास्तविक भार नहीं पड़ता है। यह राजकोषीय सिद्धांत में परम्परा से काफी दूर जाने का सूचक है और इस पर ध्यान से विचार किया जाना चाहिये। चूंकि एक कर का उपयोग केवल मुद्रास्फीति-निरोधक अस्त्र के रूप में किया जा सकता है, जहां इसका सार्वजनिक व्यय की मात्रा से कोई सम्बन्ध न हो, इसलिए रोल्फ ने कर का इस विशुद्ध मौद्रिक साधन के रूप में विश्लेषण करना ही पसन्द किया है। वास्तव में ऐसा करना बिलकुल सही है। लेकिन यहां पर भी कुछ पद्धति-सम्बन्धी नियमों का पालन करना होगा।

अब हम कर के सम्बन्ध में उसका ऐसा उदाहरण लेते हैं जिससे कोई वास्तविक भार नहीं पड़ता है। यह एक ऐसा कर होता है जो एकमात्र मुद्रास्फीति को रोकने के प्रयोजन से ही लगाया जाता है और जो इस उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल होता है।[18] वस्तुओं की क़ीमतें औसत रूप से कर से पूर्व और कर के पश्चात् एक-सी ही रहती हैं। निजी उपयोग के लिए वास्तविक पदार्थों का वही समूह उत्पादित होता है क्योंकि कर के कारण सरकार की तरफ से किया जाने वाला साधनों का उपयोग परिवर्तित नहीं होता है। यह समझना आसान है कि यह निष्कर्ष कैसे निकाला गया है कि ऐसे कर का कोई वास्तविक भार नहीं पड़ता है। लेकिन यहीं पर रोल्फ का अवधि-विश्लेषण दोषपूर्ण हो जाता है और वह कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। कर से पूर्व एवं बाद में व्यक्तियों की सापेक्ष स्थितियाँ समान हो सकती हैं। लेकिन सही तुलना **पूर्व** एवं **पश्चात्** की नहीं होती है। यह तो **कर के बिना** और **कर के साथ** की होती है। सामान्य आर्थिक विश्लेषण में जो सतुलन की दशाओं से प्रारम्भ होता है, इस अन्तर का कोई महत्व नहीं है। लेकिन यदि विश्लेषण असंतुलन की दशा से प्रारम्भ होता है तो यह महत्वपूर्ण और आवश्यक होता है। यदि करारोपण मुद्रास्फीति को रोकने भर में सफल होता है, जो अन्यथा भी हो सकता था, तो यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक स्थिति असतुलन की है। ऐसी स्थिति में कर के प्रभावों की तुलना मुद्रास्फीति के प्रभावों से की जानी चाहिए जो कर के अभाव में उत्पन्न होती। स्थैतिक विश्लेषण में सदैव एक ही समय में वैकल्पिक दशाओं की तुलना की जाती

18. Rolph, "Government Burdens and Benefits: Comment," American Economic Review, XLIII (1953), 539.

है, न कि एक अवधि में उत्तरोत्तर दशाओं की। यह तो स्पष्ट है कि यदि प्रभाव की दृष्टि से कर की तुलना मुद्रास्फीति से की जाती है तो कर के लगने से वास्तविक भार बहुत पड़ता है। जो व्यक्ति और समूह मुद्रास्फीति से लाभान्वित होते उन पर कर के कारण वास्तविक भार पड़ता है। जिन समूहों को हानि उठानी पड़ती वे बदले में लाभ प्राप्त करने वाले हो जाते हैं। एक विस्तृत अर्थ में, मुद्रास्फीति को एक तरह का कर माना जा सकता है और रोल्फ का विश्लेषण वास्तव में विभेदात्मक करापात का रूप ले लेता है।

लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या यह आवश्यक है कि एक कर जो केवल मुद्रास्फीति को रोकने के लिए लगाया गया है, ऊपर-वर्णित अर्थ में कुछ समूहों पर वास्तविक भार डाले और कुछ को लाभ पहुँचावे ? क्या कुछ व्यक्तियों पर डाला जाने वाला वास्तविक भार ऐसे कर के लागू होने का आवश्यक परिणाम माना जायगा ? इसका प्रारम्भिक उत्तर नकारात्मक मालूम देगा। धारणा की दृष्टि से यह सम्भव है कि एक कर इस तरह से लागू किया जाय ताकि इसका भार उन्हीं व्यक्तियों पर पड़े जिन्हें मुद्रास्फीति से हानि होती और यह भार उन पर मुद्रास्फीति की स्थिति में पड़ने वाले वास्तविक भारों के अनुपात में ही हो। इससे सभी व्यक्ति ठीक उसी सापेक्ष स्थिति में आ जायेंगे जिसमें कि वे मुद्रास्फीति के उत्पन्न होने पर होते। लेकिन यह सम्भावना तो केवल धारणा की दृष्टि से ही है क्योंकि कोई भी सरकार ऐसा कर कभी लागू नहीं करेगी। और इस बात को दर्शाने के लिए हमारे लिए ऐसे कर की राजनीतिक दृष्टि से अव्यावहारिकता पर निर्भर करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा कर कार्यात्मक दृष्टि से व्यर्थ (functionally useless) होगा। यदि कर का प्रयोजन मुद्रास्फीति को रोकना है तो यह सफल होगा। इसलिए ऐसा लगेगा कि इसका कोई प्रयोजन है। लेकिन हमें इसके पीछे जाकर मुद्रास्फीति को रोकने के लिए सरकारी इच्छा को देखना होगा। यदि व्यक्तियों व समूहों को उसी सापेक्ष स्थिति में रहने देना है जिनमें कि वे मुद्रास्फीति के उत्पन्न होने पर होते, तो प्रश्न उठता है कि सरकार की मुद्रास्फीति को रोकने में रुचि क्यों होगी ? मुद्रास्फीति तो इसलिए अवांछनीय है कि यह आय का पुनर्वितरण करती है और ऐसा यह एक अवांछनीय ढंग से करती है। यदि मुद्रास्फीति ऐसा नहीं करती तो यह समझना कठिन होगा कि आखिर सरकार निरपेक्ष कीमतों के स्तर की क्यों परवाह करती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक

ऐसे कर से जो केवल मुद्रास्फीति को ही रोकने वाला है, कुछ व्यक्तियों व समूहों पर अवश्य ही वास्तविक भार पड़ेगा। यह तो निश्चय है कि वास्तविक भार पूर्णतः अथवा अंशतः वास्तविक लाभ से सतुलित हो जाता है, लेकिन यह स्थिति उन करों से भिन्न नहीं है जो नई सरकारी सेवाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए लगाये जाते हैं।

रोल्फ सम्भवत पिछले पैरा के तर्क को स्वीकार करेगा। वह मानता है कि ऐसे कर से आय का पुनर्वितरण हो जायगा। लेकिन वह इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि समग्र पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करने से कोई वास्तविक भार नहीं पड़ता है। यदि निजी कार्यों के लिए उपलब्ध होने वाले वास्तविक साधनों की मात्रा मे परिवर्तन नहीं होता है, तो क्या यह कहना उचित होगा कि समाज पर वास्तविक भार पड रहा है ? यह कहना कि ऐसा तो नहीं होता है, लेकिन पुनर्वितरण अवश्य होता है, वस्तुतः यह कहने के समान है कि व्यक्तियों के बीच उपयोगिताओ की तुलना की जा सकती है। जहाँ तक पुनर्वितरण का प्रश्न है हानि उठाने वालो पर पड़ने वाला वास्तविक भार लाभ प्राप्तकर्त्ताओ को मिलने वाले वास्तविक लाभ से अधिक या कम हो सकता है। केवल इसी मान्यता के आधार पर कि किसी भी दिशा मे होने वाले आय के मौद्रिक परिवर्तन सभी व्यक्तियो को समान रूप से प्रभावित करते हैं, हम इस विचार का समर्थन कर सकते है कि समग्र वास्तविक भार शून्य होगा। अत हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि यह परम्परागत विचार कि सभी करो से वास्तविक भार पड़ता है— रोल्फ के प्रहार से कोई बुरी तरह से विचलित नहीं हो पाया है।

6. यद्यपि मसग्रेव और जेनकिन्स दोनों में से किसी ने भी अपनी कर की अव्यक्त परिभाषा को स्पष्ट नहीं किया है, फिर भी मेरा विचार है कि यदि हम उनके वर्णन मे ऐसी परिभाषाओं को 'ढूंढने का' प्रयास करें तो उनके विश्लेषण अधिक स्पष्ट हो सकेंगे। मसग्रेव कर की परिभाषा सम्भवतः इस तरह से 'करेगा' कि 'यह व्यक्ति अथवा व्यक्तियों से दूर वास्तविक साधनों के उपयोग के स्वामित्व का हस्तान्तरण है" जो सरकार की राजकोषीय क्रिया से उत्पन्न होता है। जेनकिन्स कर की परिभाषा सम्भवतः यों 'करेगा' कि "यह व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की तरफ से सरकार की ओर किया जाने वाला वास्तविक साधनों के उपयोग के स्वामित्व का हस्तान्तरण है" जो सरकार की राजकोषीय क्रिया से उत्पन्न होता है। स्मरण रहे कि ये परिभाषाएं समान हैं। अन्तर केवल "सरकार की ओर" के शब्दों का है जो जेनकिन्स की

परिभाषा के लिए मसग्रेव की ग्रसाक परिभाषा में जोड़ दिये जाते हैं। इस अंतर के कारण मसग्रेव मुद्रा वस्तु मूल्यों के क्षैतिज अन्तरण को अपने विश्लेषण में शामिल कर पाता है जो जेनकिन्स के कराधान-विश्लेषण में छूट रह गया है। जेनकिन्स की परिभाषा इनको कराधान से अलग कर देगी और वह इन भारों को "भूठा कराधान" कहेगा। वास्तव में यह स्मरण रखना होगा कि यदि कर के सम्बन्ध में मसग्रेव की प्रस्तावित धारणा स्वीकार कर ली जाती है जो कर से उत्पन्न होने वाली वास्तविक आय की कमी को उस दर में भी शामिल करती है जबकि इस कमी का आशय यह होता है कि व्यक्तियों के बीच ऐसे हस्तान्तरण हुए हैं जो सरकार के जरिए सम्पन्न नहीं किये गये हैं तो इसके अनुरूप ही सरकारी लाभ की धारणा को भी स्वीकार करना होगा। यदि करों की परिभाषा में मुद्रा वस्तु-मूल्य के क्षैतिज हस्तान्तरणों को शामिल किया जाता है, तो सरकारी लाभों की परिभाषा में इन हस्तान्तरणों के पाने वालों को मिलने वाले लाभ भी शामिल करने होंगे।

7. अब प्रश्न यह रह जाता है कि कर की इन दो आरोपित धारणाओं में से कौन-सी ज्यादा लाभप्रद सिद्ध होगी। (यहाँ इस बात पर बल देना होगा कि दोनों परिभाषाएँ सम्बन्धित लेखकों पर उनके विश्लेषण के परिणामस्वरूप "आरोपित" की गई हैं। वास्तव में प्रत्येक लेखक उस परिभाषा को अस्वीकार कर सकता है जो उस पर आरोपित की गई है।) जेनकिन्स की धारणा स्पष्टतः परम्परागत राजकोषीय सिद्धान्त से अधिक मेल खाती है। यदि व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच वास्तविक आय के हस्तान्तरण सरकार की राजकोषीय क्रियाओं के फलस्वरूप होते हैं तो भी वे शायद ही कभी करों अथवा लाभों में शामिल किये जाते हैं। अनेक उद्देश्यों की दृष्टि से यही रचना उपयुक्त मानी जाती है। जैसा कि जेनकिन्स का विश्लेषण बतलाता है, इसकी वजह से कर के लागू होने से सरकार और अन्य समूहों को प्रदान किये जाने वाले वास्तविक साधनों के बीच एक तीव्र अंतर कर सकना सम्भव होता है। जब समग्र कर-प्रणाली की कार्यकुशलता का अध्ययन करना होता है तो इसके अच्छे परिणाम निकलते हैं।

लेकिन जेनकिन्स की धारणा उस समय कुछ कमजोर प्रतीत होती है जब कि हम उसके विश्लेषण को रोल्फ के द्वारा स्वीकार की गई दशाओं पर लागू करते हैं। यदि कर विशुद्ध रूप से मौद्रिक होता है, अर्थात् यह मुद्रा-स्फीति को रोकने मात्र में सफल होता है, तो सरकार की तरफ वास्तविक साधनों का हस्तान्तरण नहीं होता है। कर के फलस्वरूप होने वाले वास्तविक

आय के हस्तान्तरण केवल व्यक्तियों एव समूहो के बीच में ही होते हैं, और ये राजकोष के जरिए वास्तविक साधनों को ले जाये बिना ही सम्पन्न हो जाते हैं। यदि जेनकिन्स का विश्लेषण रोल्फ के उपर्युक्त मामले पर विशेष रूप से लागू किया जाय तो कर के सम्बन्ध में मसग्रेव का विचार स्वीकार करना आवश्यक हो जायगा। जेनकिन्स की धारणा उस समय तो ठीक कार्य करती है जब कि हम विभेदात्मक अथवा सतुलित-बजट-करापात के क्षेत्र मे रहते हैं। मेरे विचार मे कई उपयुक्त कारणो से राजकोषीय सिद्धान्त को इन्ही सीमाओ मे रखना उचित होगा और विश्लेषण मे सम्पूर्ण मौद्रिक सिद्धान्त का समावेश नही किया जाना चाहिए। लेकिन जहाँ तक कुछ विश्लेषणकर्त्ता इन अधिक परम्परागत सीमाओं से परे जाने का प्रयास करते हैं, वहाँ तक "मसग्रेव" की कर-सम्बन्धी धारणा एक लाभप्रद पद्धति के अनुकूल अस्त्र अवश्य प्रदान करती है। इसके अन्तर्गत हम किसी भी सम्भव होने वाली राजकोषीय क्रिया को लेकर उसके प्रभावों की जाँच कर सकते हैं और जो प्रभाव व्यक्तियों की वास्तविक आय को घटाते हैं उनको 'कर" और जो व्यक्तियो की वास्तविक आय को बढ़ाते हैं उनको "लाभ" कह सकते हैं। ऐसा करते समय हमे विश्लेषण की कुछ तीक्ष्णता का परित्याग करना पडेगा जो जेनकिन्स के वर्णन में विद्यमान है, लेकिन सभी परिस्थितियों का अध्ययन कर सकने की अतिरिक्त क्षमता मिल जाने से यह त्याग करना उचित कहा जा सकता है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि दो धारणाओ का होना उचित है। दोनों ही उपयोगी हैं, और विश्लेषक को, सदैव की भाति, अपने विशिष्ट कार्य के लिए उपयुक्त अस्त्रो का चुनाव करना चाहिए।

8. यदि वर्तमान बहस मे भाग लेने वाले उस मौद्रिक ढाचे की स्पष्ट परिभाषा करने पर ध्यान देते जिसमें कि विश्लेषण किया गया है, तो इस बहस का अधिकांश भाग काफी स्पष्ट हो जाता। वास्तव मे कोई अकेली ऐसी विशिष्ट मौद्रिक मान्यता नही है जो "सही" कही जा सके। प्रश्न चुनाव का है और चुने गये मौद्रिक ढाचे का करापात के सम्बन्ध मे निकाले गये निष्कर्ष पर कोई प्रभाव नही पडना चाहिए। फिर भी यह तथ्य कि अधिकांश विवाद करापात और "मौद्रिक नीति के आपात" के बीच अतर करने की विफलता के कारण हुआ है, इस बात को बतलाता है कि "उत्तम" और "निकृष्ट" मौद्रिक मान्यताए अवश्य होती हैं।

मेरी राय मे विश्लेषण के प्रारम्भ में इस बात को मान लेने के पक्ष में प्रबल तर्क दिया जा सकता है कि मौद्रिक अधिकारी एक ऐसे नियम को लागू

करने में सफल होते हैं जो अन्तिम वस्तु-मूल्यों के ठीक से परिभाषित सूचनांक की समग्र रूप से होने वाली स्थिरता की गारंटी देता है। मितव्ययिता के आधार पर इस मौद्रिक मान्यता का समर्थन किया जा सकता है; यह सामान्य मुद्रास्फीति अथवा अपस्फीति के आपात और साथ में ऐसे आपात को स्वयं करापात से पृथक करने की समस्या पर विचार करने की सम्पूर्ण आवश्यकता को मिटा देता है। इस मॉडल मे सामान्य बिक्री या उत्पादन-कर के लागू होने से उत्पन्न होने वाली वास्तविक आय की कमियां करापात के प्रारूप का निर्माण करती हैं। और यह काफी स्पष्ट है कि वस्तु-मूल्यों और साधन-मूल्यों में कोई भी "जोड़" साधन-मूल्यों को नीचे खिसका कर ही डाला जाता है। यह निष्कर्ष सही होता है, चाहे आवश्यक क्षतिपूरक परिवर्तन बढ़े हुए सार्वजनिक व्यय के रूप मे हो, अथवा घटे हुए "अन्य" करों के रूप मे, अथवा कर से प्राप्त आय के निराकरण (neutralization) के रूप मे हो। प्रत्येक दशा में उत्पादन कर के लागू होने से साधनों के निजी स्वामी अपनी उस स्थिति की तुलना मे बुरी स्थिति में आ जाते हैं जो उत्पादन-कर के हटाये जाने पर अन्य समस्त बातें क्षतिपूरक परिवर्तन के व्यक्तिगत रूप में परिणत अंशों (individualized shares) सहित, स्थिर रहने पर पाई जाती है। इन राजकोषीय मॉडलों या प्रतिमानों मे प्रत्येक मे एक तरफ सामान्य उत्पादन-कर होता है और दूसरी तरफ कुछ उपयुक्त किस्म का क्षतिपूरक परिवर्तन होता है, लेकिन साथ मे मूल्य-स्तर की स्थिरता को बनाये रखने के लिए कुछ पूरक किस्म का मौद्रिक राजकोषीय कार्य आवश्यक हो सकता है। लेकिन ऐसे पूरक कार्य के प्रभावों को कर के प्रभावों से अच्छी तरह से पृथक करना होगा।

यहां पर सुझाई गई इस मौद्रिक मान्यता के लाभों को ड्यू और पराविसिनी के मॉडलों से पृथक करके स्पष्ट किया जा सकता है। ड्यू स्पष्ट-तया उस दावे को स्वीकार करता है जिसमें मौद्रिक अधिकारी वस्तु-मूल्यों में वृद्धि करने के कर-प्रेरित प्रयासों के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया या तो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करके दर्शाते हैं अथवा उन मूल्य-वृद्धियों को स्वीकार करके दर्शाते हैं जो कर के कारण चलन में भी आने वाली बचत से सम्भव हो जाती है। इस मॉडल की वजह से वह इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता है कि सामान्य उत्पादन-कर के कारण वस्तु-मूल्यों के निरपेक्ष स्तर में वृद्धि हो जाती है, इसलिए कर का "भार" उपभोक्ताओं को उठाना पड़ता है। कर का प्रभावपूर्ण आपात स्वयं भी कई मौद्रिक नीति की किस्म पर निर्भर करता है। स्पष्टतः मस्ग्रेव की सार्वजनिक विकल्पों की जांच करने में दिलचस्पी रही है। यदि कर

के सहित अथवा इसके बिना वस्तु-कीमत (product-price) मुद्रास्फीति की एक-सी ही मात्रा मान ली जाती है, तो यह स्पष्ट है कि साधनों के स्वामियों की स्थिति कर के साथ कम अनुकूल होगी बनिस्बत इसके अभाव में। करापात का प्रारूप वही रहता है जो अन्य मौद्रिक मान्यताओं के अन्तर्गत पाया जाता है।

पराविसिनी एक ऐसा मौद्रिक ढांचा मान लेता है जिसमें मुद्रा की मात्रा और इसका प्रचलन-वेग स्थिर रहते हैं। उसका तर्क यह दर्शाता है कि सामान्य उत्पादन-कर वस्तु-मूल्यों के स्तर में वृद्धि कर देता है क्योंकि कर के कारण मुद्रा के उपयोग में अपेक्षाकृत अधिक किफायत हो जाती है। आर्थिक मॉडलों में स्थिर मात्रा की मान्यता के काफी दृष्टान्त पाये जाते हैं, और कुछ सीमा तक कीमतों की वृद्धि को कर पर आरोपित करना उचित माना जा सकता है। लेकिन यहां भी यह ज्यादा उचित होगा कि समग्र मूल्य-स्तर की वृद्धि (यदि यह होती है) के लिए मौद्रिक नीति को उत्तरदायी ठहराया जाय और मुद्रास्फीति के आपात को करापात से पृथक किया जाय। केवल इसी तरह से करापात के प्रारूप को पूर्वकल्पित मौद्रिक ढाचे से पूर्णतया मुक्त किया जा सकेगा।

ह्यू का विश्लेषण, और कुछ सीमा तक पराविसिनी का भी, उस विश्लेषण के समान है जो अन्य सम्बन्धों में हाल ही में प्रस्तुत किया गया है। मुद्रास्फीति की तथाकथित "लागत या मजदूरी जनित" ("cost or wage-push") व्याख्याओं में लागत-मूल्य वृद्धियों को मुद्रास्फीति का कारण बता कर द्रव्य की पूर्ति को लोचदार मान लिया गया है। इस मत के विरोधी यह तर्क रखते हैं कि मुद्रास्फीति का कारण स्वयं मुद्रा की पूर्ति में विस्तार का होना है, इसके लिए लागत जन्य तत्व उत्तरदायी नहीं हैं। मेरा विचार है कि इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच किया जाने वाला चुनाव उन "मौद्रिक नियमों" पर निर्भर करता है जो एक "उत्तम समाज" के सम्बन्ध में एक विश्लेषणकर्ता की धारणा में निहित होते हैं। "लागत जनित" (मुद्रास्फीति) के जो समर्थक हैं (अथवा उत्पादन-करापात के ह्यू के रूप के) वे आर्थिक दृष्टि से उत्तम समाज का चित्र इस प्रकार से खींचते हैं कि इसमें मुद्रा की पूर्ति में काफी लोच होती है और/अथवा आय के वेग में काफी अल्पकालीन परिवर्तनशीलता पाई जाती है। अतः एक "आदर्श" व्यवस्था में भी सामान्य वस्तु-मूल्य स्तर एक आश्रित चल-राशि ही होती है। इसके विपरीत एक विरोधी मत जो बहुत कुछ गलती से "शिकागो विचारधारा" के नाम से चला है, के समर्थक आर्थिक

ष्टि से उत्तम समाज उसको मानते हैं जिसमें या तो स्पष्टतः परिभाषित नियम (क पूर्णरूप से स्वचालित मान, अथवा सर्वज्ञ विवेकशील अधिकारी इस तरह) कार्य करते हैं ताकि अन्तिम वस्तु अथवा साधनों के मूल्यों के स्तर में स्थिरता लाई जा सके। कम-से-कम इस अर्थ मे तो "तटस्थ मुद्रा" एक सार्थक धारणा ही मानी जायगी। निरपेक्ष मूल्य-स्तर एक चलराशि होता है जिस पर ठीक ढंग से नियंत्रण स्थापित किया जाता है, तत्पश्चात् यह एक आश्रित चलराशि न रह कर एक नियन्त्रित राशि हो जाता है।

IV निष्कर्ष

सामान्य उत्पादन करों के आपात पर वर्तमान बहस अभी तक समाप्त नहीं हुई है। कई प्रश्नों का स्पष्टीकरण होना बाकी है जिनमें कुछ विश्लेषण सम्बन्धी हैं और कुछ पद्धति-सम्बन्धी। यह बहस आर्थिक सिद्धान्त में सामान्य रूप से होने वाले व्यापक विकास को एवं उन समस्याओं पर सामान्य संतुलन-सिद्धान्त के प्रयोग को सूचित करती है जिन पर पहले केवल आंशिक-संतुलन के अस्त्रों से ही प्रहार किया गया था, जो अनुचित था।

5

भारत के लिए कराधान का सर्वोत्तम ढांचा

डा० राजा जे० चेल्लैया

3. करदेय सामर्थ्य के अनुसार कराधान का सिद्धान्त (The Principle of Taxation According to Ability to Pay) :—जब कर-नीति का प्रमुख उद्देश्य निजी और सार्वजनिक विनियोग को प्रोत्साहन देना होता है तो कर के ढांचे को पाश्चात्य अर्थव्यवस्थाओं के लिये विकसित किए गए कराधान के कुछ परम्परागत नियमों से थोड़े भिन्न सिद्धांतों की पूर्ति करनी होती है। जैसा कि श्रीमती हिक्स ने कहा है, 'यह तो स्वाभाविक है कि विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले कर के ढांचे की रूपरेखा एक परम्परागत अल्पविकसित देश में हमारे जैसी काफी आधुनिक अर्थव्यवस्था की अपेक्षा बहुत भिन्न होगी।'[2] लेकिन मुख्य रूप से परम्परागत धारणाएँ और सिद्धांत तो आज भी कायम हैं। यह भी एक 'अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन-प्रभाव' की ही बात है। अर्थशास्त्र के अन्य क्षेत्रों की भांति इस क्षेत्र में भी विकसित अर्थव्यवस्थाओं के लिए उपयुक्त होने वाली धारणाएँ कभी-कभी अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं पर भी लागू कर दी जाती हैं। ऐसी एक धारणा करदेय सामर्थ्य के अनुसार कर लगाने की है। आय और धन पर काफी आरोही कराधान (highly progressive taxation) के किसी भी प्रस्ताव के समर्थन में पश्चिम की तरह भारत में भी इस धारणा का सुगमतापूर्वक प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, मई 1957 में भारत के वित्त मन्त्री ने अपने बजट-भाषण में धन पर लगाये जाने वाले अपने नये कर को करदेय सामर्थ्य के आधार पर न्यायोचित ठहराया था। उन्होंने कहा था कि 'यह स्वीकार किया जाता है कि प्रचलित आयकर कानून और व्यवहार के अनुसार आय की जो परिभाषा दी गई है वह करदेय सामर्थ्य का पर्याप्त माप नहीं है और आय

---

2. Ursula K. Hicks, 'Direct Taxation and Economic Growth,' Oxford Economic Papers, Vol. VIII, No. 3, October 1956, P. 303.

पर कर लगाने की प्रणाली के साथ-साथ धन पर आधारित करारोपण भी होना चाहिए।'[1] लेकिन यहां पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या यह इतना स्पष्ट है कि भारत में कर का ढांचा लोगों की आय और धन के द्वारा मापी जा सकने वाली 'करदेय सामर्थ्य' पर ही आधारित हो।

कराधान के सिद्धान्त में कर को इस तरह से परिभाषित किया गया है कि यह सार्वजनिक अधिकारी को दिया जाने वाला वह अनिवार्य भुगतान है जिसके बदले में करदाता को कोई मापनीय प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिल पाता है। इस तरह यह सरकारी कार्यों से मिलने वाले सामान्य लाभों की लागत को चुकाने में योगदान करता है। प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि यह योगदान लोगों की करदेय सामर्थ्य अथवा करदेय क्षमता के अनुरूप होना चाहिये। यह भी कहा जाता है कि करदेय सामर्थ्य का सिद्धांत आय पर लागू होने वाले किसी भी त्याग-सिद्धांत और सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के आधार पर कराधान में आरोहीपन की तरफ ले जाता है।

प्रायः इस अन्तिम निष्कर्ष की सत्यता पर संदेह प्रगट किया गया है और इसको अस्वीकार भी किया गया है। वास्तव में यह दर्शाया गया है कि करदेय सामर्थ्य का सिद्धांत स्पष्टतया कराधान के किसी विशेष स्तर (scale) तक नहीं पहुँचाता है। प्रत्येक व्यक्ति सीमान्त उपयोगिता के घटने की दर के सम्बन्ध में अपने राजनीतिक झुकावों के अनुसार एक सुविधाजनक मान्यता स्वीकार कर सकता है और उसके बाद करारोपण के आनुपातिक या आरोही पैमाने का समर्थन कर सकता है। 'इसके अलावा हम "समान त्याग" के अर्थ को भी स्पष्ट रूप से निश्चित नहीं कर सकते हैं। इसके कई अर्थ निकल सकते हैं जिनमें से प्रत्येक अर्थ दूसरे के जैसा ही अच्छा या बुरा हो सकता है।'[2] इस प्रकार करदेय सामर्थ्य के सिद्धांत के आधार पर बनाया गया सैद्धांतिक ढांचा जो आरोही कराधान को उचित ठहराता है लगभग पूर्णतया

---

1. भारत सरकार, वित्त मंत्रालय, वित्त मंत्री का भाषण, मई 15, 1957, पृ० 11–12.
2. Gunnar Myrdal, The Political Element in the Development of Economic Theory, tr. Paul Streeten, Harvard University Press, Cambridge, Mass; 1954, P. 174.

इस प्रश्न के पूर्ण विवेचन के लिए इस ग्रन्थ के सातवें अध्याय 'सार्वजनिक वित्त के सिद्धांत' को देखिए।

असंतोषजनक माना जायगा। फिर भी वैयक्तिक आय के सम्बन्ध में कराधान की काफी आरोही प्रणाली व्यापक रूप से करारोपण का सबसे अधिक वांछनीय रूप माना जाता है। ऐसे करारोपण के समर्थन में दिये गए परिमार्जित सैद्धान्तिक तर्कों के बावजूद भी केल्डॉर का यह मत सही जान पड़ता है कि आमदनी पर पड़ने वाले भार के रूप मे काफी आरोही कर-प्रणाली को अपनाने का सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य और औचित्य आर्थिक असमानताओं को कम करने की इच्छा ही है।[3] युद्ध के संचालन के लिए अथवा तैयारी के लिए सरकारी आय की बढ़ती हुई आवश्यकता ने भी सरकारों को जहां से मुद्रा प्राप्त हो सकती है वहीं से उसे लेने के लिए बाध्य किया है। फिर भी सिद्धांत के क्षेत्र में करदेय सामर्थ्य का सिद्धांत आज भी करारोपण के सिद्धांतों में एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है और एडम स्मिथ व उसके पहले के धर्म-शास्त्रियों के समर्थन से इसको प्रतिष्ठा मिली है। इसीलिए अल्प विकसित देशों में सार्वजनिक वित्त के अध्यापक करदेय सामर्थ्य के सिद्धान्त को सार्वजनिक वित्त का मूलभूत सिद्धांत मानते हैं और इसके आधार पर कर के ढांचे के निर्माण का समर्थन करते हैं।[1] हो सकता है कि ऐसा करते समय ये अर्थ-शास्त्री आय पर आरोही करारोपण के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले स्पष्ट सैद्धान्तिक औचित्य से प्रभावित हों और वे इसके पीछे पाये जाने वाले वास्तविक उद्देश्य—असमानता को कम करना—को भुला बैठें।

यदि विकसित अर्थव्यवस्थाओं में आय के काफी आरोही करारोपण को अपनाने का वास्तविक औचित्य असमानताओं को कम करने में है तो भी यह स्पष्ट नहीं है कि इसी तरह की प्रणाली की अल्प विकसित देशों में क्यों नकल की जाय जब तक कि यह सिद्ध नहीं हो कि इन देशों में भी असमानताओं को कम करने की यही सर्वश्रेष्ठ विधि है। दूसरे शब्दों में, असमानताओं को कम करने के प्रश्न पर पृथक से विचार किया जाना चाहिए और ऐसा करते समय अल्प विकसित देशों में पाई जाने वाली विशेष दशाओं और विकासशील अर्थव्यवस्था की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

3. निकोलस केल्डॉर, पूर्व उद्धृत रचना मे, पृ० 26-27

1. इस सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय उदाहरण श्री आर० एन० भार्गव का है जिनका यहां तक कहना है कि 'आधुनिक खोजों ने मनु से आगे प्रगति की है और आरोही करारोपण की सत्यता का सैद्धान्तिक प्रमाण प्रस्तुत किया है।' (The Theory and Working of Union Finance in I a, P. 21)

रो बलपर यह बताने का प्रयास किया जायगा कि अल्प विकसित देशों में समानताओं के प्रश्न को हल करने की सर्वश्रेष्ठ विधि आमदनी पर काफी ऊँचा आरोही करारोपण (Steeply progressive taxation) लगाना नहीं है।

जो भी हो हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि करदेय सामर्थ्य का सिद्धान्त, जैसा कि बहुत से लोग जोर देते हैं, आमदनी पर आरोही करारोपण की तरफ ले जाता है। इतना होने पर भी यह सिद्धान्त कड़ाई से तभी लागू किया जा सकता है जब कि हम यह मान लें कि करारोपण तो कुछ सामान्य सेवाओं की लागतों को पूरा करने में केवल योगदान-मात्र है। लेकिन कार्यात्मक वित्त के दृष्टिकोण (functional finance approach) से करारोपण को इतने सरल तरीके से नहीं लिया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार एक अल्पविकसित देश में करारोपण सरकारी सेवाओं की वित्तीय व्यवस्था में केवल योगदान देने से भी ज्यादा विशुद्ध विनियोग की दर को बढ़ाने का एक शक्तिशाली अस्त्र माना जायगा। यह तो सच है कि सरकारी सेवाओं की बहुत सी मदें ऐसी होती हैं जिनकी किसी भी तरह से वित्तीय व्यवस्था करनी होती है, लेकिन इनकी वह मात्रा जो भविष्य में कार्यान्वित की जा सकेगी स्वयं भी विनियोग की दर और आर्थिक प्रगति पर निर्भर करेगी। अतः प्राथमिकता की दृष्टि से विनियोग की दर को ही प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि करदेय सामर्थ्य का सिद्धान्त अल्पविकसित देशों में करारोपण की समस्याओं पर आसानी से लागू नहीं किया जा सकता है और इन देशों में यह कर के ढांचे का केन्द्र बिन्दु भी नहीं बनाया जा सकता है।

यह एक रुचिप्रद बात है कि यद्यपि करदेय सामर्थ्य का सिद्धान्त केवल इस तथ्य के सन्दर्भ में लागू करके दिखलाया जा सकता है कि कम से कम अनिवार्य सरकारी सेवाओं के लिए वित्तीय व्यवस्था तो करों के प्रदान से अवश्य करनी होती है, फिर भी व्यवहार में यही तथ्य इस सिद्धान्त से दूर भी ले जाता है। अल्पविकसित देशों में आवश्यक वित्त मुख्यतः आय और धन पर प्रत्यक्ष कर लगाकर ही प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वास्तव में तो मुख्यरूप से परोक्ष करारोपण पर आश्रित रहना पड़ता है जिससे कर का ढांचा अवरोही हो जाता है। इस विषय के लेखक और वित्तमंत्री जब इस सिद्धान्त को व्यवहार में लागू करने के लिए तत्पर होते हैं तो उन्हें दुविधा का सामना करना पड़ता है। सार्वजनिक उपभोग एवं विनियोग के खर्च की वित्तीय व्यवस्था करने हेतु करारोपण का अधिक प्रयोग किया जाना चाहिए लेकिन

यदि ऐसा मुख्यतया आरोही प्रत्यक्ष कराधान के जरिये से ही किया जाता है तो आर्थिक प्रेरणाओं पर गंभीर प्रभाव पड़ सकता है। अतः जब कभी कराधान में कुछ सीमा तक वृद्धि होती है तो परोक्ष कराधान का भार अधिक बढ़ता है, कर का ढांचा अवरोही बना रहता है और निजी बचत को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ भी नहीं किया जाता है, या यों कहिए कि कोई विशेष काम नहीं किया जाता है। ऊपर बतलाई गई दुविधा तभी दूर की जा सकती है जब कि हम करदेय सामर्थ्य के तथाकथित सिद्धान्त का परम्परागत अर्थ भुला दें।

4. कराधान और आर्थिक बचत (Taxation and Economic Surplus)

अल्पविकसित क्षेत्रों के लेखक बहुधा इन क्षेत्रों में पाये जाने वाले बचत के नीचे स्तर पर ध्यान आकर्षित किया करते हैं। इस स्तर में वृद्धि की जानी चाहिए, लेकिन अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि ऐसा किसी बड़ी सीमा तक कर सकना सम्भव नहीं होगा क्योंकि प्रति व्यक्ति आय का स्तर नीचा होता है जो बचत व विनियोग के नीचे स्तर का कारण माना जाता है। इससे जो विचार सामने आता है वह गरीबी का कुचक्र (vicious circle) कहलाता है। लेकिन इसमें सन्देह है कि अर्थ-व्यवस्था में बचत की दर अथवा कम से कम सम्भाव्य बचत (potential savings) प्रत्यक्षतया प्रति व्यक्ति आय के स्तर से सम्बद्ध की जा सकती है अथवा नहीं। बचत की सम्भाव्य दर के अधिक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व सम्भवतया ये हैं कि राष्ट्रीय आय का कितना अंश आय के ऊपरी समूहों के पास जाता है और कुल आय में सम्पत्ति से प्राप्त आय का अंश कितना होता है।

श्री एस० जे० पटेल के द्वारा लगाये गये कुछ मोटे अनुमानों से यह पता चलता है कि भारत और अमेरिका में सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय के अंश में ज्यादा अंतर नहीं है। श्री पटेल ने भारत में 1950–51 की अवधि के लिए राष्ट्रीय आय के वितरण का हिसाब लगाया है।[1] इससे उन्होंने निम्न निष्कर्ष निकाले हैं :–(अ) राष्ट्रीय आय का आधे से ज्यादा अंश स्वयं का रोजगार करने वालों की आय से प्राप्त होता है; (आ) मजदूरी व वेतन कुल का लगभग 23 प्रतिशत है जो अमेरिका में मजदूरी व वेतन पाने वालों को मिलने वाले अंश से काफी कम है; (इ) भारत में सम्पत्ति के स्वामित्व

1. S. J. Patel, 'The Distribution of the National Income of India, 1950–51', The Indian Economic Review, Vol. III, No. 1, February 1956, P. 8.

से जिस सकल आय (gross income) का सम्बन्ध है वह कुल आय के 23 प्रतिशत से कुछ ज्यादा है।[1] अन्तिम निष्कर्ष हमारे उद्देश्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मोटे तौर पर संयुक्त राज्य और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में पिछले लगभग दस वर्षों में सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय कुल आय के 20 से 25 प्रतिशत के बीच में परिवर्तित होती रही है। लेकिन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में जो वर्ग आय के इस अंश को प्राप्त करते हैं वे इसका काफी भाग बचा लेते हैं जब कि भारत में इन्हीं वर्गों के लोग ऐसा नहीं कर पाते हैं। जहाँ तक भारत में आय प्राप्तकर्त्ताओं के वर्गों के अनुसार अपनी आमदनी के वितरण का प्रश्न है क्यूजनेट (Kuznet) के द्वारा लगाये गये अनुमानों के अनुसार इस देश मे चोटी के बीस प्रतिशत लोगों की आय राष्ट्रीय आय का लगभग 55 प्रतिशत है। इस क्षेत्र के अन्य देशों में भी यही स्थिति पाई जाती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, लंका, जापान एवं फिलिपाइन में इकेफे के तत्वावधान में किये गये आय के वितरण के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि इसके दायरे में शामिल किये गये देशों में असमानता का अंश लगभग एक-सा ही था।[2] इससे यह भी पता चला कि लंका में 10.6 प्रतिशत आय प्राप्तकर्त्ताओं ने आय का 37.0 प्रतिशत प्राप्त किया और फिलिपाइन में 10 प्रतिशत ने आय का 33.3 प्रतिशत प्राप्त किया था।[3] इन आकड़ों पर दृष्टि डालने से इस तर्क को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है कि ये देश अपनी आय के केवल 5 प्रतिशत से ज्यादा अंश को बचत व विनियोग में नहीं लगा सकते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि इन देशों में बचत की सम्भाव्य दर इसकी वास्तविक दर से ऊँची पाई जाती है। इन दोनों के बीच पाये जाने वाले उल्लेखनीय अंतर का एक तर्कयुक्त स्पष्टीकरण श्री पटेल ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है : 'यद्यपि भारत में प्रति व्यक्ति आय नीची है तथापि यह आवश्यक नहीं है कि विकसित देशों की तुलना में यहाँ बचत की सम्भावित दर काफी नीची ही हो, क्योंकि दोनों तरह के देशों में बचत को उत्पन्न करने वाला आय का अनुपात अथवा सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली कुल आय लगभग समान ही पाये

1. पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ॰ 9।

2. Econo[illegible]ic Bulletin for Asia and Far East, Vol. III, Nos. 1-2, No[illegible]mber 1952, P. 23.

3. वही ग्रन्थ, पृ॰ 22.

जाते हैं। अतः भारत में उत्पादक विनियोग की नीची दर नीची औसत आय के माध्यम से नहीं समझाई जा सकती है बल्कि यह 'सामन्ती' आय (सम्पत्ति की आय में) की प्रधानता से समझाई जा सकती है जो इस समय आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने में कुछ विफल सिद्ध हुई है।'[4]

समस्त प्राग्औद्योगिक (Pre-industrial) समाज व्यवस्थाओं में कृषि का राष्ट्रीय उत्पत्ति में आधे से भी ज्यादा योगदान पाया जाता है और इसका काफी बड़ा भाग उन लोगों को मिलता है जिनको हम 'सामन्ती' मालिक और मध्यस्थ कह कर पुकारते हैं। यदि इस 'अतिरेक' या 'बचत' का बड़ा भाग उत्पादक विनियोग के लिए उपलब्ध हो जाय तो आर्थिक विकास की गति तेज की जा सकती है। ऐसा अतिरेक अर्थव्यवस्था के अन्य भागों में भी पाया जा सकता है। राजकोषीय नीति का एक प्रमुख कार्य यह भी है कि ऐसे अतिरेक को आर्थिक विकास के लिए जुटाया जाय।

यही कारण है कि अल्प विकसित देशों में सार्वजनिक वित्त के वास्तविक सिद्धान्त का प्रारम्भ अर्थव्यवस्था में उत्पन्न होने वाले आर्थिक अतिरेक की धारणा से होना चाहिए। यद्यपि आर्थिक अतिरेक की धारणा बहुत कुछ भ्रामक है, फिर भी हमारे कार्य की दृष्टि से यह सही और लाभप्रद मानी जा सकती है। किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के लिए सभ्यता तभी कायम रह पाती है जब कि अर्थव्यवस्था अनिवार्य उपभोग के स्तर से ऊपर अतिरेक या बचत उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दे।[1] प्रोफेसर बरान का अनुसरण करते हुए हम वास्तविक आर्थिक अतिरेक और सम्भाव्य आर्थिक अतिरेक के बीच अंतर स्पष्ट कर सकते हैं।[2] वास्तविक आर्थिक अतिरेक वास्तविक चालू उत्पत्ति

---

4. एस० जे० पटेल पूर्वउद्धृत, पृ० 11 गहरे अक्षर मूलपाठ के अनुसार।

1. वास्तव में 'अनिवार्य उपभोग' की सही परिभाषा करना असम्भव जान पड़ता है। यह सदैव के लिए स्थिर नहीं होता है और न सभी देशों व वर्गों के लिए समान होता है। फिर भी किसी भी समाज में एक दी हुई अवधि में अनिवार्य उपभोग के मात्रात्मक और गुणात्मक पहलुओं के बारे में एक साधारण-सा विचार बना लेना सम्भव होगा। अर्थशास्त्र में कई अन्य धारणाएँ भी प्रयुक्त होती हैं जिनकी परिभाषा कड़ाई से कर सकना सम्भव नहीं है, जैसे मूल्य-ह्रास (depreciation)।

2. Paul A. Baran, The Political Economy of Growth, Monthly Review Press, New York, 1957, Pp. 22-23.

और वास्तविक चालू उपभोग के अंतर को कहते हैं। इस प्रकार यह विभिन्न विनियोगों के वास्तविक संग्रह के समान होता है। सम्भाव्य आर्थिक अतिरेक तो उस उत्पत्ति, जो काम में लगाये जा सकने वाले उत्पादक साधनों की सहायता से एक दिये हुए प्राकृतिक व प्रायोगिक वातावरण में उत्पन्न की जा सकती है, और जिसे अनिवार्य उपभोग कहा जा सकता है, इन दोनों के अंतर को कहते हैं।[1] यह भी संभव है कि इस अतिरेक का कुछ भाग वास्तव में प्राप्त भी न हो क्योंकि साधन बेकार पड़े रहने एवं गलत उपयोग से व्यर्थ में ही नष्ट हो जाते हैं। इस अतिरेक का शेष भाग विभिन्न उद्देश्यों में प्रयुक्त किया जाता है। किसी भी देश की सभ्यता की प्रकृति एवं इसकी भावी प्रगति उन उद्देश्यों पर निर्भर करती है जिनके लिए एवं जिस ढंग से इस अतिरेक का उपयोग किया जाता है। इस अतिरेक का उपयोग जिस काम के लिए किया जा सकता है उसे क्लासिकल लेखकों ने 'अनुत्पादक उपभोग' कहा है। लेकिन इसका उपयोग 'अनुत्पादक विनियोग' (महल और पिरामिड), अथवा उत्पादक विनियोग के लिए भी किया जा सकता है। आर्थिक प्रगति की यह मांग है कि कम से कम प्रारम्भिक अवस्थाओं में तो इस अतिरेक का बड़ा भाग उत्पादक विनियोग में लगाया जाय। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में अतिरेक का बड़ा भाग कृषि के क्षेत्र से उत्पन्न होता है और इस पर भूस्वामियों, साहूकारों एवं व्यापारियों का अधिकार हो जाता है जिनमें प्रायः उत्पादक विनियोग की आदत नहीं पाई जाती है। कुछ विचारकों के अनुसार भारत सर्वसाधारण के उपभोग में कमी किये बिना अपनी आमदनी का 15 प्रतिशत विनियोग में लगा सकता है।[2] इस उद्देश्य की दृष्टि से इस बात की आवश्यकता है कि अर्थव्यवस्था में वर्तमान समय में उत्पन्न होने वाले आर्थिक अतिरेक का व्यापक रूप से सचय किया जाय। यह कार्य साम्यवादी उद्योग का समाजीकरण एवं कृषि का समूहीकरण करके करने का प्रयास करते हैं। लोकतान्त्रिक समाज ऐच्छिक बचत और इसको न अपनाने पर, करापात इसके विकल्प होते हैं। अतः आर्थिक विकास के लिए कर-नीति का कार्य इस अतिरेक का संग्रह करना, इसको उत्पादक दिशाओं में भेजना एवं निरंतर इसके आकार में वृद्धि करना होना चाहिए।

---

[1] ..., पृ० 23.

[2] ... ग्रन्थ में वर्णित, पृ० 225.

5. भारत के लिए कराधान के नियम (Canons of Taxation for India) :—

उपर्युक्त बातों को स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठता है कि कर के ढांचे के पीछे मूलभूत सिद्धांत क्या हो ? यह आर्थिक अतिरेक के संग्रह का सिद्धांत होना चाहिए। कराधान के जरिये अतिरेक का बड़ा भाग प्राप्त कर लिया जाना चाहिये जो इस समय उत्पादक विनियोग में प्रयुक्त नहीं हो रहा है। अतः समस्या इस बात की है कि इस अतिरेक का पता लगाया जाय और इसको इस तरह से विनियोग की तरफ ले जाया जाय कि इस प्रक्रिया में इसका उत्पन्न होना न तो नष्ट हो और न गम्भीर रूप से सीमित ही हो।

दूसरा नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति कराधान में जो योगदान करे वह आर्थिक विकास में अंशदान करने की उसकी अप्रयुक्त क्षमता या योग्यता के अनुरूप ही होना चाहिए। यह योग्यता आर्थिक अतिरेक के उस अंश (अथवा उसके प्रति दावे) के रूप में मापी जा सकती है जो उसके हिस्से में आता है और जिसे वह पहले से अपनी इच्छा से उत्पादक विनियोग में नहीं लगा रहा है। किसी भी व्यक्ति की आय में अतिरेक का अंश उस समय समझा जाता है जब कि यह उस स्तर से ऊपर होता है जो कार्यकुशलता और प्रेरणाओं के लिए आवश्यक समझे जाने वाले न्यूनतम उपभोग को बनाये रखने की दृष्टि से जरुरी समझा जाता है। यह तो स्पष्ट है कि इस न्यूनतम उपभोग की मात्रा विभिन्न देशो में और जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न होगी।

कराधान के जरिए अतिरेक की वे वृद्धियाँ भी एकत्र की जानी चाहिए जो विकास की दिशा में उठाये गये प्रारम्भिक प्रयत्नो के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। इसे ही हम बचत वृद्धि-अनुपात (incremental saving ratio) में बढ़ोतरी का होना कहते हैं। अतः कराधान का तीसरा नियम यह है कि इसे इस तरह से व्यवस्थित किया जाय कि विकास के प्रारम्भिक चरणों में उपभोग में आय के अनुपात में वृद्धि न हो सके। आगे चलकर यह बतलाया जायगा कि वस्तु-कराधान का इस उद्देश्य के लिए प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग किया जा सकता है।

भारत में कराधान का चौथा महत्वपूर्ण नियम कराधान में आय-लोच का नियम (Canon of income-elasticity) कहा जायगा। आय की वृद्धि के साथ-साथ कुल आय में कराधान का अंश बढ़ना चाहिए। इस समय भारत में समस्त सरकारी इकाइयाँ मिलकर कराधान के रूप में राष्ट्रीय आय का

असम्भव है क्योंकि इससे ही उत्पन्न करती है। यदि कीमतों की सरकारी दर में वृद्धि करना सम्भव न हो तब भी ऐसा करना इस समय आवश्यक होगा जब कि राष्ट्रीय आय उपभोक्तीय वृद्धि निरन्तर स्थापित कर दे। जैसा कि शीघ्र ही बतलाया जाएगा इसके लिए कर-प्रणाली में निहित लोच (built-in flexibility) की आवश्यकता होती है। कर-प्रणाली को आवश्यक लोच प्रदान करने के लिए यह जरूरी है कि उन वस्तुओं पर कर लगाया जाए जिनकी माँग की आय-लोच ऊँची होती है और साथ में आय-करारोपण का आरोही क्रम भी अपनाया जाना चाहिए। चूँकि सीमान्त दर औसत दर से ऊँची होती इसलिए सरकार का अंश आय के बढ़ने के साथ-साथ अनुपात से ज्यादा बढ़ेगा।

अन्तिम बात जिसका महत्त्व कम नहीं है वह समानता या न्याय का नियम है। चूँकि कराधान का उपयोग आर्थिक विकास के साधन के रूप में किया जाता है, इसलिए न्याय के नियम की यह माँग होती है कि तीव्र आर्थिक विकास में आने वाले भार जनता के विभिन्न वर्गों में समान रूप से बाँटे जाएँ। जब अर्थव्यवस्था में अतिरेक का बड़ा भाग विनियोग में लगाया जाता है तो ठीक ऐसा ही किया जाता है। यदि समाज के अपेक्षाकृत गरीब वर्गों को उनकी आमदनी में होने वाली वृद्धि की पूरी मात्रा तक उपभोग में वृद्धि करने से रोका जाता है, तो दूसरी तरफ धनिक वर्गों को अपने अतिरेक का उपयोग अतिरिक्त उपभोग में करने से रोका जाता है। उपभोग सम्बन्धी त्याग समाज के सभी सदस्यों के द्वारा समान रूप से किये जाते हैं। इस सामान्य नियम से स्वाभाविक परिणाम के रूप में क्षैतिज समानता (horizontal equity) का नियम निकलता है जिसे बहुधा भुला दिया जाता है। कहने का आशय यह है कि एकसी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों एवं एक ही ढंग से आचरण करने वाले व्यक्तियों (अपने अतिरेक का उपयोग करने के सम्बन्ध में) से कर के उद्देश्यों की दृष्टि से समान व्यवहार किया जाना चाहिए। यह समानता का एक स्पष्ट नियम है, फिर भी भारतीय कर-प्रणाली इसका पालन नहीं कर पाई है।

(आ) आय और धन पर करारोपण या कराधान

1. आय कराधान से बचतों को आंशिक रूप से छूट देने के पक्ष में विचार

ऊपर यह सुझाया जा चुका है कि आर्थिक विकास के लिए कराधान का भार आर्थिक अतिरेक पर पड़ना चाहिए और इसे विनियोग के लिए

एकत्र किया जाना चाहिए। कराधान का रूप ऐसा होना चाहिए कि यह अतिरेक में निरंतर वृद्धि करने मे मदद दे सके। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कराधान आय के उस अंश पर (जो एक निश्चित सीमा से ऊपर है) आरोही दर से लगाया जाना चाहिए जो स्वीकृत विनियोगों के लिए प्रयुक्त नही हो रहा है और कराधान का ढग भी ऐसा होना चाहिए जो लोगों को बचत करने के लिए प्रोत्साहित कर सके। दूसरे शब्दो मे, उन बचतो को आय-कराधान से मुक्त रखा जा सकता है जिनका विनियोजन समाज के लिए आवश्यक समभी जाने वाली दिशाओं में किया जाता है।

ऐसी सम्पूर्ण छूट को तभी न्यायोचित ठहराया जा सकता है जब कि हम कराधान को केवल आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने की दृष्टि से ही देखें। लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि कराधान से सरकारी सेवाओं के लिए वित्त भी प्राप्त होता है। इसके अलावा इस अतिरेक का एक भाग सामाजिक ऊपरी व्यय (social overheads) में सार्वजनिक विनियोग के लिए आवश्यक होता है। अतः बीच का हल तो यह होगा कि एक आंशिक, लेकिन पर्याप्त, छूट प्रदान की जाय। यदि हम अर्थव्यवस्था मे बचत की दर को बढ़ाने की सर्वाधिक अनिवार्यता पर ध्यान दें तो हमे यह स्वीकार करना होगा कि यह छूट देना नितान्त आवश्यक है।

ऐसे अनेक कारण है जिनकी वजह से भारत और अन्य दक्षिणी एशियाई देशों के विशेष संस्थागत वातावरण मे सार्वजनिक विनियोग के साथ-साथ निजी बचत को प्रोत्साहन देने के ऊपर के कार्यक्रम का समर्थन किया जाता है। सर्वप्रथम, अतिरेक के अधिकांश भाग को सार्वजनिक विनियोग मे लगाना वाछनीय नहीं होगा। सार्वजनिक और निजी विनियोग दोनो को साथ-साथ चलना होता है क्योंकि सार्वजनिक विनियोग का अधिकांश भाग निजी विनियोग की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि करने के लक्ष्य से ही किया जाता है।[1] द्वितीय, भारत मे भी जिसका आदर्श 'समाजवादी ढग का समाज' स्थापित करना है, अर्थव्यवस्था का अपेक्षाकृत बड़ा भाग, चाहे वह कितना भी निर्धारित हो चुका हो, निजी उपक्रम के लिए छोडा जाता है। यह भारत सरकार के अप्रेल 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रस्ताव के अनुसार केवल वे उद्योग जो आधारभूत व सामयिक महत्त्व के हैं, एव जो सार्वजनिक सेवाओं मे आते हैं, और जिनमे विनियोग का पैमाना

1. देखिए ऊपर, अध्याय II, सैक्शन B.

ऐसा होता है कि केवल सरकार ही उसकी व्यवस्था कर पाती है—सार्वजनिक क्षेत्र में होंगे।[2] अन्य सभी उद्योगों का विकास निजी उपक्रम के लिए छोड़ दिया गया है। इस संस्थागत पृष्ठभूमि में निजी उपक्रम पर रोक लगाने से आर्थिक विकास पर रोक लग जायगी। तृतीय, सरकार ज्यादातर ऐसे उपक्रम अपने हाथ में लेती है जो सापेक्षिक रूप में अलाभकारी होते हैं। बहुत से सरकारी उपक्रमों से प्रत्यक्ष रूप में मौद्रिक प्रतिफल तो मिल सकते हैं, लेकिन वे ऐसे नहीं होते हैं कि उनसे बड़ी मात्रा में लाभ मिल सके। इसीलिए अर्थव्यवस्था में अतिरेक की वृद्धि सार्वजनिक अर्थव्यवस्था के बाहर लाभकारी क्षेत्रों की वृद्धि पर ही निर्भर करेगी। अंत में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि केवल यही पर्याप्त नहीं है कि बचत और उपक्रम की प्रेरणाओं को दुर्बल होने से रोका जाय बल्कि यदि तीव्र गति से आर्थिक विकास करना है तो और भी आगे जाकर प्रेरणाओं को भी सुदृढ़ करना होगा। ऊपरी पूंजी (overhead capital) की व्यवस्था करने की तुलना में राज्य के लिए यह कोई कम दबाव डालने वाला कर्त्तव्य नहीं है।

ये वे प्रबल कारण हैं जो बचतों को आय-कराधान से आंशिक रूप से मुक्त रखवाने के हमारे पूर्ववर्णित दृष्टिकोण को सुदृढ़ करते हैं। लेकिन यह भी आपत्ति उठाई जा सकती है कि जब हम करदेय सामर्थ्य के सिद्धान्त और कुल आमदनियों के आरोही कराधान से दूर जाते हैं तो हम न्याय या समानता को तिलांजलि दे देते हैं। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता है। हम पहले देख चुके हैं कि करदेय सामर्थ्य का सिद्धान्त निश्चयात्मक रूप से कराधान के किसी विशेष रूप की तरफ नहीं ले जाता है। इसलिए यह कहना सही नहीं होगा कि जो कराधान आय के संदर्भ में थोड़ा अवरोही (Slightly regressive) होता है वह अनिवार्यतः न्याय के विपरीत होगा। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक विकास के लिए उपभोग में त्याग करने की आवश्यकता होती है और ये त्याग जनता के सभी वर्गों में समान रूप से वितरित होने चाहिए। जो कर-प्रणाली उपभोग करने के लिए भारी सजा देती है और विनियोग के लिए पारितोषिक देती है, वह प्रत्येक व्यक्ति को उपभोग का परित्याग करने के लिए प्रेरित करती है। अगत में एक विकासशील अर्थव्यवस्था में न्याय (equity) को एक प्रासंगिक रूप में ही देखना होगा। आर्थिक प्रगति करके ही सर्वसाधारण का जीवन-स्तर काफी ऊंचा किया जा सकता है। जो कर-प्रणाली करवाहृता (incidence of taxation) को एक परम्परागत

2. द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृ० 45–50

'समान' ढंग से वितरित करती है वह लोगों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाती है। डा० बोल्डिंग ने बतलाया है कि यदि पुनर्वितरणकारी उपायों से आर्थिक प्रगति की रफ्तार धीमी पड़ जाती है तो कुछ समय के बाद पुनर्वितरण के फलस्वरूप विशेषरूप से लाभान्वित होने वाले समूह को प्राप्त होने वाला निरपेक्ष अंश उस स्थिति की तुलना में कम हो जायगा जो विकास की दर के अपेक्षाकृत ऊंचा होने पर प्राप्त होता।[1] इसका आशय यह है कि किसी भी समूह के हित में यह नहीं होगा कि वह ऐसा पुनर्वितरण अपने पक्ष में स्वीकार करे जो विकास की दर को कम करता हो। सार्वजनिक वित्त का प्रचलित कल्याणकारी अर्थशास्त्र स्थिर मान्यताओं से बधा हुआ है'। "न्याय" का आशय ज्यादातर स्थिर राशि के विभाजन के रूप में लगाया गया है न कि अधिक राशि को प्रोत्साहन देने के रूप में'।[2] एक अल्पविकसित देश में कराधान में न्याय का आशय इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकता कि पूंजी-निर्माण में निहित भार का वितरण समान किया जाय और विकास की सर्वोच्च सम्भव हो सकने वाली दर को प्रोत्साहन दिया जाय।

पहले बतलाया जा चुका है कि आर्थिक विकास के 'भार' के समान वितरण में क्षैतिज न्याय या समानता के नियम को लागू करने की बात शामिल होती है। भारत में विपरीत परिस्थितियों में पाये जाने वाले लोगों पर लागू करने के लिए एक नियम को तलाश करने के हमारे प्रयत्नों में हमने समानता के इस अनापत्तिजनक नियम पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। वेतनभोगी कर्मचारियों पर कर लगा दिया जाता है जब कि दुकानदार इससे बच जाते हैं, मुनाफों एवं वेतनों से प्राप्त आय से एकसा बरताव नहीं किया जाता क्योंकि पहली स्थिति में घटाने लायक खर्चों से सम्बन्धित शर्तें उदार होती हैं; खेतिहर आय के प्रति उदार बरताव किया जाता है और अंत में, पूंजीगत लाभ के रूप में प्राप्त आय भी अब तक कराधान से बची हुई थी और आज भी इस पर रियायती दर से ही कर वसूल किया जाता है।

हमारी योजना में पूंजीगत लाभ इस आधार पर कराधान में शामिल किये जा सकते हैं कि ये उन लाभकारी प्राप्तियों में माने जाते हैं जो व्यक्तियों

1. Kenneth E. Boulding, 'Fruits of Progress and the Dynamics of Distribution, American Economic Review, Vol XLIII No. 2, May 1953. pp 481–482.

2. वही, पृ० 483.

के हाथों में अतिरेक का ही अंश होती है और ये उनके द्वारा उपभोग अथवा विनियोग के लिए प्रयुक्त हो सकती हैं। पूंजीगत लाभों पर कराधान न केवल विभिन्न व्यक्तियों के बीच अधिक न्याय का सम्पादन कर सकेगा बल्कि करों को टालने के सर्वविदित सुराखों में से एक को बंद भी कर देगा। लेकिन पूंजीगत लाभों पर कराधान के साथ बचतों के पक्ष में आंशिक छूट भी दी जानी चाहिये।

यहां पर हमारा इरादा आरोही कराधान के विरुद्ध में तर्क प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि हम तो केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इसका आधार कुल आय को नहीं बनाया जाना चाहिए। इसका आशय यह भी हो सकता है कि कर-प्रणाली आय के सम्बन्ध में कुछ अवरोही हो जाय। लेकिन यह प्रणाली आय के उस अंश के सम्बन्ध में काफी आरोही होगी जो उत्पादक ढंग से विनियोजित नहीं किया जाता है। यह योजना दोहरे उद्देश्य की पूर्ति करती है : यदि बड़ी राशि वाली आमदनी बचाई नहीं जाती है तो इसका काफी भाग सरकार के द्वारा ले लिया जायगा, और इसके विपरीत, यदि आमदनी को भारी कराधान से बचाना है तो इसे विनियोग में लगाना होगा। दोनों ही विधियों से यह अतिरेक आर्थिक विकास के लिए एकत्र हो जायगा। इस तरह से यह योजना हमको कर-नीति में पाये जाने वाले मूलभूत उभयपाश (dilemma) से मुक्त कराने में मदद देती है जो इस प्रकार है : कराधान से अधिक राशि प्राप्त की जानी चाहिए लेकिन ऐसा प्रेरणाओं को नष्ट करने के भय से नहीं किया जा सकता है। हम यहां पर जिस योजना का विवेचन कर रहे हैं उसमें यदि सरकार कर के रूप में कुछ आय खो भी देती है तो भी यह बचत को प्रोत्साहन देने में सफल हो जायगी जिसमें से यह अपना कुछ अंश ले सकती है।

अतः आवश्यकता एक ऐसे व्यावहारिक कार्यक्रम की है जिसके द्वारा विशेष दिशाओं में विनियोजित की जाने वाली बचतों के लिए आंशिक छूटें दी जा सकें। ऐसी छूटों से केवल लाभांश प्राप्त करने वालों एवं निगमों के स्वामियों को ही नहीं बल्कि सभी किस्म के आयकरदाताओं को लाभ पहुँचना चाहिए। चूंकि विनयोग को मिलने वाला प्रोत्साहन वैयक्तिक व व्यावसायिक स्तर पर दिया जाना चाहिये, इसलिए इस योजना के अन्तर्गत वैयक्तिक व व्यावसायिक दोनों तरह की आय के कराधान में संशोधन करने होंगे। यहां पर प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि उन सब लोगों को जो आयकर नहीं देते हैं, स्वतः अपनी बचतों पर कर की छूट प्राप्त हो जाती है क्योंकि वे अपने उपभोग पर ही कर चुकाते हैं।

छूट की यह योजना कोई क्रान्तिकारी नहीं है। भारत में एवं अन्य देशों में ये छूटें धर्मार्थ अंशदानों, बीमा व प्रॉविडेन्ट कोष के भुगतानों एवं निगमों के द्वारा किये जाने वाले कुछ पूंजीगत विनियोगों के लिए दी गई हैं। दान की बनिस्वत विनियोग को प्रोत्साहित करने का ज्यादा महत्त्व होता है और ऐसा विशेषरूप से एक अल्पविकसित देश में होता है। और जब एक व्यक्ति अपनी आमदनी वैयक्तिक उपभोग में न लगाकर ऐसे विनियोगों में लगाता है जिनमें अर्थव्यवस्था की उत्पादक क्षमता बढ़ती है तो स्पष्ट रूप से सामाजिक लाभ प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में केन्स के उन शब्दों को स्मरण करना होगा जो उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम अर्द्धकाल में पाई जाने वाली यूरोप की अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में कहे थे :

'इस प्रकार यह उल्लेखनीय व्यवस्था अपने विकास के लिए दोहरे दवाव या धोखे पर निर्भर करती थी। एक तरफ श्रमिक वर्ग ने अज्ञानतावश या शक्तिहीनता के कारण एक ऐसी स्थिति स्वीकार करली अथवा समाज की प्रथा, परिपाटी, सत्ता एवं सु-स्थापित व्यवस्था के कारण मजदूर एक ऐसी स्थिति को स्वीकार करने के लिए विवश होगये, प्रेरित होगये अथवा धोखे में आगये जिसमें उस बहुत थोड़े से माल को, जो उन्होंने प्रकृति व पूंजीपतियों के सहयोग से उत्पन्न किया था, अपना कहने लग गये थे। दूसरी तरफ, पूंजीपति वर्ग को भी इस बात की इजाजत दे दी गई कि वे इस माल के अधिकांश भाग को अपना बतला सकें और वे सिद्धान्ततः इसका उपभोग करने के लिए इस अव्यक्त अन्तर्निहित शर्त पर स्वतन्त्र थे कि व्यवहार में इसका बहुत थोड़ा भाग उपभोग में लगाया जायगा।'[1]

ऊपर प्रस्तावित कर-प्रणाली में धनिक वर्ग कर-मुक्त आय को स्वयं की बतलाने के लिए 'सैद्धांतिक रूप से स्वतन्त्र' होगा, लेकिन वह इसका उपभोग नहीं कर सकेगा। एक 'अव्यक्त अन्तर्निहित शर्त' पर निर्भर करने के बजाय हम धनिक वर्ग को करारोपण की एक सुव्यवस्थित योजना के जरिए उपभोग का परित्याग करने के लिए 'फुसलायेंगे' और 'प्रेरित करेंगे'।

यह तो सच है कि यदि हम बचतों को आंशिक छूट प्रदान करते हैं तो आयकर धन की असमानताओं को कम करने में कम प्रभावशाली सिद्ध होता है। लेकिन चूंकि इस योजना में आयकर की दरें बढ़ाई जा सकती हैं इसलिए

1. J.M. Keynes, The Economic Consequences of the Peace, Harcourt, Brace and Howe, New York, 1920, pp. 19-20.

उपभोग के स्तरों में पाई जाने वाली असमानताएं भी कम की जा सकेंगी। अल्पकाल में सर्वसाधारण के लिए यही सर्वश्रेष्ठ बात की जा सकती है। धन की असमानताओं को कम करने के लिए और असमानताओं को चिरस्थाई होने से रोकने के लिए धन एवं उत्तराधिकार के कराधान पर निर्भर करना होगा। यदि कोई देश निजी उद्यम पर ही निर्भर करना चाहता है तो इसे धन-संग्रह को एक सीमा तक प्रोत्साहित करना होगा। लोगों के लिए बड़ी फर्मों को स्थापित करने एवं चलाने के लिए धन की विशाल मात्रा पर अधिकार रखना आवश्यक होगा। जितनी जल्दी यह महसूस कर लिया जाता है कि एक आदर्शवादी सुधारक जिस असमानता की इजाजत देता है उससे अधिक असमानता की मात्रा का होना अनिवार्य है, आर्थिक विकास की दृष्टि से यह उतना ही अधिक अच्छा माना जायगा। यदि एक देश धन की असमानताएँ नहीं रखना चाहता है और साथ में तीव्र आर्थिक प्रगति का भी इच्छुक है तो इसके लिए प्रमुख रूप से समाजवादी व्यवस्था का अपनाना सम्भवतया ठीक रहेगा। लेकिन इस तरह की व्यवस्था में भी आमदनी में असमानता का भारी अंश बना रहेगा।

6

परोक्ष कराधान

डा० राजा जे० चेल्लैया

1. परोक्ष कराधान का महत्त्व

यह तो सब जानते ही हैं कि परोक्ष करों का अल्पविकसित देशों की वित्तीय व्यवस्था मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन देशो मे परोक्ष कराधान का ढांचा प्रत्यक्ष कराधान के उद्देश्यों के आधार पर ही बनाया जाता है। इसका स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि यह अर्थव्यवस्था मे पूँजी-निर्माण की दर को बढ़ा सके और साथ मे सार्वजनिक उपभोग और विनियोग के लिए आय प्रदान कर सके। यहां पर भी हमे केवल यही प्रश्न नही पूछना है कि सरकार के लिए अधिक आय कैसे जुटाई जाय, बल्कि हमें यह जानना है कि विनियोग की दर मे कैसे वृद्धि की जा सकती है और साथ मे सरकार से अधिक आय कैसे प्राप्त की जा सकती हैं। यहाँ पर बचत वृद्धि-अनुपात पर पड़ने वाले प्रभावों पर भी विचार करना आवश्यक होगा।

जिन वस्तुओ का व्यापक रूप से उपभोग किया जाता है उनके कराधान का एक औचित्य यह है कि यह कम से कम अनिवार्य सरकारी सेवाओं के लिए तो पर्याप्त वित्तीय साधन जुटाने के लिए आवश्यक होता है। अल्पविकसित देशो मे यह आवश्यक होता है कि करों की आय के अधिकांश भाग को वस्तु-कराधान के जरिए प्राप्त किया जाय। इस तरह से विचार करने पर वस्तु-कराधान सामान्य लाभ की लागत को पूरा करने मे योगदान देता है और इसे यथासम्भव समान ढंग से लगाया जाना चाहिए। व्यापक रूप से स्वीकृत नियमों के अनुसार तो विलासिताओं पर ऊची दरो से और सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर नीची दरों से कर लगाये जाने चाहिएँ। दरों का यह भेद आरोहीपन के एक मोटे तत्त्व का समावेश करा देता है।

जब हम वस्तु-कराधान को आर्थिक विकास के साधन के रूप में देखते है तो इसका औचित्य यह होता है कि इसमे उपभोग को नियन्त्रित करने की प्रवृत्ति होती है। लेकिन इसका अधिक प्रयोग सर्वसाधारण के वास्तविक

उपभोग में कमी करने के बजाय उपभोग की सम्भाव्य वृद्धि को रोकने में किया जाना चाहिए। कराधान को इस रूप में उचित ठहराना आसान होता है कि इसका उद्देश्य विलासिताओं के उपभोग और स्वास्थ्य व कार्यक्षमता के लिए आवश्यक न होने वाली अन्य वस्तुओं के उपभोग में कमी करना है। लेकिन एक गरीब व अल्पविकसित देश में आम जनता के उपभोग में आने वाली वस्तुओं पर कर लगाने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह हमारे इस सिद्धान्त के विपरीत है कि अतिरेक या आधिक्य के तत्त्व (element of surplus) पर ही प्रहार किया जाय। अतः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या आम जनता के उपभोग पर लगाये जाने वाले करों का विकास के लिए की जाने वाली वित्तीय व्यवस्था में कोई स्थान हो सकता है? चूंकि आम लोगों की आमदनी में अतिरेक का अंश मुश्किल से ही पाया जाता है, इसलिए उनको अपनी मामूली आमदनी में से आर्थिक विकास के लिए योगदान देने के लिए बाध्य करना स्पष्टतया अवांछनीय व अनुचित माना जायगा। यह कहना तो एक बात है कि अनिवार्य सरकारी सेवाओं को कायम रखने के लिए ऐसा कराधान आवश्यक है; लेकिन यह बात बिलकुल भिन्न है कि विनियोग की चालू दर को ऊंचा करने के लिए इस स्रोत से ही कर की आय बढ़ाई जानी चाहिए। आगे चलकर यह बतलाया जायगा कि सम्भवतः यह नीति सफल न हो।

इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये कार्यात्मक वित्त (functional finance) के दृष्टिकोण से आम वस्तुओं पर लगाये गये करों का कार्य एक दिए हुए समय में विनियोग की दर में वृद्धि करना नहीं है, बल्कि उपयोग को उस सीमा तक बढ़ने से रोकना है जहां तक भूतकाल के विनियोग के फलस्वरूप आय बढ़ती है। इसी कारण से आम वस्तु-कराधान अल्पविकसित देशों में आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से भी आवश्यक हो जाता है।

अल्पविकसित देशों में एक अत्यधिक जटिल समस्या बचत वृद्धि-अनुपात (incremental saving ratio) को ऊंचा करने की है। यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल धनिक वर्ग को ही बचत व विनियोग के लिए प्रेरित करना अथवा फुसलाना पर्याप्त नहीं होगा। जहां तक आय में होने वाली वृद्धि का अधिकांश भाग जनता के अपेक्षाकृत निर्धन वर्ग के हिस्से में आता है, वहां तक वे पहले से ज्यादा उपभोग करने की स्थिति में आ जाते हैं। उनके उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति इकाई के काफी नजदीक होती है, इसलिये उनके उपभोग में लगभग उनकी आय के अनुकूल ही वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यदि ऐसा होने दिया जाता है तो उत्पादकता में होने वाली वृद्धि बढ़े हुए

उपभोग के रूप में ही लगभग पूर्णतया समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में बढ़ा हुआ वस्तु-कराधान उपभोग की वृद्धि को नियन्त्रित करने में प्रयुक्त हो सकता है ताकि विनियोग के लिए कुछ साधन उपलब्ध किये जा सकें।

यही बात कृषि पर भी लागू होती है। जब कृषि की उत्पादकता में वृद्धि होती है तो कृषक फार्म की वस्तुओं, विशेषतया भोजन, का अपना उपभोग बढ़ाने की प्रवृत्ति दिखलाते हैं। इसके अलावा जब अर्द्ध-रोजगार की दशा से श्रमिक ग्रामीण क्षेत्र से औद्योगिक रोजगार की तरफ जाते हैं तो खेतों पर रह जाने वाले व्यक्तियों को अपने उपभोग में वृद्धि करने का अवसर मिल जाता है। दूसरी तरफ औद्योगिक रोजगार की निरन्तर वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि कृषिगत पदार्थों की विक्रीयोग्य बचत मे वृद्धि हो। अतः हो सकता है कि बढ़ते हुए अतिरेक के एक अंश को ग्रामीण क्षेत्र से बाहरी क्षेत्र में ले जाने के लिए कराधान का उपयोग करना पड़े।

असल मे हमारा यह मत नहीं है कि उपभोग्य वस्तुओं की उत्पत्ति में कोई वृद्धि नहीं हो, बल्कि हम तो यह सुझाना चाहते हैं कि उत्पादकता की वृद्धियाँ पूर्णतया उपभोग्य वस्तुओं के क्षेत्र मे ही समाप्त न हो जायं। सच पूछा जाय तो मानवीय अथवा राजनीतिक कारणों के अलावा भी छिपी हुई बेकारी की स्थिति मे कुछ उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति मे तो तीव्र गति से वृद्धि करना काफी वांछनीय होगा। यह उस समय स्पष्ट हो जायगा जब हम 'बचत वृद्धि-अनुपात को बढ़ाने' के आशय की सही रूप में जाँच करेंगे।

इस विश्लेषण की दृष्टि से हम उपभोग्य वस्तुओं को तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित कर लेते हैं (अ) अनिवार्यताएँ . जिनकी सबको आवश्यकता होती है, लेकिन जो जीवन-निर्वाह की सीमा पर होते हैं उनको तो केवल ये वस्तुएँ ही उपलब्ध होती हैं, (आ) गैर-अनिवार्यताएँ : ये उस विशाल जन-समुदाय के द्वारा काम में ली जा सकती हैं एवं ली जाती हैं जो विभिन्न अंशों तक जीवन-निर्वाह के स्तर से ऊपर होता है; और (इ) विलासिताएँ: यह मुख्यतया धनिक वर्ग के द्वारा ही प्रयुक्त की जाती हैं।

मान लीजिए, जनसख्या स्थिर रहती है और छिपी हुई बेकारी नहीं पाई जाती है। विशुद्ध विनियोग से जनता की वास्तविक आय में बढ़ोतरी होती है। इसका आशय यह है कि लोगों की मौद्रिक आय कीमतों के लगभग उसी स्तर पर अपेक्षाकृत ऊँची होगी अथवा कीमतों के अपेक्षाकृत नीचे स्तर पर मौद्रिक आय लगभग उतनी ही होगी। जब एक व्यक्ति की वास्तविक आय बढ़ती

है तो वह अपने उपभोग के पैमाने में अनिवार्यताओं से विलासिताओं की तरफ जाने का प्रयास करता है। यदि इस गति पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो गैर-अनिवार्य वस्तुओं व विलासिताओं के उत्पादन में वृद्धि होने के बजाय विनियोग-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। जीवन-स्तर स्थिर रहता है अथवा मामूली-सा बढ़ता है, लेकिन विनियोग का आय के प्रति अनुपात बढ़ता है।

अब हम यह मान लेते हैं कि अर्थव्यवस्था में छिपी हुई बेकारी है और इसे कालान्तर में कम किया जाता है। अर्द्ध-रोजगार प्राप्त व्यक्तियों को औद्योगिक रोजगार की तरफ ले जाने से सुपरिचित 'मजदूरी-वस्तु अन्तर' ('wage-goods gap') उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में, यों कहा जा सकता है कि यद्यपि ये लोग अर्द्ध-रोजगार की अपनी पहले की दशा में कुछ वस्तुओं का उपभोग कर रहे थे, लेकिन उनको औद्योगिक रोजगार के मिल जाने पर अर्थव्यवस्था में मजदूरी-वस्तुओं की कुल मांग में वृद्धि हो जाती है। ऐसा दो कारणों से होता है : (अ) उनको जो वास्तविक मजदूरी देनी होती है वह उनके आंशिक बेकारी के दिनों के औसत उपभोग से अधिक होती है; और (आ) जो खेतों में रह जाते हैं एवं अपने आश्रितों से मुक्त हो जाते हैं वे अपने उपभोग में वृद्धि करने लगते हैं। इन परिस्थितियों में छिपी हुई बेकारी की मात्रा में उस समय तक कमी नहीं हो सकती जब तक कि मजदूरी-वस्तुओं की उत्पत्ति में थोड़ी वृद्धि न हो जाय। दूसरे शब्दों में, यदि हम छिपी हुई बेकारी की मात्रा को कम करना चाहते हैं तो हमें ऐसी अनिवार्यताओं एवं कुछ गैर-अनिवार्य वस्तुओं की उत्पत्ति में वृद्धि करनी होगी जो विशेषरूप से श्रमिकों के काम आती हैं।

अब हम यह मान लेते हैं कि जनसंख्या बढ़ती है और यह स्थिति वस्तुतः अल्पविकसित देशों में पाई जाती है। जब इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि इन देशों में जनसंख्या का बड़ा भाग निर्वाह-स्तर पर गुजर करता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अनिवार्यताओं की उत्पत्ति एवं कुछ गैर-अनिवार्य वस्तुओं की उत्पत्ति में भी तीव्र गति से वृद्धि होनी चाहिए। अतः परोक्ष कराधान का कार्य अनिवार्यताओं की उत्पत्ति में कमी करना नहीं है, बल्कि बचत वृद्धि-अनुपात को बढ़ाना है। इस काम के लिए इसका उपयोग दो भिन्न-भिन्न तरीकों से करना होता है। सर्व प्रथम, इसका उपयोग अनेक गैर-अनिवार्य एवं विलासिता की वस्तुओं की उत्पत्ति में तीव्र वृद्धि पर रोक लगाने (अथवा उत्पत्ति को कम करने में भी) के लिए किया जाता है।

द्वितीय, इसका उपभोग मजदूरी-वस्तुओं की बढ़ी हुई उत्पत्ति के एक भाग को विनियोग और/अथवा औद्योगिक क्षेत्र में भेजने में करना होता है। आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से सर्वसाधारण के उपभोग पर कर लगाने का युक्ति-संगत कारण अततः यही होता है।

यह स्मरण रखना होगा कि उपभोग की कटौती अथवा नियंत्रण की बात विलासिताओं एवं गैर-अनिवार्य वस्तुओं पर ही लागू होती है। अनिवार्यताओं के सम्बन्ध में तो केवल इतना ही आवश्यक है कि इनकी उत्पत्ति में होने वाली वृद्धि का एक अंश विनियोग के क्षेत्र के लिए उपलब्ध किया जाना चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि इस दूसरे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अनिवार्यताओं पर ही कर लगाना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, खाद्य की बिक्री योग्य बचत के बढ़ाने के प्रश्न को लीजिए। सर्वसाधारण के उपभोग में काम आने वाली मूलभूत वस्तुओं पर कर लगाना कृषकों को किसी भी तरह से इस बात के लिए प्रेरित करने अथवा बाध्य करने में सहायक नहीं होगा कि वे खेत की उपज के अपेक्षाकृत बड़े भाग का परित्याग करें। कृषकों के विपक्ष में विनिमय की शर्तों *(terms of exchange)* को बदलकर, अर्थात्, उन गैर-अनिवार्य वस्तुओं की कीमतों को कराधान के जरिए बढ़ाकर जिन्हें कृषक अपनी आमदनी की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती हुई मात्रा में उपभोग में लगाना चाहेंगे, गैर-कृषि माल की एक दी हुई मात्रा के बदले में कृषि का अधिक माल प्राप्त किया जा सकता है। कर के उपायों को अपना कर यह भी आवश्यक नहीं है कि जनता के कुछ वर्गों के अनिवार्यताओं के उपभोग को उन लोगों के लिए नियन्त्रित किया जाय जिन्हें विनियोग के क्षेत्र में काम मिला हुआ है; क्योंकि ऐसे लोगों को दी जाने वाली मजदूरी रकम उन्हें इस बात के लिए सक्षम कर देगी कि वे अर्थव्यवस्था में मजदूरी-वस्तुओं की उपलब्ध पूर्ति का एक अंश माँग सकें।

अल्पविकसित देशों में राजकोषीय नीति पर लिखने वाले व्यक्तियों ने सामान्यतया इस बात पर खेद तो प्रगट किया है कि सर्वसाधारण को अपेक्षाकृत ऊँचे कराधान के जरिए आर्थिक विकास में योगदान करने के लिए कहा जाता है लेकिन उनका बहुधा यह निष्कर्ष रहा है कि ऐसा कराधान अवश्यम्भावी होता है। अब प्रश्न यह है कि जब हम अपेक्षाकृत ऊँचे कराधान के जरिए आर्थिक विकास में योगदान देने के लिए सर्वसाधारण को बाध्य करने की चर्चा करते है तो इससे सही आशय क्या निकलता है? किसी भी दिये हुए समय में मजदूरी-वस्तुओं की पूर्ति स्थिर रहती है और यह उपभोग

तो यह उनके उपभोग के ढंग में अनिवार्यताओं से विलासिताओं की तरफ जाने का प्रयास करता है। यदि इस गति पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो गैर-अनिवार्य वस्तुओं व विलासिताओं के उत्पादन में वृद्धि होने के बजाय विनियोग-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। औसत बचत स्थिर रहता है अथवा मामूली-सा बढ़ता है, लेकिन विनियोग का भार के वृद्धि अनुपात बढ़ता है।

अब हम यह मान लेते हैं कि अर्थव्यवस्था में छिपी हुई बेकारी है और इसे बाजाब्ता में कम किया जाता है। अर्द्ध-रोजगार प्राप्त व्यक्तियों को औद्योगिक रोजगार की तरफ ले जाने से सुपरिचित 'मजदूरी-वस्तु अंतर' ('wage-goods gap') उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में, यों कहा जा सकता है कि यद्यपि वे लोग अर्द्ध-रोजगार की अपनी पहले की दशा में कुछ वस्तुओं का उपभोग कर रहे थे, लेकिन उनको औद्योगिक रोजगार के मिल जाने पर अर्थव्यवस्था में मजदूरी-वस्तुओं की कुल माग में वृद्धि हो जाती है। ऐसा दो कारणों से होता है : (अ) उनको जो वास्तविक मजदूरी देनी होती है वह उनके आंशिक बेकारी के दिनों के औसत उपभोग से अधिक होती है; और (आ) जो गांवों में रह जाते हैं एवं अपने आश्रितों से मुक्त हो जाते हैं वे अपने उपभोग में वृद्धि करने लगते हैं। इन परिस्थितियों में छिपी हुई बेकारी की मात्रा में उस समय तक कमी नहीं हो सकती जब तक कि मजदूरी-वस्तुओं की उत्पत्ति में थोड़ी वृद्धि न हो जाय। दूसरे शब्दों में, यदि हम छिपी हुई बेकारी की मात्रा को कम करना चाहते हैं तो हमें ऐसी अनिवार्यताओं एवं कुछ गैर-अनिवार्य वस्तुओं की उत्पत्ति में वृद्धि करनी होगी जो विशेषरूप से श्रमिकों के काम आती हैं।

अब हम यह मान लेते हैं कि जनसंख्या बढ़ती है और यह स्थिति वस्तुतः अल्पविकसित देशों मे पाई जाती है। जब इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि इन देशों मे जनसंख्या का बड़ा भाग निर्वाह-स्तर पर गुजर करता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अनिवार्यताओं की उत्पत्ति एवं कुछ गैर-अनिवार्य वस्तुओं की उत्पत्ति मे भी तीव्र गति से वृद्धि होनी चाहिए।

. परोक्ष कराधान का कार्य अनिवार्यताओं की उत्पत्ति में कमी करना नहीं बल्कि बचत वृद्धि-अनुपात को बढ़ाना है। इस काम के लिए इसका उपयोग भिन्न-भिन्न तरीकों से करना होता है। सर्व प्रथम, इसका उपयोग अनेक ...र्य एवं विलासिता की वस्तुओं की उत्पत्ति मे तीव्र वृद्धि पर रोक (ऐसा हो... उत्पत्ति को कम करने मे भी) के लिए किया जाता है।

द्वितीय, इसका उपभोग मजदूरी-वस्तुओं की बढ़ी हुई उत्पत्ति के एक भाग को विनियोग और/अथवा औद्योगिक क्षेत्र मे भेजने में करना होता हैं। आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से सर्वसाधारण के उपभोग पर कर लगाने का युक्तिसंगत कारण अततः यही होता हैं।

यह स्मरण रखना होगा कि उपभोग की कटौती अथवा नियंत्रण की बात विलासिताओ एवं गैर-अनिवार्य वस्तुओ पर ही लागू होती हैं। अनिवार्यताओं के सम्बन्ध मे तो केवल इतना ही आवश्यक हैं कि इनकी उत्पत्ति मे होने वाली वृद्धि का एक अंश विनियोग के क्षेत्र के लिए उपलब्ध किया जाना चाहिए। यह तो स्पष्ट हैं कि इस दूसरे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अनिवार्यताओं पर ही कर लगाना आवश्यक नही है। उदाहरण के लिए, खाद्य की बिक्री योग्य बचत के बढ़ाने के प्रश्न को लीजिए। सर्वसाधारण के उपभोग में काम आने वाली मूलभूत वस्तुओं पर कर लगाना कृषकों को किसी भी तरह से इस बात के लिए प्रेरित करने अथवा बाध्य करने मे सहायक नही होगा कि वे खेत की उपज के अपेक्षाकृत बड़े भाग का परित्याग करें। कृषकों के विपक्ष मे विनिमय की शर्तों (terms of exchange) को बदलकर, अर्थात्, उन गैर-अनिवार्य वस्तुओं की कीमतों को कराधान के जरिए बढ़ाकर जिन्हें कृषक अपनी आमदनी की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती हुई मात्रा मे उपभोग में लगाना चाहेंगे, गैर-कृषि माल की एक दी हुई मात्रा के बदले मे कृषि का अधिक माल प्राप्त किया जा सकता हैं। कर के उपायों को अपना कर यह भी आवश्यक नही हैं कि जनता के कुछ वर्गों के अनिवार्यताओं के उपभोग को उन लोगों के लिए नियन्त्रित किया जाय जिन्हें विनियोग के क्षेत्र में काम मिला हुआ हैं; क्योंकि ऐसे लोगों को दी जाने वाली मजदूरी स्वतः उन्हें इस बात के लिए सक्षम कर देगी कि वे अर्थव्यवस्था मे मजदूरी-वस्तुओं की उपलब्ध पूर्ति का एक अंश माँग सकें।

अल्पविकसित देशों मे राजकोषीय नीति पर लिखने वाले व्यक्तियों ने सामान्यतया इस बात पर खेद तो प्रगट किया है कि सर्वसाधारण को अपेक्षाकृत ऊँचे कराधान के जरिए आर्थिक विकास मे योगदान करने के लिए कहा जाता है लेकिन उनका बहुधा यह निष्कर्ष रहा है कि ऐसा कराधान अवश्यम्भावी होता है। अब प्रश्न यह है कि जब हम अपेक्षाकृत ऊँचे कराधान के जरिए आर्थिक विकास में योगदान देने के लिए सर्वसाधारण को बाध्य करने की चर्चा करते हैं तो इससे सही आशय क्या निकलता है? किसी भी दिये हुए समय मे मजदूरी-वस्तुओं की पूर्ति स्थिर रहती है और यह उपभोग

के लिए उपलब्ध होती है। अपेक्षाकृत ऊँचे कराधान से वास्तविक उपभोग में शीघ्र ही कमी नहीं हो सकती है। उपभोग में काफी कमी तभी आती है जब कि कराधान से उपभोग्य वस्तुओं की उत्पत्ति में कमी होने लग जाती है। लेकिन ऐसा समस्त उपभोग्य वस्तुओं के सम्बन्ध में नहीं होने दिया जाता है। भावी उत्पत्ति की बनावट वर्तमान विनियोग के प्रारूप पर ही निर्भर किया करती है। इस समय विनियोग की जो अधिकांश योजनाएँ चल रही हैं उनमें मजदूरी-वस्तुओं की उत्पत्ति में काफी वृद्धि की व्यवस्था की गई है। वास्तव मे ज्यों-ज्यों विकास की योजनाएँ आगे बढ़ेंगी त्यों-त्यों कई तरह की उपभोग की वस्तुओं की उत्पत्ति मे वृद्धि होगी। उपभोग-वस्तुओं की उत्पत्ति कितनी तेजी से बढ़ेगी और किस किस्म की वस्तुएँ बढ़ती हुई मात्रा में उत्पन्न की जायेंगी यह सब जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, विनियोग के ढंग पर निर्भर करेगा। उदाहरण के लिए, जितना अधिक विनियोग देश के पूँजीगत ढांचे को गहन करने मे किया जाता है, उपभोग-वस्तुओं की उत्पत्ति उतनी ही कम तेजी से बढ़ती है। चूँकि सभी किस्म के विकास में कुछ-न-कुछ पूजी-गहनता की आवश्यकता होती है, इसलिए विनियोग का प्रारूप सम्भवतः गैर-अनिवार्यताओ व विलासिताओ की उत्पत्ति में तीव्र वृद्धि नहीं होने देगा। इस नीति के अन्तर्गत आम जनता के लिए यह तो आवश्यक होगा कि वह अपने जीवन-स्तर में अपेक्षाकृत धीमी वृद्धि को ही सहन करे, लेकिन इससे अनिवार्यताओ के उपभोग में कोई कमी नहीं आयेगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आम जनता के काम की वस्तुओ पर लगाये जाने वाले करों का मुख्य उद्देश्य सर्वसाधारण के उपभोग मे तीव्र वृद्धि को रोकना होता है। इस निष्कर्ष के नीति की दृष्टि से भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। सर्वप्रथम, अनिवार्यताओं पर कर लगाने के पक्ष में कोई तर्क नहीं दिया जा सकता है। द्वितीय, गैर-अनिवार्यताओं एवं सर्वसाधारण की विलासिताओ पर प्रारम्भ मे काफी नीची दरों से कर लगाया जा सकता है। सर्वसाधारण के उपभोग की वस्तुओं पर कर की दरें तभी बढ़ाई जानी चाहिए जब कि इस बात का स्पष्ट संकेत मिल जाय कि ऐसी वस्तुओं की प्रति व्यक्ति उत्पत्ति बढ़ रही है। यहाँ पर यह बतलाना भी आवश्यक होगा कि जहाँ तक विनियोग का प्रारूप योजना-अधिकारी के द्वारा निर्धारित होता है वहाँ तक कराधान का कार्य केवल भावी उपभोग के प्रारूप को विनियोग के प्रारूप के अनुरूप ही लाना होता है। अनिवार्यताओं पर कर लगाना और साथ मे सरकारी विनियोग और आर्थिक सहायता के

जरिए उनकी उत्पत्ति को बढ़ाना स्पष्टतया एक परस्पर विरोधी नीति ही मानी जायगी ।

कराधान-जाँच-आयोग (TEC) ने एक सिफारिश की है जो हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष के विपरीत है । भारत के लिए वस्तु-कराधान के सर्वोत्तम ढाचे का विवेचन करते हुए उसने निम्नाक्ति बात कही है : 'अत हमारा मत है कि कई किस्म की विलासिता एव अर्द्ध-विलासिता की वस्तुओ पर काफी ऊँची दरों से अतिरिक्त कर लगाये जाँय और साथ मे सर्वसाधारण के उपभोग की वस्तुओं पर अपेक्षाकृत नीची दरो से विस्तृत रूप से कर लगाये जाँय ।'[1] यह एक ऐसा कथन है जिसका कोई अपवाद नही हो सकता । लेकिन इसमे आगे चल कर यह कहा गया है . 'वस्तु-कराधान से काफी आय प्राप्त करने के लिए और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे उपभोग पर उल्लेखनीय नियन्त्रण करने के लिए उत्पादन एव बिक्री करो को नीची आय वाले लोगों तक फैलाना होगा और इनके अन्तर्गत उन वस्तुओं को भी लेना होगा जो साधारणतया अनिवार्यताएँ कहलाती हैं और जिनमें ऐसी कई वस्तुएँ भी आ जाती है जो सविधान की धारा 286 के अन्तर्गत अनिवार्य वस्तु-अधिनियम मे शामिल की गई हैं ।

......यदि सार्वजनिक विनियोग की वित्तीय व्यवस्था के लिए साधनो को मोड़ (Diversion) देकर महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त करने है तो अनिवार्यताओं पर कराधान का विस्तार करना अवश्यम्भावी प्रतीत होता है ।'[2] अनिवार्य वस्तु-अधिनियम मे शामिल होने वाली कुछ वस्तुएँ नीची आय वाले व्यक्तियों के लिए इस कठोर अर्थ मे अनिवार्य नही है कि वे उनके लिए जीवन की अनिवार्यताएँ हों । लेकिन जीवन की अनिवार्यताओं के सम्बन्ध में तो आयोग की सिफारिश बिलकुल भी स्वीकार करने लायक नही है । यह विकास सम्बन्धी वित्त के प्रश्न पर केवल 'आय-दृष्टिकोण' ('revenue approach') पर आधारित है और प्राप्त किये जा सकने वाले मोड़ो की प्रकृति का गलत अर्थ लगाती है ।

यदि यह सच है कि जनसंख्या का एक बड़ा भाग निर्वाह-स्तर पर जी रहा है तो यह स्पष्ट नही हो पाता है कि अनिवार्यताओं की उत्पत्ति मे कमी करने के लिए बनायी गई कोई भी नीति कैसे उचित ठहराई जा सकती

---

1. TEC Report, Vol I, P. 149.

2. वही ।

है। इसके विपरीत जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है जनसंख्या की वृद्धि और छिपी हुई बेकारी को कम करने की आवश्यकता के दोनों कारणों से कम-से-कम मूलभूत आवश्यकताओं की उत्पत्ति में तीव्र वृद्धि की ही मांग करती है। प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में इन अनिवार्य वस्तुओं की उत्पत्ति में काफी वृद्धि करने की व्यवस्था की गई है। अतः आलोचक का यह कथन कि 'यदि सार्वजनिक विनियोग की विशेष व्यवस्था के लिए साधनों के मोड़ या स्थानान्तरण के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त करने हैं तो अनिवार्यताओं पर करारोपण का विचार प्रभावशाली प्रतीत होता है', हमारे आलोचनाकर्ताओं के इरादों से ही स्पष्टतया विपरीत है और साथ में यह वास्तविक विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों से भी विपरीत है। (विशेष जोर देने के लिए गहरे अक्षरों में लेखक की ओर से दिया गया है।)

2. परोक्ष करारोपण के प्रभावों का विश्लेषण (Analysis of the Effects of Indirect Taxation) :—

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से परोक्ष करारोपण के तीन मुख्य उद्देश्य होते हैं, यथा (अ) सार्वजनिक विनियोग के लिए साधन जुटाना; (आ) विलासिताओं के उपभोग में कमी करके अर्थव्यवस्था में विनियोग की दर को बढ़ाना; और (इ) बचत वृद्धि-अनुपात (incremental saving ratio) को ऊँचा करना। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए राज्य को इस बात में रुचि होती है कि वह साधनों एवं क्रय-शक्ति को कुछ विधियों से एवं कुछ दिशाओं में मोड़ प्रदान करे। ऐसे तीन किस्म के मोड़ हैं जो इस स्थिति में आवश्यक माने जायेंगे : (अ) साधनों को निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र की तरफ ले जाना; (आ) निजी क्षेत्र में ही उपभोग-वस्तुओं के उद्योगों से विनियोग-वस्तुओं के उद्योगों में साधनों को ले जाना और (इ) मांग को आयातों की तरफ से घर में निर्मित माल की तरफ मोड़ देना।

द्वितीय किस्म का मोड़ भेदात्मक करारोपण (differential taxation) के मार्फत प्राप्त किया जाता है। उदाहरण के लिए, विलासिताओं पर कर लगाने से एवं पूंजीगत माल को छूट देने से इस किस्म का कुछ मोड़ अवश्य प्राप्त होगा। हम पिछले अनुच्छेद में पहले ही इस बात का विवेचन कर चुके हैं कि यही उद्देश्य किस प्रकार आय पर आरोही करारोपण और साथ में बचत पर आंशिक छूट की स्थिति में आगे बढ़ाया जा सकता है। मोड़ की तृतीय किस्म आयात-करों से उत्पन्न होती है। आयात-कर विकास-कार्यक्रम

के भंग के रूप में लगाये जा सकते हैं ताकि घरेलू उद्योगों (domestic industries) को अधिक विकसित विदेशी उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा मे प्रारम्भिक सहारा दिया जा सके। ये आयात की जाने वाली विलासिता की वस्तुओं के उपभोग को सीमित करने के लिए भी लगाये जा सकते हैं। ऐसा कराधान उसी सीमा तक प्रभावपूर्ण हो सकता है जहाँ तक कि विलासिता की वस्तुओं का घरेलू उत्पादन भी साथ में कम किया जाता है। अंत में, आयात-कर मुद्रा-स्फीति एवं भुगतान-सतुलन के सकट के समय मे भी लगाये जा सकते हैं ताकि आयातों को नियन्त्रित रखा जा सके और जनता से उसकी अतिरिक्त क्रय-शक्ति का एक अश लिया जा सके। लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि अन्य देशों के द्वारा लगाये जाने वाले प्रतिशोधात्मक आयात-कर भुगतान-संतुलन सम्बन्धी इन संकटों को दूर करने की इस विशेष विधि को प्रभावरहित कर देंगे।

जहां तक प्रथम किस्म के मोड़ का सम्बन्ध है राज्य को चाहिए कि वह अपनी तरफ साधनों का हस्तान्तरण इस तरह से करे कि कम से कम स्फीतिकारी अथवा अवांछनीय प्रभाव ही पड़े। इस हस्तान्तरण मे दो भिन्न भिन्न कार्य शामिल हैं। प्रथम तो राज्य के द्वारा क्रय शक्ति का प्राप्त किया जाना है और द्वितीय राज्य के द्वारा उत्पादन के साधनो का खरीदा जाना है जिससे क्रय शक्ति स्वत. निजी हाथों मे वापिस आ जाती है। प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि यदि पूर्ण रोजगार की दशाओं मे क्रय-शक्ति साख सृजन के जरिए प्राप्त की जाती है तो कुछ मुद्रास्फीतिकारी प्रभाव हो सकते हैं, लेकिन यदि ऐसा कराधान के जरिए किया जाता है तो इस तरह का कोई मुद्रास्फीतिकारी प्रभाव नहीं पड़ता है। यही कारण है कि कराधान उत्पादन के साधनों के पूर्ण रोजगार की स्थिति मे, सरकार की तरफ साधन हस्तान्तरित करने का साख सृजन की तुलना में साधारणतया ज्यादा अच्छा उपाय माना जाता है। लेकिन वस्तुओं पर परोक्ष रूप से कर लगाये जाने से अधिकांश दशाओं में कीमतों मे कुछ वृद्धि होती है। मूल्य वृद्धि की मात्रा और प्रभावित वस्तुएं क्रमशः इस बात पर निर्भर करती हैं कि सरकार ने कौन-सी वस्तुओं पर कर लगाया है और कौन-सी वस्तुएं खरीदी हैं। कुछ परिस्थितियों में परोक्ष कराधान की बड़े पैमाने पर होने वाली वृद्धि से कीमतों मे काफी बढ़ोतरी हो जाती है जिससे मजदूरी मे भी वृद्धि हो सकती है। यह परिणाम उस सीमा तक परोक्ष कराधान के प्रभावों को मिटा देता है जहां तक कि इसका लोगों की क्रय शक्ति मे कमी करने से सम्बन्ध होता है।

करों के अन्तिम आर्थिक प्रभाव केवल करों की प्रकृति पर ही निर्भर नहीं करते हैं, बल्कि वे इस बात पर भी निर्भर करते हैं कि क्या करों से प्राप्त आय खर्च की जायगी, और यदि खर्च की जायगी, तो किन दिशाओं में। नीचे के वर्णन में हमने यह मान लिया है कि संग्रह की गई सम्पूर्ण आय बिना विशेष विलम्ब के खर्च कर दी जाती है। साथ में यह भी मान लिया गया है कि श्रम और प्राकृतिक साधनों के अलावा अन्य समस्त साधन लगभग पूर्णरूप से काम में लिये जा रहे हैं। यह विश्लेषण, जहां कोई अन्य निर्देश नहीं है, विशुद्ध प्रतियोगिता की पृष्ठभूमि में ही किया जा रहा है।

परोक्ष कराधान के प्रभावों का विश्लेषण निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत सुविधापूर्वक किया जा सकता है : (अ) आय-प्रभाव (revenue effect); (आ) मोड़-प्रभाव (diversion effect); (इ) कीमत-प्रभाव (price effect); और (ई) वितरण-प्रभाव (distribution effect); (अ) आय या राजस्व प्रभाव **(Revenue effect):**—जब कर एक ऐसी वस्तु पर लगाया जाता है जिसका उत्पादन होता रहता है और जो बिकती जाती है तो सरकार के लिए आय का एक प्रवाह-सा बना रहता है। वास्तव से हम एक ऐसे कर की कल्पना कर सकते हैं जो सरकार को जरा भी आमदनी नहीं देता है, जैसे एक ऊंचा संरक्षात्मक कर। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि कर-प्रणाली मे कम-से-कम कुछ महत्त्वपूर्ण कर तो ऐसे अवश्य हों जो सरकार के लिए काफी आय जुटा सकें। ऐसी वस्तुओं पर कर होते हैं जिनकी माग की लोच (कीमत के सन्दर्भ मे) नीची होती है। विभिन्न वर्गों के लिए एक ही वस्तु की माँग की कीमत-लोच प्रायः काफी भिन्न होती है। एक व्यक्ति की आय के बढ़ने पर यह सम्भव है कि कुछ वस्तुओं के लिए उसकी मांग कम लोचदार हो जाय। जिन वस्तुओं की मांग की आय-लोच ऊंची होती है उन पर कर लगाने का यही औचित्य होता है क्योंकि आमदनी के बढ़ते जाने पर ऐसे करों से प्राप्त होने वाली आय मे अनुपात से अधिक बढ़ने की प्रवृत्ति होती है।

(आ) मोड़-प्रभाव (Diversion effect):— विशेष वस्तुओं पर कर लगने से सम्बन्धित उद्योगों से साधनों के मोड़ की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि मोड़ की मात्रा माँग व पूर्ति की सापेक्ष लोचों पर निर्भर करती है। माग अथवा पूर्ति जितनी ज्यादा बेलोच होती है कर के परिवर्तन मे उत्पन्न होने वाला मोड़ उतना ही कम होता है। लेकिन यह भी सम्भव है कि खर्च सम्बन्धी प्रभाव कर के प्रभावों में परिवर्तन उत्पन्न कर दें। कर से प्राप्त आय इस तरह से व्यय की जा सकती है ताकि उन वस्तुओं की

अतिरिक्त मांग उत्पन्न हो जाय जिनकी बिक्री कर की वृद्धि के कारण घट गई है। उदाहरणार्थ, यदि कर मजदूरी-वस्तुओं पर लगाये जाते हैं अथवा प्रचलित कर की दरो मे वृद्धि की जाती है और अतिरिक्त आय प्रमुखतया उस श्रम को काम पर लगाने में व्यय हो जाती है जिसको इस समय अल्प रोजगार मिला हुआ है तो यह सम्भव है कि मजदूरी-वस्तुओं की माग मे कोई विशुद्ध कमी न आवे। दूसरे शब्दो मे, कीमत के बढ़ने पर भी खरीदी गई वस्तु की कुल मात्रा स्थिर रह सकती है अथवा सम्भवत. कुछ बढ भी सकती है। मोड तो रोजगार के क्षेत्र में हुआ है।

यहां पर यह स्पष्ट करना होगा कि पूर्ति की लोच से हमारा ठीक आशय क्या है। जब किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो उत्पादन की सीमान्त लागत मे वृद्धि हो जाती है। प्रतिस्पर्द्धात्मक दशाओ मे कीमत में प्रत्यक्षरूप से वृद्धि नहीं की जा सकती है। इसी वजह से उत्पादको की प्रवृत्ति उत्पत्ति को घटाने की हो जाती है जिससे साधनो के लिए उनके द्वारा की जाने वाली मांग भी घट जाती है। इससे साधनो की आय मे गिरावट आ जाती है। जब साधनों के स्वामियों की प्रतिफल की दर इस तरह से घट जाती है तो वे साधनो की अपनी पूर्ति को घटा देते हैं और ऐसी स्थिति मे पूर्ति लोचदार मानी जा सकती है। वे ऐसा निम्न दशाओं मे कर सकते हैं (अ) यदि वे यह निश्चय करते हैं कि प्रतिफल की अपेक्षाकृत नीची दर पर पहले जितनी मात्रा में अपनी सेवाए या साधन उपलब्ध करना उचित नहीं है, अथवा (आ) यदि वे अपने साधनों के कुछ अश के लिए अन्य क्षेत्रों में प्रतिफल की अपेक्षाकृत ऊंची दर प्राप्त कर सकते हैं। हम यह निश्चितरूप से मान सकते हैं कि अधिकारा दशाओ मे केवल दूसरे कारण का ही महत्त्व होता है।

अब हमें यह देखना है कि वे कौन सी दशाएँ हैं जिनमे साधनों के स्वामी कर लगे हुए उद्योग की अपेक्षा अन्य उद्योगों मे प्रतिफल की अपेक्षाकृत ऊंची दर प्राप्त कर सकेंगे। वे अन्यत्र ऊँचा प्रतिफल तभी प्राप्त कर सकेंगे जब कि (अ) साधन विशिष्ट न हों और अन्य कई उद्योगों मे प्रयुक्त हो सकें, और (आ) बढा हुआ सरकारी ... अथवा उनके द्वारा उत्पन्न की जा सकने वाली ...
कोई ... कर सकें। यदि इनमे से ... क्षेत्र में ठहरना होगा और ... यह कह सकते हैं कि ... है। आगे के विवेचन मे ... मे पूर्ति देलोच

हो सकती है। लेकिन दीर्घकाल में चालू साधनों के समाप्त हो जाने पर अथवा उनको हटाने के लिए बदले में पर्याप्त साधन कर लगे हुए उद्योग में प्रवेश नहीं कर सकेंगे जिससे उस उद्योग में साधनों की कुल पूर्ति कम हो जायेगी। इस प्रकार दीर्घकाल में साधनों की पूर्ति कर लगे हुए उद्योग के लिए काफी लोचदार हो जायेगी।

अब हम विशेष वस्तुओं पर लगे हुए करों के मोड़-प्रभावों पर विचार करेंगे जो उनकी मांग व पूर्ति की लोचों के विभिन्न दशाओं की स्थिति में उत्पन्न होते हैं (यहां हम निरपेक्ष लोच और बेलोच को छोड़ देते हैं)।

(i) सापेक्षरूप से लोचदार पूर्ति और सापेक्षरूप से लोचदार मांग :—

चूंकि पूर्ति लोचदार है इसलिए उत्पत्ति पर रोक लग जाती है और कुछ साधन कर लगे हुए क्षेत्र को छोड़ देते हैं। इस स्थिति में साधनों के मोड़ का उद्देश्य अधिकतम सीमा तक प्राप्त हो जाता है। चूंकि मांग लोचदार है, इसलिए उपभोक्ता ऊँची कीमत पर इस वस्तु पर अपेक्षाकृत कम राशि व्यय करते हैं। इससे वे अन्य वस्तुओं पर अधिक व्यय करने में और/अथवा (अधिक) बचाने में समर्थ हो जाते हैं। अन्य वस्तुओं पर अधिक खर्च हो जाने से कुछ साधन अन्य निजी क्षेत्रों की तरफ चले जाते हैं।

(ii) सापेक्ष रूप से लोचदार पूर्ति और सापेक्ष रूप से बेलोच मांग :—

इन दशाओं में कर लगे हुए उद्योग से मोड़ उतनी बड़ी मात्रा में नहीं होता है जितनी में कि यह प्रथम स्थिति में होता है। उपभोक्ता इस वस्तु पर अपेक्षाकृत ऊँची कीमत पर पहले से अधिक व्यय करेंगे और इसीलिए उन्हें अन्यत्र बचत या व्यय में कटौती करनी होगी। इसलिए अधिकांश मोड़ अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में होता है।

(iii) सापेक्ष रूप से बेलोच पूर्ति और सापेक्ष रूप से लोचदार मांग—

इन दशाओं में, तुलनात्मक लोचों को उलट देने पर, कर लगे हुए उद्योग से मोड़ लगभग पिछले जितना ही होता है। कीमत में कुछ वृद्धि हो जाती है और उपभोक्ता इस वस्तु पर कम और अन्य वस्तुओं पर अधिक खर्च करते हैं। इस दशा में जो कर प्राप्त होता है वह साधनों की आय में से कटौती के रूप में ज्यादा होता है, बनिस्बत कीमत में वृद्धि के रूप में। इस बात से भी साधनों का मोड़ होने लगता है। चूंकि हमने यह मान लिया है कि पूर्ति पूर्णतया बेलोच नहीं है, इसलिए मांग की लोच की मात्रा से कुछ

प्रतर प्रवश्य पड़ेगा। लोचदार माँग की स्थिति मे उपभोक्ताओं के पास अन्य वस्तुओं पर व्यय करने के लिए अधिक राशि रहेगी और बेलोच मांग की स्थिति में यह कम हो जायेगी।

(iv) सापेक्ष रूप से बेलोच पूर्ति और सापेक्ष रूप से बेलोच माँग:—

चारों परिस्थितियों मे से केवल इसी परिस्थिति मे उत्पत्ति की कमी सबसे कम होगी। यद्यपि माँग बेलोच है फिर भी कीमत की वृद्धि अत्यधिक नहीं होगी क्योंकि पूर्ति भी बेलोच है और साधनो के स्वामियो को अपनी आमदनी मे कटौती स्वीकार करनी होगी। उपभोक्ता अन्य वस्तुओं पर थोड़ा कम खर्च करेंगे। यहाँ भी साधनों का मोड़ अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों मे ही उत्पन्न होगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अल्पकाल मे कर की एक दी हुई वृद्धि से एक विशेष उद्योग मे उत्पत्ति मे सबसे कम गिरावट तभी आती है जब कि मांग व पूर्ति दोनो बेलोच होती हैं। अतः यह एक ऐसी स्थिति है जिसमे सरकार को तो सबसे अधिक आमदनी प्राप्त होती है लेकिन कर लगे हुए उद्योग से मोड़ न्यूनतम होता है। जब माँग व पूर्ति दोनों लोचदार होती हैं तो उत्पन्न मोड़ सबसे अधिक होता है, लेकिन आमदनी (राजस्व की आय) सबसे कम होती है। दीर्घकाल मे पूर्ति लोचदार होती है क्योंकि साधनो की विशिष्टता तो अनिवार्यतः एक अल्पकालीन विषय ही है। अतएव दीर्घकाल मे (i) और (ii) परिस्थितियों का ज्यादा महत्त्व हुआ करता है। इन परिस्थितियों में हम देखते हैं कि जब माग लोचदार होती है तो अधिकांश मोड़ कर लगे हुए उद्योग से उत्पन्न होता है; और जब माँग बेलोच होती है तो अधिकांश मोड अन्य उद्योगो से उत्पन्न होता है। इसके अलावा दूसरी दशा में वस्तु-कर से उत्पन्न होने वाला राजस्व पहली दशा की तुलना मे अधिक होता है।

(द) कीमत-प्रभाव (Price Effect)—यह स्मरण रखना होगा कि सरकार की वास्तव में रुचि इस बात में होती है कि कुछ साधन सार्वजनिक क्षेत्र मे अथवा निजी विनियोग के क्षेत्र में हस्तान्तरित किये जाँय। इन साधनों में विशेषतया मध्यवर्ती वस्तुओं की विभिन्न किस्में और श्रम—दक्ष और अदक्ष—दोनों शामिल होते हैं। हमे इस बात की जाँच करनी है कि विभिन्न मान्यताओं के अन्तर्गत हस्तान्तरण की प्रक्रिया कीमत-स्तर को कैसे प्रभावित करती है।

जब एक वस्तु पर अधिक कर लगाया जाता है जो समस्त वस्तुओं पर लगे हुए कर के बराबर नहीं होता है, तो इसकी उत्पत्ति में घटने की प्रवृत्ति होती है (ऐसा केवल उस समय नहीं होता है जब कि व्यय का परिवर्तन इस प्रभाव को मिटा देता है)। उत्पत्ति में होने वाली कमी किस सीमा तक इसकी कीमत को बढ़ायेगी अथवा इस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए साधनों की आमदनी को कम करेगी, यह उस वस्तु की माँग व पूर्ति की सापेक्ष लोचों पर निर्भर करेगा। हम मान लेते हैं कि माँग की लोच इकाई के बराबर है और हम पूर्ति-पक्ष की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। यदि उत्पादन के साधन गतिशील होते हैं और कुछ अन्य वस्तुओं के उत्पन्न करने में प्रयुक्त किये जा सकते हैं जिन पर कर के परिवर्तनों का कम प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो साधनों की कुछ इकाइयाँ इन वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले उद्योगों में चली जायेंगी और उनकी पूर्ति में वृद्धि हो जायेगी। उनकी कीमतों में गिरावट आयेगी और सम्बन्धित साधनों की कीमतें भी घटेंगी। इसके विपरीत कर लगी हुई वस्तु की क़ीमत में वृद्धि होगी। जिन उद्योगों में साधन प्रयुक्त किये जा सकते हैं उनकी संख्या जितनी अधिक होगी उनकी आय में उतनी ही कम गिरावट आयेगी और कर लगी हुई वस्तु की कीमत में उतनी ही अधिक वृद्धि होगी। इसके विपरीत, कर के अन्तर्गत वस्तुओं की संख्या जितनी अधिक होगी, साधनों की आमदनी में उतनी ही अधिक गिरावट आने की सम्भावना होगी, और कर लगी हुई वस्तुओं की कीमतों में उतनी ही कम वृद्धि होगी।

ये परिणाम तो उस स्थिति में आते हैं जब कि हम यह मान लेते हैं कि कर की आय खर्च नहीं की जाती है। लेकिन हमारी सामान्य मान्यता यह है कि कर की सम्पूर्ण आय खर्च कर दी जाती है। यदि सार्वजनिक व्यय से कर लगे हुए उद्योग में प्रयुक्त होने वाले साधनों के लिए कुछ माँग उत्पन्न होती है, अथवा इन साधनों की सहायता से उत्पन्न हो सकने वाली वस्तुओं के लिए माँग उत्पन्न होती है तो साधनों की आय एवं इन साधनों के द्वारा उत्पन्न होने वाली वैकल्पिक वस्तुओं की कीमतों में होने वाली गिरावट कुछ सीमा तक रुक जाती है। अतः कर लगी हुई वस्तु की कीमत में होने वाली वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक होती है। जब सम्बन्धित साधन पूर्णतया विशिष्ट होते है और सरकारी खर्च उनके लिए कोई माँग उत्पन्न नहीं करता है तो समायोजन (adjustment) केवल साधनों की आय में होने वाली गिरावट के रूप में ही हो पाता है। यह स्थिति पूर्ति की पूर्ण बेलोच की है जो हमने अव्यवहारिक कारणों से छोड़ दी है। उन सब परिस्थितियों में जहाँ पूर्ति में पूर्ण

कीमतों को भी प्रभावित कर सकती है। तम्बाकू के अलावा कई अनिवार्य वस्तुओं जैसे नमक, चीनी, मिट्टी का तेल, सूती वस्त्र, आदि पर भी कर लगाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में एक साधारण उपभोक्ता को इस बात से सन्तुष्टि नहीं होती है कि आखिर सिनेमा व पत्रिकाओं के भाव तो गिर गये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी सामने आती है कि विशेष वस्तुओं पर लगने वाले करों से अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में हलचल उत्पन्न हो जाती है। यदि मूल्य-वृद्धि और हलचल को न्यूनतम रखना है तो आवश्यकता पड़ने पर उन उद्योगों पर अतिरिक्त कर लगाये जा सकते हैं जो सार्वजनिक क्षेत्र में काम आने वाले सीमित साधनों के लिए प्रतियोगी होते हैं। जब सार्वजनिक विनियोग में वृद्धि करनी होती है और इसकी वित्तीय व्यवस्था बढ़े हुए वस्तु-कराधान के माध्यम से की जाती है तो एक नये कर के चुनाव का आधार मुख्यतया माँग की बेलोच या अंश न होकर उत्पादन के साधनों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के साथ प्रतियोगिता का अंश होना चाहिए। बेलोच माँग वाली वस्तुएँ कराधान की दृष्टि से काफी पसंद की जाती हैं क्योंकि इन वस्तुओं पर लगाये जाने वाले करों से सरकार को सापेक्ष रूप से अधिक मौद्रिक आय प्राप्त होती है। यह तो सच है कि, अन्य बातों के समान रहने पर, बेलोच माँग वाली वस्तु पर एक दी हुई दर से कर लगाने पर निजी आय में उस स्थिति की अपेक्षा अधिक कमी आती है जबकि यह कर सापेक्ष रूप से लोचदार मांग वाली वस्तु पर लगाया जाता है। अतः यदि मुद्रा-स्फीति के विरुद्ध में कदम उठाना है तो बेलोच माँग वाली वस्तुओं पर कर लगाना ज्यादा उचित होगा। लेकिन यदि प्राथमिक उद्देश्य विनियोग के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की तरफ साधनों का हस्तान्तरण करना है तो उन उद्योगों पर कर लगाना ज्यादा उचित होगा जो उन्हीं साधनों के लिए प्रतिस्पर्द्धी हैं। यदि उद्योगों के समक्ष माँग सापेक्ष रूप से लोचदार होती है तो सरकार साधनों को अपेक्षाकृत नीची कीमतों पर प्राप्त करने में समर्थ हो जायगी, बनिस्बत उस स्थिति के जबकि साधनों का कर-प्रेरित (tax-induced) हस्तान्तरण नहीं होता है। अतः अतिरिक्त कराधान के लिए वस्तुओं के चुनाव में यह आवश्यक नहीं है कि माँग की लोच का अंश एक निर्णायक तत्व हो।

अब हम एक सामान्य कर के मूल्य-प्रभावों पर आते हैं। हाल के वर्षों में सामान्य बिक्री कर के भार वहन करने एवं इसके प्रभावों की सही प्रकृति के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में कुछ विवाद व अनिश्चितता-सी रही है। विशेष

है तो समस्त साधनों की आय में आनुपातिक कमी आ जाती है। वस्तु-मिश्रण (product mix) के सम्बन्ध में समान कर तटस्थ होगा। रोल्फ का निष्कर्ष इस प्रकार है: 'पिछले विवेचन में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि एक पूर्णतया सामान्य किस्म की उत्पादन-करों की एक-सी व्यवस्था में उपभोक्ताओं के लिए कीमतें नहीं बढ़ती हैं, इससे उत्पत्ति की बनावट में परिवर्तन नहीं होता है और यह व्यवस्था साधनों के स्वामियों की मौद्रिक आय में आनुपातिक कमी उत्पन्न करती है।'[4]

रोल्फ अपने विश्लेषण में कर की अतिरिक्त आय को व्यय करने से उत्पन्न होने वाले प्रभावों को शामिल नहीं करता है। चूंकि हमने यह मान लिया है कि कर की आय खर्च की जाती है तो हमें कर व व्यय के कार्यक्रम पर सम्पूर्णरूप से विचार करना होगा। इस कार्यक्रम का अन्तिम परिणाम उन मान्यताओं पर निर्भर करेगा जो हम समग्र मौद्रिक मांग के स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव के सम्बन्ध में स्वीकार करते हैं। अतः हम सामान्य बिक्री कर के मूल्य-प्रभावों का विवेचन मौद्रिक मांग के स्तर से सम्बन्धित विभिन्न मान्यताओं के अन्तर्गत करेंगे।

समग्र मांग पर पड़ने वाला वास्तविक प्रभाव निम्न बातों पर निर्भर करता है : (अ) कर के परिणामस्वरूप निजी उपभोग और विनियोग किस सीमा तक कम होते हैं, (आ) कर से प्राप्त आय के प्रयोग का विस्तार की तरफ ले जाने वाला प्रभाव, और (इ) चालू मौद्रिक नीतियाँ[5] यह मान लेने पर कि मुद्रास्फीतिकारी और मुद्रा-अपस्फीतिकारी दशाओं में से कोई भी व प्रधान नहीं है, हम यह पता लगा सकते हैं कि कब और किन परिस्थितियों में समग्र मौद्रिक मांग स्थिर रहेगी और यह कब बदलेगी।

विशुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक सामान्य कर का अथवा उसमें होने वाली वृद्धि का प्रारम्भिक प्रभाव समस्त साधनों की आय में कमी करना होता है। हम यह मान लेते हैं कि वस्तुओं की कुल निजी मांग में साधनों की आय में होने वाली कमी के बराबर ही कमी हो जाती है। अब यदि कर की

4. अर्ल रोल्फ, पूर्वउद्धृत, पृ० 116.

5. cf. John F. Due, 'Toward a General Theory of Sales Tax Incidence', Quarterly Journal of Economics, Vol. LXVII, No. 2, P.258.

आय बंद हो जाती है तो वस्तुओं की कीमतों मे गिरावट की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।[1] इस प्रकार एक मुद्रा-अपस्फीतिकारी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में समग्र मौद्रिक माग में गिरावट आ जाती है।

इसके विपरीत, यदि संयोगवश सरकार प्रत्यक्ष रूप से और बिना देरी के उन्हीं वस्तुओं को उसी मात्रा में खरीदती है जिनको साधनों के स्वामियों ने अपनी आय में होने वाली गिरावट के कारण खरीदना बंद कर दिया है तो मूल्य-स्तर अपरिवर्तित बना रहेगा। इस स्थिति में समग्र मौद्रिक मांग उतनी ही रहेगी जितनी कि पहले थी और वस्तु-मिश्रण अथवा उत्पत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। फर्मों की तरफ होने वाला द्रव्य का प्रवाह तो स्थिर रहेगा लेकिन इसका एक अंश सरकार के द्वारा ले लिया जायेगा। फलस्वरूप साधनों की आय उनके कर के पूर्व के स्तर तक नहीं आ सकेगी। केवल इस अत्यन्त विशिष्ट स्थिति में ही, जो ऊपरवर्णित समस्त मान्यताओं पर निर्भर करती है, समग्र मौद्रिक मांग और मूल्य-स्तर स्थिर रहेंगे।

यह भी काफी सम्भव है कि सरकार बढ़ी हुई कर की आय से उन उपभोग्य वस्तुओं को नहीं खरीदेगी जिनकी निजी मांग कर के परिवर्तन से कम हो गई है। विकास सम्बन्धी कार्यों के लिए तो यह ज्यादातर उत्पादन के साधनों की ही अपनी खरीद में वृद्धि करना चाहेगी। जहां तक कर की आय इस तरह से व्यय की जाती है वहां तक सरकार अर्थव्यवस्था में साधनों की मांग में प्रत्यक्षतया वृद्धि करती है। निजी फर्मों के लिए साधनों के मूल्य नहीं गिरते हैं (अथवा यदि वे शुरू में गिरते हैं तो अब बढ़ जाते हैं), और साधनों की आय अपने कर से पूर्व के स्तरों के अन्दर ही बनी रहती है (अथवा उन तक पहुँच जाती है)। इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह ध्यान देने की है कि सरकार की तरफ से होने वाली साधनों की मांग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में उनके मूल्यों की उस गिरावट को रोकती है जो कर की वृद्धि से अन्यथा उत्पन्न हो जाती। परिणाम यह होगा कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ेंगी। इस स्थिति में समग्र मौद्रिक मांग में वृद्धि हो जाती है क्योंकि साधनों के स्वामी कर के पहले जितनी राशि ही खर्च करने की स्थिति में होते हैं और, इसके अतिरिक्त, सरकार भी अपनी कर की आय खर्च कर रही है।

---

1. रोकड़ साधनों की आय में होने वाली गिरावट के प्रभावों को बदलने से इनकार रहा है।

है तो समस्त साधनों की आय में आनुपातिक कमी आ जाती है। वस्तु-मिश्रण (product mix) के सम्बन्ध में समान कर तटस्थ होगा। रोल्फ का निष्कर्ष इस प्रकार है: 'पिछले विवेचन में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि एक पूर्णतया सामान्य विक्रय की उत्पादन-करों की एक-सी व्यवस्था में उपभोक्ताओं के लिए कीमतें नहीं बढ़ती हैं, इससे उत्पत्ति की बनावट में परिवर्तन नहीं होता है और यह व्यवस्था साधनों के स्वामियों की मौद्रिक आय में आनुपातिक कमी उत्पन्न करती है।'[4]

रोल्फ अपने विश्लेषण में कर की अतिरिक्त आय को व्यय करने से उत्पन्न होने वाले प्रभावों में शामिल नहीं करता है। चूँकि हमने यह मान लिया है कि कर की आय खर्च की जाती है तो हमें कर व व्यय के कार्यक्रम पर सम्पूर्णरूप से विचार करना होगा। इस कार्यक्रम का अन्तिम परिणाम उन मान्यताओं पर निर्भर करेगा जो हम समग्र मौद्रिक मांग के स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव के सम्बन्ध मे स्वीकार करते हैं। अतः हम सामान्य बिक्री कर के मूल्य-प्रभावों का विवेचन मौद्रिक मांग के स्तर से सम्बन्धित विभिन्न मान्यताओं के अन्तर्गत करेंगे।

समग्र मांग पर पड़ने वाला वास्तविक प्रभाव निम्न बातों पर निर्भर करता है: (अ) कर के परिणामस्वरूप निजी उपभोग और विनियोग किस सीमा तक कम होते हैं, (आ) कर से प्राप्त आय के प्रयोग का विस्तार की तरफ ले जाने वाला प्रभाव, और (इ) चालू मौद्रिक नीतियाँ[5] यह मान लेने पर कि मुद्रास्फीतिकारी और मुद्रा-अपस्फीतिकारी दशाओं में से कोई भी व समान नहीं है, हम यह पता लगा सकते हैं कि कब और किन परिस्थितियों मे समग्र मौद्रिक मांग स्थिर रहेगी और यह कब बदलेगी।

विशुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक सामान्य कर का अथवा उसमें होने वाली वृद्धि का प्रारम्भिक प्रभाव समस्त साधनों की आय मे कमी करना होता है। हम यह मान लेते हैं कि वस्तुओं की कुल निजी मांग में साधनों की आय में होने वाली कमी के बराबर ही कमी हो जाती है। अब यदि कर की

4. अर्ल रोल्फ, पूर्वउद्धृत, पृ० 116.

5. cf. John F. Due, 'Toward a General Theory of Sales Tax Incidence', Quarterly Journal of Economics, Vol. LXVII, No. 2, P.258.

उत्पादन के साधनों में कुछ बेकारी उत्पन्न हो जाती है। लेकिन इस तरह से जो साधन निजी उद्योगों से हटा दिये जाते हैं वे कर की आय के व्यय किये जाने पर सार्वजनिक क्षेत्र में लग सकते हैं। इस प्रकार अंतिम परिणाम तो अपूर्ण प्रतियोगिता में भी वही होता है, जो पूर्ण प्रतियोगिता मे होता है, सिवाय इसके कि कर के एक अंश को अतिरिक्त लाभ मे शामिल किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्थिर समग्र मौद्रिक मांग की स्थिति काफी विशिष्ट ढंग की होती है। अधिक प्रचलित और वास्तविक स्थिति तो यह है कि बढ़ी हुई समग्र मौद्रिक माँग साधनों की समग्र वास्तविक मांग के साथ या तो स्थिर रहती है अथवा अपेक्षाकृत ऊँची भी रह सकती है। इसलिए यह परम्परागत निष्कर्ष काफी सही जान पड़ता है कि सामान्य बिक्री कर के लागू होने से कीमतों मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, इसी तरह की परिस्थितियों में आयकर की आमदनी से सार्वजनिक व्यय मे होने वाली बढ़ोतरी से सामान्य मूल्य-स्तर मे वैसी ही वृद्धि होने की सम्भावना नहीं होती है। जिस सीमा तक साधनों की निजी मांग उतनी नहीं घटती है जितनी कि सरकारी मांग बढ़ती है वहां तक तो कुछ विस्तारशील प्रभाव अवश्य पड़ेगा। लेकिन आयकर के मामले मे तो साधनों की आय का एक अंश प्रत्यक्ष रूप में ही ले लिया जाता है और इसके लिए उपभोक्ताओं के द्वारा दी जाने वाली कीमतों और उत्पादकों के द्वारा प्राप्त की जाने वाली आय में कोई मेल बैठाने की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए सामान्य मूल्य-स्तर मे सामान्य बिक्री कर की भांति वृद्धि की आशा न करना ही उचित होगा।[1]

सामान्य बिक्री कर के प्रभाव के सम्बन्ध में उपर्युक्त निष्कर्ष एक सीमा तक ही सही माना जा सकता है। मूल्य-स्तर पर जो और प्रभाव पड़ते हैं उनकी जाँच करना भी लाभप्रद होगा। पिछले तर्क मे कर की आय का व्यय साधनों की माँग व इनके मूल्यों को प्रारम्भिक स्तर पर पुनः स्थापित करने की दृष्टि से किया गया था। साधनों के लिए समग्र वास्तविक मांग उतनी ही रहेगी जितनी कि यह कर से पूर्व थी, जब कि निजी मांग कम होगी और सरकारी मांग अपेक्षाकृत अधिक होगी। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या अतिरिक्त

1. ऐसे ही निष्कर्ष के लिए देखिए—Richard Goode, 'Anti-inflationary Implications of Alternative Forms of Taxation', Papers and Proceedings of the American Economic Association, May 1952, P. 157.

जब एक बार वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लग जाती हैं तो विभिन्न वस्तुओं की मांग की लोच का महत्व हो जाता है। बेलोच मांग वाली वस्तुओं की कीमतें लोचदार मांगवाली वस्तुओं की कीमतों की अपेक्षा ज्यादा बढ़ती हैं। जब कीमतें बढ़ती हैं तो उपभोक्ता प्रथम श्रेणी की वस्तुओं पर पहले से ज्यादा द्रव्य खर्च करते हैं और दूसरी श्रेणी की वस्तुओं पर कम करते हैं। यह आशा करना उचित होगा कि अनिवार्यताओं की कीमतें, जिन पर अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण अथवा अधिकांश मजदूरी व्यय की जाती है, सामान्य मूल्य-स्तर की वृद्धि की तुलना में ज्यादा बढ़ती हैं।

कीमत-स्तर एवं समग्र मौद्रिक मांग की वृद्धि से अनिवार्यतः इस बात की आवश्यकता हो जायगी कि द्रव्य की पूर्ति (MV) में वृद्धि की जाय। यदि हम द्रव्य की पूर्ति को लोचदार मान लेते हैं, तो आवश्यकता के मुताबिक M में सुगमतापूर्वक वृद्धि की जा सकती है। और सरकार के इस कार्य से मुद्रा के प्रचलन-वेग में वृद्धि हो सकती है कि यह उपभोक्ताओं के व्यय में से कर की राशि लेती है और साधनों को चुकाने से पूर्व इसे दूसरी बार खर्च कर देती है। अतः जब तक प्रतिबन्धात्मक मौद्रिक नीतियों का पालन नहीं किया जाता तब तक अर्थव्यवस्था में द्रव्य की पूर्ति में इतनी वृद्धि होती रहेगी जो कीमतों में वृद्धि कर सकने की दृष्टि से आवश्यक होगी।

पहले की कुछ मान्यताओं को अब शिथिल किया जा सकता है। एक मान्यता तो यह थी कि निजी मांग में कर की पूरी राशि के बराबर गिरावट आयेगी। ऐसा उस स्थिति में नहीं होगा जब कि कर का एक अंश बचत में कमी करके प्राप्त किया जाता है और साथ में विनियोग में कमी नहीं की जाती है। इस स्थिति में कर का अपेक्षाकृत अधिक विस्तारशील प्रभाव होगा। दूसरी मान्यता यह थी कि समस्त साधनों के मूल्य लोचदार होते हैं। वास्तव में इनमें से अनेक यथास्थिर रहते हैं। जिस सीमा तक कुछ साधनों के मूल्य स्थिर रहते हैं और नीचे नहीं लाये जा सकते हैं वहां तक उनके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों में कर की आय के व्यय करने के बावजूद अथवा इसके पूर्व भी बढ़ने की ही प्रवृत्ति पाई जाती है। विशुद्ध प्रतियोगिता की मान्यता को छोड़ देने पर भी वही परिणाम निकलता है जैसा कि प्रोफेसर ड्यू ने बतलाया है,[1] अल्पविक्रेताधिकार की दशाओं में कर के लागू होते ही फर्में मूल्यों में प्रत्यक्षरूप से वृद्धि कर सकती हैं और कर भी देती हैं। इससे

1. जोन एफ० ड्यू, पूर्वउद्धृत ग्रन्थ, पृ० 257.

किये गये हैं। इसका अर्थ यह है कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में समूह (इ) के सबसे बड़े होने की सम्भावना होती है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसी काफी विकसित अर्थव्यवस्था में तो स्पष्टतया यह स्थिति देखने को नहीं मिलती है जहां केवल लगभग 10 प्रतिशत परिवारों को ही 1000 एव इससे कम वार्षिक आय प्राप्त होती है।

समस्त उपभोग्य वस्तुओं की कीमतो मे वृद्धि होने पर समूह (अ), यदि चाहे तो, अपने पहले वाले उपभोग के स्तर को कायम रख सकता है लेकिन इसके लिए बचत मे कटौती करनी होगी। व्यवहार मे सम्भवतः इसे आंशिक रूप से विलासिताओं व गैर-आवश्यक वस्तुओं के उपभोग मे कमी करनी पड़ सकती है। समूह (आ) को भी अपने उपभोग मे कमी करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, लेकिन फिर भी यह सम्भवतः इतना न्यूनतम उपभोग कर सके जो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हो। लेकिन समूह (इ) जीवन-निर्वाह व कार्यकुशलता के लिए आवश्यक होने वाले न्यूनतम उपभोग को भी कायम नहीं रख सकेगा। अतः उपभोग्य वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने पर समूह (अ) और (आ) के लिए मजदूरी व वेतन की वृद्धि पर जोर देने की प्रेरणा अपेक्षाकृत कम होती है। उनको वास्तविक मजदूरी में कटौती स्वीकार करने के लिए तैयार करना सम्भव होता है क्योंकि पहले वे जीवन-निर्वाह स्तर से ऊपर थे। लेकिन (इ) समूह के जो सदस्य मजदूरी पर श्रम करते हैं अथवा किसी तरह के औद्योगिक रोजगार में लगे हुए हैं उनकी नकद मजदूरी में अवश्य वृद्धि होनी चाहिए। तभी वे जीवन-निर्वाह व कार्यकुशलता के लिए आवश्यक न्यूनतम उपभोग को बनाये रख सकेंगे। ऐसा होने पर नकद मजदूरी बढती है जिससे कीमतों में और भी वृद्धि होती है। सम्भव है कि इससे निजी मांग कराधान से पूर्व के अपने प्रारम्भिक स्तर पर पुनः स्थापित हो जाय।

अर्थशास्त्रियों के द्वारा यह सहज में ही स्वीकार कर लिया जाता है कि सर्वसाधारण के उपभोग पर बढ़ने वाले कराधान से जीवन-व्यय मे वृद्धि होती है जिससे मजदूरी को बढ़ाने की मांग उत्पन्न हो सकती है।[1] लेकिन कभी-कभी यह मत प्रगट किया जाता है कि ऐसी सम्भावना केवल विकसित अर्थव्यवस्थाओं में ही सुदृढ़ होती है जहाँ श्रमिक शक्तिशाली संघों में संगठित होते हैं। एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में प्रायः यह तर्क दिया

1. उदाहरण के लिए देखिए, **Agricultural Taxation and Economic Development**, ed., Haskell P. Wald, Harvard Law School, Cambridge, Massachusetts, 1954, P. 94.

सरकारी मांग उन्हीं साधनों के लिए होगी जो निजी मांग में होने वाली कमी से मुक्त हुए हैं ? यदि ऐसा नहीं होता है तो मूल्यों की वृद्धि कम-से-कम अल्पकाल में तो अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में ही केन्द्रित हो जायेगी । उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि अतिरिक्त बिक्री करारोपण के जरिए सार्वजनिक विनियोग में वृद्धि करने का निश्चय किया जाता है और अतिरिक्त आय का उपयोग ऐसी विकास-परियोजना में पूंजी लगाने के लिए किया जाता है जिसमें लगाये गये अन्य साधनों से श्रम का अनुपात काफी ऊँचा है । ऐसी स्थिति में यदि उन उद्योगों में (जिनके माल की निजी मांग घट जाती है) अन्य साधनों के मुकाबले श्रम का वही ऊँचा अनुपात प्रयुक्त नहीं होता है तो अर्थ-व्यवस्था में मजदूरी-वस्तुओं की मांग में विशुद्ध रूप से वृद्धि हो जाती है । इसका कारण यह है कि सरकार के द्वारा काम पर लगाये गये अतिरिक्त श्रम की मात्रा निजी उद्योगों से हटाये जाने वाले श्रम की मात्रा से अधिक होती है ।[1] इस स्थिति में मजदूरी-पदार्थों की कीमत में सामान्य मूल्य-स्तर की अपेक्षा ज्यादा वृद्धि होती है । अल्पविकसित व जनाधिक्य वाले देशों में जहाँ विकास-परियोजनाएँ प्रायः रोजगारोन्मुख (employment-oriented) होती हैं, यह बात बहुत महत्त्व रखती है ।

अब हम सामान्य मूल्य-स्तर में होने वाली वृद्धि से उपभोक्ताओं के विभिन्न वर्गों पर होने वाली प्रतिक्रियाओं पर विचार करेंगे । एक गरीब देश में बहुत सी उपभोग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो जीवन-निर्वाह और कार्य-कुशलता की दृष्टि से आवश्यक होती हैं । हमारे वर्तमान उद्देश्यों के लिए अल्पविकसित देश के उपभोक्ताओं को तीन समूहों में बाँटा जा सकता है : (अ) वे उपभोक्ता जो जीवन-निर्वाह और कार्यकुशलता के लिए आवश्यक न्यूनतम मात्रा से अधिक उपभोग करते हैं और कुछ बचाते भी हैं; (आ) जो उपर्युक्त न्यूनतम से अधिक उपभोग तो करते हैं लेकिन बचाते नहीं हैं; और (इ) वे उपभोक्ता जिनकी आय केवल इतनी सी होती है कि वे लगभग न्यूनतम मात्रा का ही उपभोग कर पाते हैं । कुछ समय के लिए हम उन छिपे हुए बेकारों पर भी ध्यान नहीं देते हैं जो उस राशि से भी कम उपभोग कर रहे हैं जिसकी आवश्यकता एक नियमित व सतत रूप से चलने वाले कार्य के लिए हुआ करती है । ये तीनों समूह यहां अपने सापेक्ष आकारों के उल्टे क्रम में सूचीबद्ध

1. यह भी मान लिया गया है कि कुछ श्रम छिपी हुई बेकारी के समूह से आयगा ।

लेकिन हम सर्वसाधारण के काम आनेवाली वस्तुओं के करों में होने वाली अत्यधिक वृद्धि के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करना चाहते हैं। ये कर विकास के महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम की वित्तीय व्यवस्था के लिए लगाये जाते हैं। बाहर से आने वाले विशेषज्ञ प्रायः अल्पविकसित देशों के लिए कर की आय में वृद्धि की सिफारिश किया करते हैं। लेकिन यह कभी स्पष्ट नहीं किया जाता है कि यह वृद्धि इस तरह से की जानी चाहिए जिससे कि मूल्य-स्तर में होने वाली बढ़ोतरी रुक सके अथवा कम-से-कम न्यूनतम तो की जा सके। चूंकि प्रत्यक्ष करारोपण के विस्तार में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं, इसलिए एक अल्पविकसित देश में सरकार सर्वसाधारण के उपभोग पर करारोपण को फैलाने के लिए तीव्र रूप से लालायित रहती है। सम्भावित मुद्रा-स्फीतिकारी प्रभावों का विवेचन तो लगभग घाटे की वित्त-व्यवस्था तक ही सीमित रखा जाता है। यह अस्पष्ट अथवा स्पष्ट रूप से मान लिया जाता है कि जब तक बढ़े हुए खर्च की पूर्ति बढ़े हुए करारोपण से हो जाती है तब तक कोई मुद्रा-स्फीतिकारी प्रभाव उत्पन्न नहीं होते। लेकिन वास्तव में सभी परिस्थितियों में यह सही नहीं निकलता है।

हाल ही के वर्षों में सामान्य बिक्री-कर ने विकसित अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय के रूप में लोकप्रियता प्राप्त करली है। यदि नकद मजदूरी को बढ़ने से रोका जा सका तो बढ़ा हुआ बिक्री-करारोपण निश्चित रूप से क्रय शक्ति को घटा देगा और व्यय को कम कर देगा। और जहाँ जनसंख्या के विशाल समूह का जीवन-स्तर केवल निर्वाह-स्तर से ऊपर होता है वहाँ कम से कम सैद्धान्तिक रूप से तो जनता को उपभोग में कटौती स्वीकार करने के लिए तैयार करना सम्भव हो सकता। लेकिन जहाँ जनसंख्या का अधिकांश भाग अथवा एक बड़ा भाग भी जीवन-निर्वाह की सीमा पर रहता है, वहाँ सामान्य बिक्री कर के मुद्रास्फीति विरोधी उपाय के रूप में उतने ही प्रभावपूर्ण होने की सम्भावना नहीं होती है।

(६) वितरण-प्रभाव (Distribution Effect) :—हम अंत में वस्तु करारोपण के वितरण-प्रभाव पर आते हैं। एक साधारण नागरिक की भाँति अर्थशास्त्री भी करारोपण के वितरणकारी प्रभावों में काफी समय से रुचि लेते रहे हैं। परम्परा से यह माना गया है कि ये प्रभाव कर के विशेष उपायों के भार को सहन करने पर निर्भर करते हैं। करवाहाता का आशय करों के उस 'भार' (वास्तविक या मौद्रिक) से लगाया गया है जो विभिन्न व्यक्तियों या आय-समूहों पर पड़ता है। इसी वजह से अर्थशास्त्री करवाहाता-विश्लेषण

जाता है कि इसमें श्रम का एक छोटा अंश ही संगठित होता है और उसी की मोलभाव करने की शक्ति होती है, इसलिए वास्तविक मजदूरी की कटौती को श्रमिकों के विशाल भाग पर लागू करना अधिक सुगम होता है। उपर्युक्त विश्लेषण की रोशनी में इस तरह का तर्क भ्रमात्मक प्रतीत होता है। जो लोग जीवन-निर्वाह की सीमा पर रहते हैं उनकी मोलभाव करने की शक्ति एक अलग किस्म की होती है! यह तो सब जानते ही हैं कि भारत जैसे देश में श्रम-शक्ति का एक बड़ा भाग जीवन-निर्वाह की सीमा पर गुजर-बसर करता है। इसके अन्तर्गत खेतों के भूमिहीन श्रमिक, सभी किस्म के अर्द्ध-कुशल एवं शारीरिक श्रमिक और स्वय के रोजगार में लगे हुए व्यक्ति जैसे दस्तकार आदि आते हैं। अधिकांश गैर-खेतिहर श्रमिक शहरी व अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में काम मे लगे हुए होते हैं। लेकिन उनमें से बहुत से गाँवों में रहते हैं और नगरों में काम करने के लिए जाते हैं। इन परिस्थितियों में नगरों में जीवन-निर्वाह मजदूरी पर श्रम की पूर्ति प्रायः बहुत ही लोचदार होती है। यदि जीवन-निर्वाह से कम मजदूरी दी जाती है तो श्रमिक काम को स्वीकार नहीं करता है और गाँव को लौट जाता है। बहुधा उसका एक पारिवारिक खेत होता है जहाँ पर वह लौट सकता है।[1] भारत में द्वितीय महायुद्ध की अवधि में एवं उसके पश्चात् इस तरह का श्रम धीरे-धीरे बढ़ने वाली नकद मजदूरी को प्राप्त करने में सफल हुआ, हालांकि वास्तव में मजदूरी मूल्यों से पीछे ही रही। फिर भी ऐसे श्रमिक संघों में संगठित नहीं किये गये। ये श्रमिक अपनी मजदूरी को निर्वाह-स्तर से काफी ऊपर ले जाने की स्थिति में तो नहीं होते हैं, लेकिन स्वयं प्रकृति ही सतत मजदूरी को निर्वाह-स्तर से नीचे के लिए असम्भव बना कर उनकी रक्षा करती है। अतः यह निष्कर्ष अवश्यम्भावी प्रतीत होता है कि यदि सर्वसाधारण के काम आने वाली वस्तुओं पर कर लगा कर आय में वृद्धि करने का काफी प्रयास किया गया तो नकद मजदूरी की दरों में वृद्धि होगी और परिणामस्वरूप कीमतों में और भी वृद्धि होगी।

यह तर्क दिया जा सकता है कि वस्तु-करारोपण में होने वाली अल्प वृद्धियों, अथवा कई वस्तुओं पर फैला कर की जाने वाली थोड़ी-थोड़ी वृद्धियों से उपर्युक्त निष्कर्षों पर नहीं पहुँचा जा सकेगा। यह सच हो सकता है।

1. भारतीय श्रमिक वर्ग की दशा के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—राधाकमल मुकर्जी, The Indian Working Class, 3rd edition, Hind Kitabs Ltd., Bombay, 1951.

लेकिन हम सर्वसाधारण के काम आनेवाली वस्तुओं के करों में होने वाली अत्यधिक वृद्धि के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करना चाहते हैं। ये कर विकास के महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम की वित्तीय व्यवस्था के लिए लगाये जाते हैं। बाहर से आने वाले विशेषज्ञ प्रायः अल्पविकसित देशों के लिए कर की आय में वृद्धि की सिफारिश किया करते है। लेकिन यह कभी स्पष्ट नहीं किया जाता है कि यह वृद्धि इस तरह से की जानी चाहिए जिससे कि मूल्य-स्तर में होने वाली बढ़ोतरी रुक सके अथवा कम-से-कम न्यूनतम तो की जा सके। चूंकि प्रत्यक्ष कराधान के विस्तार में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं, इसलिए एक अल्पविकसित देश में सरकार सर्वसाधारण के उपभोग पर कराधान को फैलाने के लिए तीव्र रूप से लालायित रहती है। सम्भावित मुद्रा-स्फीतिकारी प्रभावों का विवेचन तो लगभग घाटे की वित्त-व्यवस्था तक ही सीमित रखा जाता है। यह अस्पष्ट अथवा स्पष्ट रूप से मान लिया जाता है कि जब तक बढ़े हुए खर्च की पूर्ति बढ़े हुए करारोपण से हो जाती है तब तक कोई मुद्रा-स्फीतिकारी प्रभाव उत्पन्न नहीं होंगे। लेकिन वास्तव में सभी परिस्थितियों में यह सही नहीं निकलता है।

हाल ही के वर्षों में सामान्य बिक्री-कर ने विकसित अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय के रूप में लोकप्रियता प्राप्त करली है। यदि नकद मजदूरी को बढ़ने से रोका जा सका तो बढ़ा हुआ बिक्री-कराधान निश्चित रूप से क्रय शक्ति को घटा देगा और व्यय को कम कर देगा। और जहाँ जनसंख्या के विशाल समूह का जीवन-स्तर केवल निर्वाह-स्तर से ऊपर होता है वहाँ कम से कम सैद्धान्तिक रूप से तो जनता को ... टोती
स्वीकार करने के लिए तैयार करना सम्भव हो सकेगा ... जन-
संख्या का अधिकांश भाग ... सीमा
पर रहता है, ... क रूप
में उतने ...

में वस्तु
... भाँति
... लेते
उपायों के
करों के
भिन्न व्यक्तियों

में काफी लगे रहे हैं । लेकिन चूंकि यह विश्लेषण प्रायः आंशिक सन्तुलन सिद्धांत के ढंग का रहा है, जिसमें अन्य सब बातें समान रखी जाती हैं, इसलिए इसमें सार्वजनिक व्यय के भार व प्रभावों पर विचार नहीं किया गया है । कर-भार का केवल यही आशय है कि कर के फलस्वरूप विभिन्न लोग अपनी वास्तविक आय में कमी का सामना करते हैं और साथ में सार्वजनिक व्यय के 'लाभों' की गिनती नहीं की जाती है । श्रीमती हिक्स जैसे कुछ लेखकों ने करारोपण के 'भार' को मापने में सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को भुला देने पर आपत्ति उठाई है क्योंकि सार्वजनिक व्यय न केवल करवाहृता को परिवर्तित कर सकता है (माँग व पूर्ति की अनुसूचियों को खिसका कर) बल्कि यह समुदाय की वास्तविक आय के अन्तिम वितरण को भी परिवर्तित कर सकता है, क्योंकि सार्वजनिक व्यय के लाभों को उपभोग में शामिल करना होता है। इतना होने पर भी कर और सरकारी कार्यों के व्यय के वितरणकारी प्रभावों को सैद्धान्तिक ढांचों में मिला सकना सम्भव नहीं हो सका है । करवाहृता पर हाल ही के एक अध्ययन में रिचार्ड ए० मसग्रेव ने कहा है 'सरकार के द्वारा प्रत्यक्ष शुल्क से मुक्त प्रदान की जाने वाली उपभोक्ता-सेवाओं का वितरणकारी प्रभाव एक भिन्न बात है जिसके पृथक विश्लेषण की आवश्यकता है ।'[1]

यदि सार्वजनिक व्यय के लाभों को भुला दिया जाता है तो यह तर्क देना उचित होगा कि सामान्य बिक्री कर का भार अवरोही होता है । यह पहले बतलाया जा चुका है कि वास्तविक मान्यताओं के अन्तर्गत सामान्य बिक्री कर को लागू करने से कीमतों में वृद्धि होगी । यदि कीमतों की वृद्धि एकसी होती है और साधनों की आय में कोई गिरावट नहीं आती है तो करवाहृता उपभोक्ताओं पर आती है और वे अपने उपभोग पर किये गये व्यय के अनुपात में कर चुकाते हैं । व्यवहार में कीमतों की वृद्धि एकसी नहीं होती है, कुछ साधनों की आय घटती है और सम्भव है कि कर का एक अंश अतिरिक्त लाभ में ही सविलीन हो जाय । जहाँ तक ये बातें पाई जाती हैं, कर ठीक उपभोग-व्यय के अनुपात में नहीं भुगतान जा सकता है । इसके अतिरिक्त बिक्री कर के ढांचे में विभेदात्मक दरों का समावेश करके कर के भार को उपभोग-व्यय के सम्बन्ध में कुछ आरोही बनाया जा सकता है । विलासिताओं की बिक्री पर ऊँची दरों से और अनिवार्यताओं पर नीची दरों से कर लगाया जा सकता है। ऐसी योजना उपभोग पर खर्च की जाने वाली आमदनी के सम्बन्ध में कर

1. 'General Equilibrium Aspect of Incidence Theory', American Economic Review, May 1953, P. 506.

को मोटे तौर से धनवानों व गरीबों के बीच में आरोही बना देती है। (वास्तव में सभी धनिक भारी कर वाली विलासिता की वस्तुओं को नहीं खरीदेंगे।) फिर भी कुल आय के सम्बन्ध में बिक्री कर का भार अवरोही होता है, क्योंकि यह एक सर्वविदित तथ्य है कि आय के बढ़ने पर साधारणतया इसका एक अपेक्षाकृत बड़ा भाग बचाया जाता है।

बिक्री-कर के अवरोहीपन के विपक्ष में सार्वजनिक व्यय के लाभ रखे जाने चाहिएँ। जब कराधान आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो लाभ का अन्तिम प्रभाव आरोही हो सकता है। लाभ का अन्तिम प्रभाव विनियोग के प्रारूप पर निर्भर करेगा। यदि प्राथमिकता मजदूरी-वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने के लिए दी जाती है तो कालान्तर में निर्धन वर्ग अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार कर सकता है और रोजगार की मात्रा निरंतर रूप से बढ़ सकती है। वास्तव में यदि विनियोग के प्रारूप पर समूचा नियंत्रण सरकार रखती है, जो साथ में भारी मात्रा में विनियोग भी करती है, तो दीर्घकाल में विभिन्न वर्गों की आर्थिक दशाएँ कर-नीतियों की अपेक्षा विनियोग-नीतियों पर अधिक निर्भर करेंगी। सच पूछा जाय तो इस किस्म की चरम स्थिति सोवियत संघ में देखने को मिलती है। वहाँ पर जनता का जीवन-स्तर विक्रय-कर (turnover tax) के कारण नीचा नहीं रहा है, बल्कि यह गोस्प्लान के द्वारा निर्धारित विनियोग के प्रारूप के अनुसार वास्तविक साधनों के मूलभूत आवटन के कारण ही नीचा रहा है। विक्रय-कर तो केवल वह साधन है जिसके द्वारा उपभोग्य वस्तुओं की उपलब्ध पूर्ति के मौद्रिक मूल्य को बढ़ाकर उनकी प्रत्याशित मौद्रिक माँग तक पहुँचाया जाता है।

दूसरी चरम सीमा एक [illegible] निर्बाध नीति वाली अर्थ-व्यवस्था की है जिसमें सरकार [illegible] सभी प्रकार के हस्तक्षेप से [illegible] की ही व्यवस्था करती [illegible] बाजार की शक्तियों पर [illegible] का वे उन अधिमानों के [illegible] वाली मौद्रिक माँग से [illegible] आर्थिक दशाएँ, जहाँ तक [illegible] पर निर्भर [illegible] ये मौद्रिक [illegible] में [illegible]

वस्तुतः प्राथमिक महत्त्व हो जाता है। लेकिन जब सरकार, बाजार की शक्तियों को भुलाकर, सामाजिक हित में विनियोग के प्रारूप को नियन्त्रित करने लगती है अथवा इसमें संशोधन करने लगती है, तो करों के पश्चात् का मौद्रिक आय के वितरण का प्रारूप विभिन्न वर्गों की भावी भौतिक वास्तविक आय की दशाओं का एक मात्र निर्णायक तत्त्व नहीं रह जाता है। एक दिये हुए समय में भौतिक आर्थिक दशाएँ मौद्रिक आमदनियों पर निर्भर करेंगी, लेकिन एक अवधि-विशेष में ऐसी दशाएँ (such positions over a period of time) सरकार के द्वारा निर्धारित विनियोग के प्रारूप पर ही निर्भर करेंगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक उचित विनियोग सम्बन्धी नीति वस्तु-करारोपण के अवरोहीपन (regressivity) का कम-से-कम कुछ सीमा तक तो अवश्य प्रतिकार कर सकती है। इसीलिए विनियोग सम्बन्धी नीतियों की ध्यान से की जाने वाली छानबीन भी करापात के अध्ययन जितनी ही महत्त्वपूर्ण होती है।

7

वैयक्तिक कराधान में व्यापक सुधार के पक्ष में

प्रोफेसर निकोलस केल्डॉर

1. भूमिका

वैयक्तिक (अथवा 'प्रत्यक्ष') कराधान का उद्देश्य समुदाय में कर-भार के वितरण में न्यायोचितता लाना होता है। यदि इस प्रश्न पर केवल आय के पहलू से देखा जाय तो आय की एक दी हुई मात्रा को बिक्री-करों, उत्पादन-करों आदि सौदों पर लगाये गये करों से, अथवा विभिन्न किस्म के मूल्यानुसार करों (ad rem taxes) से एकत्र करना प्रशासनिक दृष्टि से ज्यादा सरल होगा, बनिस्बत इसके कि व्यक्तियों पर लगाये जाने वाले कर 'करदेय क्षमता' के किसी समूचे आधार (अथवा आधारों) के अनुसार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दरों से लगाये जाँय। लेकिन एक विकासशील अर्थव्यवस्था में जहां निजी स्वामित्व में धन तेजी से एवं असमान रूप से बढ़ता है वह स्थिति सामाजिक दृष्टि से असहनीय मानी जाती है जिसमें विशाल जन-समुदाय पर डाले जाने वाले भार के साथ अल्पसंख्यक धनाढ्य व्यक्तियों पर आरोही कराधान की कुशल व्यवस्था नहीं पाई जाती है। अतः वैयक्तिक कराधान के प्रशासन के क्षेत्र, व्यापकता एवं कार्यकुशलता में सुधारों की आवश्यकता के प्रश्न पर केवल आय के संकीर्ण दृष्टिकोण से ही निर्णय नहीं किया जाना चाहिए। यदि कुछ सुधारों के सम्बन्ध में यह दर्शाया जा सके कि वे समस्त समुदाय पर अपेक्षाकृत अधिक भार डालने की पूर्व-शर्त के रूप में आवश्यक होते हैं, और समाज में न्याय व समानता की प्रचलित धारणा से मेल खाते हैं, तो वे आवश्यक समझे जाते हैं, चाहे उनसे निकट भविष्य में आय की सम्भावना कम ही क्यों न हो।

2. यह प्रश्न विशेषतया भारत के लिए महत्त्वपूर्ण है जो तीव्र गति से होने वाले आर्थिक विकास के द्वार पर खड़ा है और जहां के लोग पाश्चात्य पूंजीवाद और पूर्वी समाजवाद के 'बीच का रास्ता' अपनाने को इच्छुक हैं। भारत में राष्ट्रीय धन का बड़ा भाग आज निजी हाथों में है और भविष्य में भी

रहेगा—सरकार की ओर से उद्योगों अथवा भू-सम्पत्ति के ले लिए जाने पर इस स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आ जायगा, बशर्ते कि स्वामियों को उचित मुआवजा दे दिया जाता है। क्योंकि ऐसा होने से सार्वजनिक सम्पत्ति की वृद्धि सार्वजनिक ऋण[1] की वृद्धि के कारण समाप्त हो जायगी इसलिए यह अवश्यम्भावी प्रतीत होता है कि निजी स्वामित्व के अन्तर्गत धन की मात्रा और (प्रभावपूर्ण कर के उपायों के अभाव में) उस धन के स्वामित्व के वितरण का वैषम्य (Skewness) आर्थिक विकास के साथ-साथ बढ़ते जायेंगे। चूंकि समाज में बचत का वितरण आय से ज्यादा असमान होता है, इसलिए जब तक कर-व्यवस्था अथवा सार्वजनिक नीति के अन्य साधनों द्वारा प्रभावशाली ढंग से नहीं रोका जायगा तब तक यह प्रवृत्ति निश्चित रूप से पाई जायगी कि सबसे अधिक सम्पत्तिशाली व्यक्तियों के पास धन की मात्रा सामान्य धन की अपेक्षा ज्यादा तेजी से बढ़ेगी। अतः आय और धन में जितनी ज्यादा वृद्धि होगी व्यक्तियों के बीच धन की असमानता में भी उतनी ही अधिक वृद्धि होगी।

3. राजनीतिक दृष्टि से बड़े-बड़े सभी लोकतन्त्रीय देशों में किसी न किसी किस्म का आरोही वैयक्तिक करारोपण (progressive personal taxation) पाया जाता है जो सामान्यतया 'आय" पर आधारित होता है। लेकिन स्वीडेन के सम्भावित अपवाद को छोड़कर कोई भी देश धन व आय के पुनर्वितरण के उस अंश को लाने में सफल नहीं हुआ है जिसको प्राप्त करना उनकी करारोपण-नीतियों का स्पष्ट उद्देश्य रहा है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य में पिछले पंद्रह वर्षों से उच्च समूहों में आय और अधिकर (surtax) की मिली-जुली दरें 90% से अधिक रही हैं और मृत-सम्पत्ति-कर 80% की अधिकतम सीमा तक पहुँच चुका है, फिर भी आज भी विशाल मात्रा में नई सम्पत्ति प्राप्त की जाती है और धन के स्वामित्व में केन्द्रीकरण का अंश, जो राष्ट्रीय धन के एक-तिहाई का स्वामित्व रखने वाले व्यक्तियों के प्रतिशत वगैरह से मापा जाता है, कम नहीं हो पाया है। मैं समझता हूँ कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और अन्य पाश्चात्य देशों के सम्बन्ध में भी यह बात सही है। इस स्थिति के लिए जो कारण दिये जा सकते हैं वे ये हैं कि कई तरह से छिद्रों को विधान-मण्डल सहन करते रहते हैं (और कुछ मामलों में उनका जान-बूझकर पोषण भी करते हैं) और आय या धन को पूरी तरह से बतलाने के

1. घाटे की वित्त-व्यवस्था अथवा सार्वजनिक ऋण-व्यय (loan-expenditure) से भी वास्तव में निजी धन में वृद्धि होती है।

सम्बन्ध मे दवाव डालने में कर-प्रशासन की विफलता से भी सम्पत्ति के स्वामियों पर कराधान का वास्तविक भार "आय" पर कराधान की नाममात्र की दरों से काफी कम होता है। दूसरी तरफ, कार्यालय, रोज़गार, अथवा पेंशन से प्राप्त आय, जैसे वेतन व मजदूरी को युद्धकाल में एव उसके पश्चात् लागू की जाने वाली व्यापक रिपोर्ट देने की प्रणालियाँ लगभग शत प्रतिशत रूप से ढक लेती हैं। यहां पर "करदेय आय" की परिभाषा भी उस किस्म के प्रयोग का मौका नही देती है जो व्यावसायिक लाभ अथवा पूंजी के स्वामित्व से प्राप्त होने वाली आय के सम्बन्ध मे किया जा सकता है। वेतन की आय के सम्बन्ध में तो महत्त्वपूर्ण छिद्र केवल ये ही होते हैं, जैसे खर्च के लिए दी जाने वाली छूटें और मालिक के द्वारा प्रदान की जाने वाली वस्तु के रूप में सुविधाएँ। लेकिन इन छिद्रों को विशेष वैधानिक व्यवस्थाओं के द्वारा बंद किया जा सकता है और किया भी जा रहा है। हाल ही में संयुक्त राज्य, भारत एव कुछ अन्य देशों ने इस तरह की व्यवस्थाएँ लागू की हैं। वे सार्वजनिक कर्मचारी जैसे न्यायाधीश अथवा उच्च श्रेणी के सिविल कर्मचारी जो अपने नियोक्ता (employer) से ऐसे "लाभ" ("perks") प्राप्त नही करते हैं और जिनके पास कर से बचने के लिए और छिद्र नही रह जाते हैं—वे ऐसी दण्डात्मक दरों के पूरे झोंके के सामने आ जाते हैं जबकि समाज के अन्य वर्ग इनसे लगभग बच जाते हैं।

किस्म की राशियाँ इनसे अलग रखी गई हैं (जिनमें पूँजीगत लाभ एवं सभी किस्म के पूँजीगत मुनाफे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं); फलस्वरूप अनेक किस्म के ऐसे उपायों को रोकना असम्भव रहा है जिनका उद्देश्य जायदाद के स्वामित्व अथवा आत्मसात किया से प्राप्त होने वाले लाभों को करदेय राशियों की बजाय गैर-करदेय पूँजीगत मुनाफों अथवा लाभों के रूप में प्रकट करना रहा है।

(ग) इस बात को नहीं पहचाना गया है कि प्रयोज्य परिसम्पत्तियाँ (disposable assets) का स्वामित्व उनके मालिकों को जायदाद की आय के अलावा अन्य लाभ भी प्रदान करता है। यही नहीं बल्कि आय पर लगाये जाने वाले करों के साथ विशुद्ध परिसम्पत्ति (net worth) पर कर लगाने के सम्बन्ध में भी असफलता ही मिली है।

(द) व्यापारिक लाभों का हिसाब लगाते समय प्राप्तियों (receipts) में से जिन खर्चों के घटाने की स्वीकृति दी जाती है उनकी परिभाषा लोचदार रही है और आय में "घाटों" की धारणा को अधिक उदार रूप से मान्यता दी गई है और इनकी पूर्ति के लिए ज्यादा उदार रूप से व्यवस्था की गई है जिसका परिणाम यह निकला है कि एक व्यापारी कर के प्रयोजनार्थ "घाटों" का निर्माण कर सकता है और ऐसा करके आय (revenue) की बलि देकर परिसम्पत्तियों का निर्माण कर लेता है जिससे उसे अपने लाभों पर कुछ भी कर नहीं देना पड़ता है।

(ई) कर के प्रयोजन के लिए एक व्यक्ति (अथवा एक परिवार) की कुल जायदाद अथवा आय के सच्चे योग को प्राप्त करने में असफलता मिली है। इसका कारण (अंशतः) तो यह है कि पारिवारिक आय के अनिवार्य रूप से किये जाने वाले योग के सम्बन्ध में दोषपूर्ण व्यवस्थाएँ रही हैं, और आय अथवा जायदाद को ट्रस्टों व बस्तियों की तरफ हस्तान्तरित करने की व्यवस्थाएँ, आदि भी दोषपूर्ण रही हैं (आय को गैर-कानूनी ढंग से छिपाने से बिलकुल अलग)।

(उ) आय अथवा सम्पत्ति की पूरी रिपोर्ट प्राप्त करने में असफलता के कारण निम्नांकित हैं : (i) जायदाद की आय और जायदाद के सौदों के लिए स्वतः रिपोर्ट देने की व्यवस्था का अभाव रहा है जबकि रोजगार से प्राप्त आय के लिए इस तरह की व्यवस्था पाई जाती है; (ii) करदाता से [illegible] (return) इतना व्यापक नहीं बनाया गया है कि

यह स्वतः जाँच या परीक्षण का साधन बन सके; (iii) सामान्य नियम में इस बात की सुविधाएँ रही हैं कि मिथ्या नामों (बेनामी धृत या होल्डिंग) में जायदाद के पंजीयन (रजिस्ट्रेशन) के जरिए अथवा बिना नाम की धृत या होल्डिंग के जरिए (जैसे वाहक बांड, अथवा शेयरों के सम्बन्ध में कोरे हस्तान्तरण की प्रणाली) आय और जायदाद को छिपाया जा सके।

6. (अ) से (ई) तक जो बातें कही गई हैं वे (कानूनी रूप से) कर को टालने के स्रोत बतलाती हैं, लेकिन (उ) के अन्तर्गत (गैर-कानूनी रूप से) कर से बचने की सुविधाओं का उल्लेख किया गया है। भारत और अधिकांश पाश्चात्य देशों की स्थिति में अन्तर केवल यह है कि भारत में (उ) सम्भवतया ज्यादा महत्वपूर्ण है, और परिणामस्वरूप (अ) से (ई) पाश्चात्य देशों की तुलना में सापेक्ष रूप में कम महत्व रखते हैं।

7. मेरा ऐसा विश्वास है कि कर-प्रणाली में ऐसे सुधार करना प्राविधिक दृष्टि से सम्भव हो सकता है जिससे कि कर-टालने के कानूनी तरीकों एवं बड़े पैमाने पर कर की चोरी के क्षेत्र को या तो पूर्णतया समाप्त किया जा सके अथवा उसे काफी मात्रा में घटाया जा सके। निम्नांकित कारणों से ऐसा करने की प्रशासनिक सम्भावना आंशिक अथवा टुकड़ों में किये जाने वाले सुधार के उपायों को अपनाने की बनिस्बत व्यापक सुधार में ज्यादा प्रतीत होती है। न तो संयुक्त राज्य या संयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसे देशों में, और न भारत में बड़े पैमाने पर कर को टालना और इसकी चोरी करना मानवीय या प्रशासनिक अपूर्णताओं या मूर्खता, अथवा निजी उद्यम प्रणाली या समाज के और किसी स्थाई लक्षण का अनिवार्य परिणाम माने जा सकते हैं। पाश्चात्य लोकतन्त्रीय देशों अथवा भारत में लाभ व पूंजी पर करायान की प्रभावपूर्ण प्रणाली की स्थापना में जो साधन रोड़ा अटकाता रहा है वह एक न्यायसंगत और निर्दोष प्रणाली की योजना बनाने की 'प्राविधिक' असम्भावना नहीं है, बल्कि निहित स्वार्थों का विरोध ही है।

II. तीन महत्त्वपूर्ण विचारणीय बातें

8. एक प्रभावशाली कर-प्रणाली के निर्माण में जिन तीन प्रमुख बातों का समावेश किया जाना चाहिए वे इस प्रकार हैं : न्याय (equity), आर्थिक प्रभाव (economic effects) और प्रशासनिक कार्यकुशलता (administrative efficiency)।

9. न्याय के दृष्टिकोण से सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कर-प्रणाली में करदाताओं के विशेष वर्गों के पक्ष में एवं अन्य के विपक्ष में कोई निश्चित झुकाव नहीं होना चाहिए। कार्य से प्राप्त आय और जायदाद की आय के बीच कराधान में न्याय उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि (i) "आय" की धारणा इतनी व्यापक नहीं बन जाती कि यह उन समस्त लाभप्रद प्राप्तियों को शामिल न करले जो करदाता की व्यय करने की शक्ति को बढ़ाती हैं, और यह केवल आय के परम्परागत रूपों को ही शामिल करने तक सीमित नहीं रह जानी चाहिए ; (ii) आयकर के साथ पूंजीगत धन पर वार्षिक कर इस तथ्य को मान कर नहीं लगाया जाता कि करदेय क्षमता केवल आमदनी अथवा केवल पूंजीगत धन से ही पर्याप्त रूप से नहीं मापी जा सकती, बल्कि यह मान कर लगाया जाता है कि यह दोनों के सम्मिश्रण से ही मापी जा सकती है, (iii) करदेय आय के हिसाब में, लाभ अथवा प्राप्ति, एवं जिन कटौतियों की इजाज़त दी जाती है वे आय की विभिन्न किस्मों और रूपों के बीच में एक-से एवं बिना भेदभाव के नियमों के आधार पर नहीं बनती हैं। इन सबके कारणों का विश्लेषण मैंने कुछ विस्तार से अपनी पुस्तक[1] में किया है जिनको यहां दोहराना आवश्यक होगा। व्यवहार में इसका आशय यह है कि केवल ऐसे खर्चे ही प्राप्तियों में से घटाये जाने चाहिएँ जो विचाराधीन वर्ष की प्राप्तियों (receipts) को उत्पन्न करने से अनिवार्यतः सम्बन्धित होते हैं।

10. कराधान के आर्थिक प्रभावों के दृष्टिकोण से प्रमुख विचारणीय बात यह है कि कर-प्रणाली प्रयत्न, पहल अथवा उद्यम के लिए अत्यधिक रूप से प्रेरणा के विरुद्ध न चली जाय। आमदनी पर लगाये जाने वाले कर काम करने को अथवा उत्पादक उपक्रम में पूंजी की जोखिम उठाने को कम आकर्षक बना देते हैं और बचत पर "दोहरे कराधान" के ज़रिए बचत को हतोत्साहित करते हैं और व्यय को प्रोत्साहित करते हैं। इन सब प्रभावों का महत्त्व कराधान की सीमान्त दरों पर निर्भर करता है। मेरा यह दृढ़ मत है कि पिछले 15–20 वर्षों में कर की जो (नाममात्र की) अत्यधिक ऊँची सीमान्त दरें लागू की गई हैं वे काफी घातक सिद्ध हुई हैं क्योंकि उनसे कर टालने के बड़े छिद्रों को रहने दिया गया है। हेनरी साइमन्स ने युद्ध से पहले कहा था कि कानूनी पद्धति में 'एक बारीक किस्म की नैतिक एवं बौद्धिक बेईमानी की भू अभी

1. An Expenditure Tax, ch. I, pp. 25-42.

2. Personal Income Taxation (Chicago 1938), pp. 219.

है।" "इसमें घोखाधड़ी का एक ऐसा विशाल कार्यक्रम दिखाई देता है जिसमें बड़े पैमाने पर अतिकरों (surtaxes) को लगा दिया जाता है और बदले में ऐसे वायदे कर दिये जाते हैं कि उन्हें व्यवहार मे प्रभावपूर्ण नही बनाया जायगा। इस प्रकार राजनीतिज्ञ गर्व के साथ कर की दरों की तरफ तो इशारा कर सकते हैं, लेकिन वे चुपके-चुपके अपने पक्ष के धनी व्यक्तियों को उन करों के छिद्रों (loopholes) की भी याद दिलाते रहते हैं।"

11. करों की इतनी ऊँची सीमान्त दरें जो 80 से 90% तक पहुंच गई थीं (संयुक्त राज्य में तो एक समय ये 97·5% हो गई थी) कभी भी लागू नहीं की जाती यदि ये वस्तुतः सही रूप में प्राप्त होने वाले धन पर ही लागू होतीं जैसा कि इनके पीछे बहाना था। बहुधा देखा जाता है कि ये लूट-खसोट की कर की दरें वास्तव में थोड़े से व्यक्तियों पर ही लागू होती है जो इनके भार से मुक्त नहीं हो सकते हैं और इनका दीर्घकालीन प्रभाव बहुत घातक होता है क्योंकि इनकी वजह से कुछ ऐसे धंधों की सम्भावनाओं को क्षति पहुँचती है जो राष्ट्रीय दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण होते हैं और दूसरे ये लोगों की नैतिकता को भी समाप्त कर देती हैं। ²

2. मुझे यह कहना पड़ता है कि मैं भारत में आय पर 'सीमा-निर्धारण" के वर्तमान प्रस्तावों मे उपर्युक्त प्रवृत्तियों को अपनी अन्तिम तार्किक असगति पर जाते हुए पाता हूँ। इन प्रस्तावो के समर्थक कभी इस बात की जाँच नही करते कि उस 'आय" शब्द की परिभाषा व आशय क्या है जिस पर वे इतनी आसानी से निरपेक्ष ऊपरी सीमा लगाना चाहते हैं। साथ में यह भी स्पष्ट नहीं है कि इन प्रस्तावों से सामाजिक असमानता उस समय तक कैसे कम हो सकेगी जब तक कि धन निजी हाथों में बना रहता है। जिस अर्थ में (सयुक्त राज्य मे), उदाहरणार्थ, आय पर सीमान्त दर पहले ही 1946-51 की अवधि मे 97.5% तक पहुँच चुकी थी, यह दर स्पष्टः 100% तक बढ़ाई जा सकती थी लेकिन इससे कोई बड़ा फर्क नहीं पड़ता। लेकिन क्या कोई गम्भीरतापूर्वक इस बात पर विश्वास कर सकता है कि यह साधन, वांछनीय सामाजिक प्रेरणाओं को छोड़ कर, और किसी चीज को मिटाने मे मदद दे सकता है? इससे अतिसम्पन्नता व अतिनिर्धनता समाप्त नहीं हो जायगी। इसका सरल कारण यह है कि जहाँ तक पूंजीपतियों का सम्बन्ध है पूंजी से प्राप्त होने वाले लाभ केवल इसलिए समाप्त नहीं हो जायेंगे कि वे "आय" के अलावा और कोई रूप धारण कर लेंगे। (जैसा कि इंग्लैण्ड मे कहा जाता है कि भारी कराधान

12. यदि हम कर का एक व्यापक आधार मान कर चलें तो, मेरे विचार से, आयकर की सीमान्त दर कभी भी अर्जित और बचाई गई दोनों तरह की आय पर 40—50% से अधिक नहीं होनी चाहिए। (यदि अधिकर की अपेक्षाकृत ऊँची सीमाओं के बदले में आयकर के साथ आरोही या प्रगामी खर्च-कर जोड़ दिया जाता है, तो खर्च की गई आमदनी पर प्रभावपूर्ण दर वास्तव में काफी ऊँची भी की जा सकती है।) अनार्जित आय (व्यवसाय अथवा जायदाद की आय) के लिए धन पर वार्षिक कर के रूप में एक भेदात्मक कर लगाया जाना चाहिए (आय पर कर के अतिरिक्त) जिसका पूंजी के उत्पादक उपयोग पर (अर्थात् जोखिम उठाने पर) प्रेरणा के विपरीत आने वाला ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता है जैसा कि आयकर का पड़ता है। लेकिन इस कर का भी आयकर की भांति बचत पर वैसा ही निरुत्साहित करने वाला प्रभाव

करदेय आय को एक विलासिता में परिवर्तित कर देता है जिसे "धनी लोग रखने की स्थिति में नहीं रह पाते हैं।") यहाँ पर हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि "आय पर सीमा-निर्धारण" की वर्तमान हलचल सर्वोच्च नैतिक व सामाजिक उद्देश्यों के अलावा और किसी उद्देश्य से चल रही है, और मेरा यह विश्वास है कि इस हलचल के समर्थक इनको (उद्देश्यों को) जायदाद के स्वामित्व से प्राप्त वास्तविक लाभों पर भी उसी तरह लागू करना चाहते हैं जिस तरह से ये इनको कार्य से प्राप्त आय पर लागू करते हैं। लेकिन उनका यह विचार गलत है कि "आय" पर सीमा लगाना इन आकांक्षाओं को पूरा करने का एक उपयुक्त साधन है। ऐसा उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि "आय" की धारणा इस शब्द की प्रचलित कानूनी परिभाषा के अनुरूप काफी विस्तृत नहीं की जाय और सीमा-निर्धारण के आशय में न केवल वार्षिक प्राप्त-राशियों पर बल्कि धन के स्वामित्व पर भी सीमा न मान ली जाय। लेकिन इस प्रकार का व्यापक अर्थ लगाने पर, यह प्रस्ताव ऐसा नहीं है जिसे भारत जैसा देश अपने विकास व सुधार की भावी सम्भावनाओं अथवा प्रचलित रहन-सहन के स्तरों के बनाये रखने को गम्भीर रूप से खतरे में डाले बिना स्वीकार कर सके। सोवियत रूस ने अपने कटु अनुभव से यह सीखा है कि आर्थिक प्रेरणाएं घातक परिणामों के बिना समाप्त नहीं की जा सकती हैं। इसका अपवाद सम्भवत यह है कि अब देश आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से एक ऐसी अवस्था में हो जो, भारत तो क्या, सबसे धनी राष्ट्र (जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका) से भी काफी ऊँची हो।

पड़ता है और इसी कारण से धन पर वार्षिक कर, आरोही कर के रूप में माने जाने पर, 1—1½% प्रति वर्ष की सर्वोच्च सीमान्त दर से अधिक नहीं होना चाहिए।

13. प्रशासनिक कुशलता की दृष्टि से प्रमुख आवश्यकताएं निम्नांकित हैं :—

(1) सरलता :—कर सरल परिभाषाओं पर आश्रित होने चाहिएं और यथासम्भव विभिन्न किस्म की छूटें अथवा विशिष्ट श्रेणियों के लिए विशिष्ट किस्म के व्यवहार टाले जाने चाहिएं, क्योंकि इन सब जटिलताओं का दुरुपयोग हो सकता है (उदाहरण के लिए, विभिन्न किस्म की कम्पनियों के बीच, अथवा कम्पनियों व व्यक्तियों के बीच, अथवा व्यावसायिक "लाभों" एवं "पूंजीगत लाभों" के बीच कर लगाने के सम्बन्ध में प्रचलित अंतर)।

इसमें तो कोई सदेह नहीं कि भारत में आर्थिक असमानता की वर्तमान मात्रा को कम करने के पक्ष मे प्रबल तर्क दिये जा सकते हैं। लेकिन ऐसा निरपेक्षरूप से "सीमा-निर्धारण" लागू करके नहीं, बल्कि कर-व्यवस्था को व्यापक और प्रशासनिक दृष्टि से प्रभावपूर्ण बनाकर ही किया जा सकता है। (भू-जोतों पर सीमा-निर्धारण के पक्ष में दलीलें दी जा सकती हैं लेकिन मेरे विचार से इससे आय और पूंजी पर सीमा-निर्धारण के लिए कोई तुलना नही मिल जाती है। चूंकि भारत में खेतों का प्रभावपूर्ण आकार अपेक्षाकृत छोटा है, इसलिए एक निश्चित सीमा से ऊपर भू-स्वामित्व से कोई आर्थिक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता है। यह कृषक वर्ग के शोषण का एक साधन-मात्र रह जाता है और भूमि की उत्पादकता को बढ़ाने के मार्ग में निश्चित रूप से एक रोड़ा बन जाता है लेकिन यह उन ऊंची आमदनियों के सम्बन्ध में बिलकुल भी सही नही है जो एक सफल व्यवसाय अथवा पेशेवर धधा अथवा सफल उद्यम करके धन-संग्रह के जरिए प्राप्त की गई हैं।)

मुझे पक्का विश्वास है "आय पर सीमा-निर्धारण" के प्रस्तावों का घात न तो कर की 100% सीमान्त दरों के लागू करने में होगा और न एक निश्चित अधिकतम सीमा से ऊपर आमदनी के भुगतान पर कानूनी निषेध के रूप मे होगा। लेकिन यदि इस हलचल के कारण नये सरकारी उपक्रमो मे चोटी के अधिकारी कर्मचारियों को उच्च श्रेणी में नीचे वेतन-मान दिये जाने लगते हैं तो इससे काफी हानि हो जायगी। मैं

(ii) व्यापकता :—आयकरों के अन्तर्गत सभी किस्म की लाभ के रूप मिलने वाली राशियाँ एवं पूंजीगत धन पर लगाये जाने वाले करों में सभी रस्म की सम्पत्ति या जायदाद आनी चाहिए। इनके लिए अपवाद केवल शासनिक आधार पर ही किये जाने चाहिए। (जैसे विचारणीय मामलों की ंख्या को सीमित करने के लिए दी जाने वाली छूटें)।

(iii) एक ही व्यापक प्रविवरण-पत्र, कराधान की स्वत: जाँच की प्रणाली, और रिपोर्ट भेजने की स्वचालित प्रणाली :—मेरा ऐसा विचार है कि प्रशासनिक कुशलता के दृष्टिकोण से ये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं।

(अ) एक व्यापक प्रविवरण-पत्र (A Comprehensive Return) :—

इस समय तो करदाता को केवल अपनी आमदनी का प्रविवरण भेजने के लिए कहा जाता है और चूंकि यह प्रश्न प्राय: काफी संदेहास्पद होता है कि एक विशेष राशि "आय" की श्रेणी में आती है अथवा नहीं, इसलिए व्यवहार में करदाता को ही यह निर्णय करना होता है कि विशेष राशि प्रविवरण पत्र में दिखलानी है अथवा नहीं। राजस्व अधिकारियों को पूंजीगत परिसम्पत्तियों व अन्य विवरणों के बारे मे जानने का अधिकार होता है, लेकिन इन अधिकारों का बहुत कम उपयोग किया जाता है क्योंकि वास्तव में करदाताओं को ऐसे मामलों के बारे में सूचना देने के लिए वाध्य करना सम्भव नही होता है जिनका कर-दायित्वों के निर्धारण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। यदि पूरा हिसाब दिखाया जाता है, जैसे वर्ष के प्रारम्भ में कुल

समझता हूँ कि जहां तक भारत के भावी विकास के प्रति वर्तमान दृष्टिकोण —'समाजवादी ढग के समाज'— की सफलता का प्रश्न है, यह आवश्यक है कि सार्वजनिक क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण उद्योग सर्वश्रेष्ठ उपलब्ध निपुण व्यक्तियों को आकर्षित कर सकें। इसका आशय यह है कि वे उनको ऐसे वेतन-मान प्रदान कर सकें जो निजी उद्योग के द्वारा प्रदत्त मानों से पूरी तरह प्रतिस्पर्धात्मक हों। अत, मेरे विचार से यह अधिक राष्ट्रीय हित मे होगा कि इस विषय पर जल्दी ही सार्वजनिक रूप से इस तरह की घोषणाएँ कर दी जांय कि धन पर व्यापक एवं प्रभावपूर्ण कर लगाकर ही धन की असमानताओं में कमी करने के उद्देश्य की तरफ बढ़ा जायगा, न कि "आय पर सीमा-निर्धारण" की दिखाने लायक लेकिन व्यर्थ की (और परोक्ष रूप से हानिप्रद) धारणा के द्वारा।"

धन का विवरण वर्ष भर मे मिलने वाली समस्त राशियाँ—भेंट, उत्तराधिकार, जीत के रूप में प्राप्त होने वाली करदेय आय और लाभ के समस्त रूप, इन सबका वैयक्तिक खर्चों और विनियोगो मे उपयोग और वर्ष के अत मे उत्पन्न होने वाली परिसम्पत्ति की स्थिति, तो आय अथवा जायदाद की विशेष मदों को छिपाना, अथवा झूठे खाते तैयार करना स्पष्टतः और भी मुश्किल हो जाता है। (यहां पर कहने का यह आशय नही है कि बहीखातों का पूर्णतया दोहरा सैट रखना अथवा व्यापक खातों का "नाममात्र" का सैट बनाना असम्भव है। लेकिन यह आंशिक प्रविवरण की स्थिति मे प्राप्त-राशियों को छिपाने की अपेक्षा एक ज्यादा कठिन काम है।)

(आ) कराधान की स्वत. जाँच की प्रणाली
(A self-checking system of taxation)

कराधान की वर्तमान प्रणाली मे वस्तुत कुछ स्वतः जाँच के तत्त्व होते है। लेकिन विधान की कुछ कमियों, करदेय और गैर-करदेय प्राप्तियों के अंतर की अस्पष्टता और अन्य कारणोंसे इस प्रणाली की कुशलता सीमित हो जाती है और यह कुछ दिशाओं मे ही ले जाती है। लेकिन यह मान लेने पर कि आय पर वर्तमान करों के अतिरिक्त समस्त प्राप्त पूंजीगत लाभ भी कर के अन्तर्गत ले लिये जाते हैं (उपहार, उत्तराधिकार एव दायदान (legacy) के जरिए होने वाला परिसम्पत्तियों के हस्तान्तरण भी उसी तरह से 'प्राप्ति' मे शामिल कर लिया जाता है जिस तरह से बिक्री के जरिए होने वाला हस्तान्तरण शामिल किया जाता है), उपहार-कर सम्पदा-कर या मृत-सम्पत्ति-कर के साथ-साथ (और अंत में इसके बदले में) लागू कर दिया जाता है, और अत में एक वैयक्तिक व्यय-कर लागू कर दिया जाता है, तो कर-प्रणाली इस अर्थ में पूर्णतया स्वतः जाँच वाली हो जाती है कि 'क' का इस बात का प्रयास कि स्वयं के कर-दायित्वों के सम्बन्ध में ऊँची राशि निर्धारित नही हो जाय, 'ख' के लाभो एवं प्राप्तियों को स्वतः प्रकाश में ला देता है, इत्यादि। यदि आय पर वर्तमान कर पूंजीगत लाभों एवं पूंजी की प्रकृति की अन्य प्राप्तियों पर लागू कर दिये जाते हैं और साथ मे धन पर वार्षिक कर और एक उपहार-कर लगा दिया जाता है, यदि व्यय के आधार पर एक अधि-कर (super tax) लगा दिया जाता है (नीचे देखिए) और यदि इन सब करों का निर्धारण एक ही समय मे, एक ही अधिकारी और करदाता के द्वारा प्रस्तुत किये गये एक ही व्यापक खाते के आधार पर किया जाता है (जिसमे वर्ष भर की सारी प्राप्तियाँ, कर से मुक्त सभी व्यय, सभी पूंजीगत सौदों का ब्यौरा, और अपने

ामित्व मे होने वाली समस्त सम्पत्ति का पूरा विवरण होता है) तो कर ी चोरी करना और कर को छिपाना और भी मुश्किल हो जायगा, और ह केवल इस कारण से नहीं की वैयक्तिक करदाता विशेष प्राप्तियों अथवा म्पत्ति की मदो को बराबर छिपाने में कठिनाई महसूस करेगा बल्कि इस ारण से कि एक करदाता के द्वारा दिये जाने वाले प्रमाण (अपने स्वयं के ायित्व को कम करने के हित में) दूसरों के द्वारा प्रस्तुत किये गये विवरण ी जांच मे प्रत्यक्षतः मदद देते हैं। उदाहरण के लिए, वैयक्तिक खर्च-कर के लए 'क' के दायित्व का हिसाब लगाने के लिए समस्त "करमुक्त व्यय" विवरण ं दिखाये जाने चाहिएँ और ये ही करमुक्त व्यय 'ख' के लिए किसी-न-किसी करदेय प्राप्ति को सूचित करते हैं (जैसे लाभ, पूंजीगत लाभ, उपहार, इत्यादि)। इसी प्रकार से चूंकि इस प्रणाली मे पूंजीगत सौदों पर समस्त लाभ या हानि की राशियां खाते में दिखलाई जाती हैं, इसलिए बिक्री के हिसाब के जरिए पूंजीगत परिसम्पत्तियों की समस्त नई खरीद की स्वत: जांच हो जाती है और वह क्रेता के हित मे होगा कि वह जिस क़ीमत पर परिसम्पत्ति खरीदी गई है उससे कम क़ीमत न दिखावे, क्योंकि इससे पूंजीगत लाभ पर कर के रूप में उसकी भावी देयता और वैयक्तिक खर्च-कर के रूप में उसकी देयता बढ़ जायगी।

(ड) समस्त सम्पत्ति को शामिल करने वाली स्वत: रिपोर्ट की प्रणाली (An Automatic Reporting System extending to All Property):—

समस्त सम्पत्ति सम्बन्धी सौदों और एक निश्चित राशि से ऊपर के समस्त नक़द भुगतानों को शामिल करने वाली प्रणाली की रूपरेखा अध्याय 6 में दी गई है। जैसा कि वहां बतलाया गया है, कोड संख्याओं और कर के वाउचरों की प्रणाली के द्वारा पञ्जीयन की आवश्यकता वाले एवं स्टाम्प शुल्क को आकर्षित करने वाले समस्त सम्पत्ति-सम्बन्धी सौदों के लिए स्वत: रिपोर्ट देने की प्रणाली को लागू करना (प्रशासनिक दृष्टि से) अपेक्षाकृत सरल होगा। जैसा कि सुझाया गया है, यदि कर वैयक्तिक खर्च एवं आय पर लगाये जाते हैं तो यह प्रणाली अन्य कई तरह के सौदों पर लागू की जा सकती है।

III. प्रमुख प्रस्तावों की रूपरेखा

14. उपर्युक्त सुझावों के अनुसार होने वाली प्रभावशाली प्रणाली में ((अ) आयकरों; (आ) पूंजीगत लाभ; (इ) विशुद्ध धन; (ई) वैयक्तिक खर्च; और (उ) उपहारों पर लगाये जाने चाहिए। ये सब एक ही बार में

निर्धारित किये जा सकते हैं और करदाता के द्वारा प्रस्तुत किये गये एक ही व्यापक प्रविवरण के आधार पर लगाये जा सकते हैं।

(अ) आयकर:—वर्तमान आयकर और अधि-कर के स्थान पर एक ही आयकर होना चाहिए जो व्यक्तियों और साझेदारियों आदि के लिए 25,000 रु० तक की वार्षिक आय के लिए तो आरोही (progressive) हो और इससे ऊपर समस्त आय पर प्रति रुपये 7 आने की समान दर से लगाया जाय। अतः आमदनी पर उस सीमा से ऊपर सर्वोच्च सीमान्त दर 43¾% (अथवा अधिभार सहित 45%) हो जाती है। कम्पनियों से आयकर नहीं लिया जाना चाहिए बल्कि उनको अपनी सम्पूर्ण आय पर प्रति रुपया 7 आने वापिस न किया जाने वाला कर देना चाहिए (वर्तमान आय व निगम करों की एवज में)। उद्गम स्थान पर ही संग्रह कर लेने के लिए ब्याज व लाभांश का भुगतान करते समय 7 आने की अधिकतम राशि आयकर के रूप में घटा कर प्राप्तकर्ता के आयकर-खाते में जमा कर देनी चाहिए।

(आ) पूंजीगत लाभ कर :—वसूली करने पर प्राप्त समस्त पूंजीगत लाभों और समस्त आकस्मिक लाभों और ऐसी पूंजीगत प्राप्तियों जिन पर वर्तमान समय में कर नहीं लगाया जाता है, (जैसे समाप्त होने लायक अधिकारों की बिक्री, पट्टे आदि पर प्रीमियम) पर आयकर लगाया जाना चाहिए, जिसका आशय यह है कि मिली-जुली आय (पूंजीगत लाभ सहित) के 25,000 रु० से अधिक होते ही एक रुपये में 7 आने की सीधी दर लागू हो जायगी। कम्पनियों के पूंजीगत लाभों पर भी व्यापारिक लाभों की तरह से ही कर लगाया जाना चाहिए।

इसका आशय यह है कि समस्त लाभकारी प्राप्तियों (beneficial receipts) (चाहे वे व्यापारिक लाभ हों अथवा पूंजीगत लाभ, अन्य किस्म की आय, वैयक्तिक अथवा कम्पनी की आय, अथवा सार्वजनिक या निजी कम्पनियों की आय) पर एक रुपये में 7 आने की एक ही दर से कर वसूल किया जायगा (वर्तमान विविध दरों एवं छूटों की एवज में)। इसका अपवाद केवल यह होगा कि जब व्यक्तियों की समस्त लाभकारी प्राप्तियां 25,000 रु० से कम होंगी तो उन पर कम दरों के अनुसार कर लगाया जायगा। प्रशासनिक व्यवस्था और कर की चोरी एवं सभी तरह की कमियों को रोकने के लिए इस व्यवस्था के प्रशासनिक लाभ पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है।

ामित्व में होने वाली समस्त सम्पत्ति का पूरा विवरण होता है) तो कर
की चोरी करना और कर को छिपाना और भी मुश्किल हो जायगा, और
ह केवल इस कारण से नहीं कि वैयक्तिक करदाता विशेष प्राप्तियों अथवा
म्पत्ति की मदों को बराबर छिपाने में कठिनाई महसूस करेगा बल्कि इस
ारण से कि एक करदाता के द्वारा दिये जाने वाले प्रमाण (अपने स्वयं के
ायित्व को कम करने के हित में) दूसरों के द्वारा प्रस्तुत किये गये विवरण
ी जांच में प्रत्यक्षतः मदद देते हैं। उदाहरण के लिए, वैयक्तिक खर्च-कर के
लए 'क' के दायित्व का हिसाब लगाने के लिए समस्त "करमुक्त व्यय" विवरण
ं दिखाये जाने चाहिएँ और ये ही करमुक्त व्यय 'ख' के लिए किसी-न-किसी
रदेय प्राप्ति को सूचित करते हैं (जैसे लाभ, पूंजीगत लाभ, उपहार, इत्यादि)।
सी प्रकार से चूंकि इस प्रणाली में पूंजीगत सौदों पर समस्त लाभ या हानि
ी राशियाँ खाते में दिखलाई जाती हैं, इसलिए बिक्री के हिसाब के जरिए
ूंजीगत परिसम्पत्तियों की समस्त नई खरीद की स्वतः जांच हो जाती है और
यह क्रेता के हित में होगा कि वह जिस क़ीमत पर परिसम्पत्ति खरीदी गई है
उससे कम क़ीमत न दिखावे, क्योंकि इससे पूंजीगत लाभ पर कर के रूप में
उसकी भावी देयता और वैयक्तिक खर्च-कर के रूप में उसकी देयता बढ़
जायगी।

(इ) समस्त सम्पत्ति को शामिल करने वाली स्वत. रिपोर्ट की प्रणाली (An Automatic Reporting System extending to All Property):—

समस्त सम्पत्ति सम्बन्धी सौदों और एक निश्चित राशि से ऊपर के समस्त नक़द भुगतानों को शामिल करने वाली प्रणाली की रूपरेखा अध्याय 6 में दी गई है। जैसा कि वहाँ बतलाया गया है, कोड संख्याओं और कर के वाउचरों की प्रणाली के द्वारा पंजीयन की आवश्यकता वाले एवं स्टाम्प शुल्क को आकर्षित करने वाले समस्त सम्पत्ति-सम्बन्धी सौदों के लिए स्वतः रिपोर्ट देने की प्रणाली को लागू करना (प्रशासनिक दृष्टि से) अपेक्षाकृत सरल होगा। जैसा कि सुझाया गया है, यदि कर वैयक्तिक खर्च एवं आय पर लगाये जाते हैं तो यह प्रणाली अन्य कई तरह के सौदों पर लागू की जा सकती है।

III. प्रमुख प्रस्तावों की रूपरेखा

14. उपर्युक्त सुझावों के अनुसार होने वाली प्रभावशाली प्रणाली में कर (अ) आमदनी; (आ) पूंजीगत लाभ; (इ) विशुद्ध धन; (ई) वैयक्तिक खर्च ; (उ) उपहारों पर लगाये जाने चाहिए। ये सब एक ही बार में

निर्धारित किये जा सकते हैं और करदाता के द्वारा प्रस्तुत किये गये एक ही व्यापक प्रविवरण के आधार पर लगाये जा सकते हैं।

(अ) आयकर:—वर्तमान आयकर और अधि-कर के स्थान पर एक ही आयकर होना चाहिए जो व्यक्तियों और साझेदारियों आदि के लिए 25,000 रु० तक की वार्षिक आय के लिए तो आरोही (progressive) हो और इससे ऊपर समस्त आय पर प्रति रुपये 7 आने की समान दर से लगाया जाय। अतः आमदनी पर उस सीमा से ऊपर सर्वोच्च सीमान्त दर 43¾% (अथवा अधिभार सहित 45%) हो जाती है। कम्पनियों से आयकर नहीं लिया जाना चाहिए बल्कि उनको अपनी सम्पूर्ण आय पर प्रति रुपया 7 आने वापिस न किया जाने वाला कर देना चाहिए (वर्तमान आय व निगम करों की एवज में)। उद्गम स्थान पर ही संग्रह कर लेने के लिए ब्याज व लाभांश का भुगतान करते समय 7 आने की अधिकतम राशि आयकर के रूप में घटा कर प्राप्तकर्ता के आयकर-खाते में जमा कर देनी चाहिए।

(आ) पूंजीगत लाभ कर:—वसूली करने पर प्राप्त समस्त पूंजीगत लाभों और समस्त आकस्मिक लाभों और ऐसी पूंजीगत प्राप्तियों जिन पर वर्तमान समय में कर नहीं लगाया जाता है (जैसे समाप्त होने वाले अधिकारों की बिक्री, पट्टे आदि पर प्रीमियम) पर आयकर लगाया जाना चाहिए, जिसका आशय यह है कि मिली-जुली आय (पूंजीगत लाभ सहित) के 25,000 रु० से अधिक होते ही एक रुपये में 7 आने की सीधी दर लागू हो जायगी। कम्पनियों के पूंजीगत लाभों पर भी व्यापारिक लाभों की तरह से ही कर लगाया जाना चाहिए।

इसका आशय यह है कि समस्त लाभकारी प्राप्तियों (beneficial receipts) (चाहे वे व्यापारिक लाभ हों अथवा पूंजीगत लाभ, अन्य किस्म की आय, वैयक्तिक अथवा कम्पनी की आय, अथवा सार्वजनिक या निजी कम्पनियों की आय) पर एक रुपये में 7 आने की एक ही दर से कर वसूल किया जायगा (वर्तमान विविध दरों एवं छूटों की एवज में)। इसका अपवाद केवल यह होगा कि जब व्यक्तियों की समस्त लाभकारी प्राप्तियाँ 25,000 रु० से कम होंगी तो उन पर कम दरों के अनुसार कर लगाया जायगा। [illegible]
सरलता और कर की चोरी एवं [illegible] की [illegible]
[illegible] के [illegible] पर [illegible]

(इ) धन पर वार्षिक कर (Annual Tax on Wealth) :—

यह व्यक्तियों, हिन्दू अविभाजित परिवारों एवं साझेदारियों आदि पर लागू होगा। प्रस्तावित कर की दरें : वैयक्तिक विशुद्ध धन, जैसे, 1,00,000—4,00,000 रु० तक प्रतिवर्ष $\frac{1}{3}$% ; 4,00,001–7,00,000 तक $\frac{1}{2}$%; 7,00,001 10,00,000 तक $\frac{3}{4}$%; 10,00,001–15,00,000 के पूंजीगत मूल्य पर 1% और 15 लाख से ऊपर $1\frac{1}{2}$% (कर का दायित्व शिला प्रणाली पर आंका जायगा)।

(ई) वैयक्तिक व्यय कर :—यह प्रति व्यक्ति के आधार पर दिया जायगा। यह प्रत्येक वयस्क (इस कार्य के लिए शिशुओं को आधे वयस्क के बराबर माना जायगा) के प्रति वर्ष 10,000 रु० से अधिक वैयक्तिक खर्च पर आरोही या वर्द्धमान ढंग से लागू किया जायगा। यह शिला-प्रणाली से आंका जायगा और 10,000—12,500 रु० के बीच के व्यय पर 25% से आरम्भ होकर 50,000 रु० प्रति वयस्क प्रति वर्ष से ऊपर के खर्च पर 300% तक लगाया जायगा। (दृष्टान्त : चार व्यक्तियों का एक परिवार जिसमें पिता, माता व २ बच्चे हैं, एक वर्ष में 40,000 रु० खर्च करता है। चूंकि परिवार में 3 वयस्क इकाइयां हैं इसलिए प्रति वयस्क 13,333 रु० व्यय आता है और कर-देयता (tax liability) करदेय व्यय के प्रथम 3,333 रु० पर लगने वाले कर की तिगुनी होगी।[1]

(उ) सामान्य उपहार-कर :—यह किसी भी अकेले उपहार-प्राप्तकर्ता के लिए 10,000 रु० से अधिक के उपहारों पर दिया जायगा। कर की दर

---

1. खर्च-कर की ये प्रस्तावित दरें इस प्रकार से चुनी गई है कि इनकी वजह से कर तभी लागू होता है जब कि एक सामान्य पारिवारिक इकाई का विशुद्ध व्यय प्रति वर्ष 40,000 रु० की करदेय आय पर बचने वाली विशुद्ध आय से अधिक होता है। यह वह स्तर है जिस पर इस समय मिली-जुली आय व अधिकर (super tax) की दर एक रुपये में 7 आने की सीमान्त दर से अधिक होने लगती है जिससे यह कर प्रति रुपये 3 आने से ऊपर की सिमाओं पर वर्तमान अधि-कर के घाटे की एवज में प्रतिस्थापित हो जाता है। वास्तव में अपेक्षाकृत नीची छूट की सीमाओं को निर्धारित करना सम्भव होता है जो भारत में ऊंची आमदनी वाले वर्गों के रहन-सहन के स्तर एवं खर्च के स्तरों के ज्यादा अनुकूल होता है।

प्राप्तकर्ता की कुल विशुद्ध सम्पत्ति पर निर्भर करेगी (जो वार्षिक धन-कर के लिए आंकी गई है)। यह 1,00,000 रु० से नीचे की विशुद्ध सम्पत्ति पर 10% होगी, और अपेक्षाकृत ऊंची विशुद्ध सम्पत्ति पर उसी स्तर की प्रचलित मृत्यु-कर अथवा मृत-सम्पत्ति-कर की दरों की दुगनी होगी, अर्थात् 15 से 80% की दर होगी जो पाने वाले की विशुद्ध सम्पत्ति की मात्रा पर निर्भर करेगी। (उदाहरण: (i) क को अपने माता-पिता से 50,000 रु० का उपहार मिलता है; उसके पास अपनी सम्पत्ति नहीं है, उसका कर का दायित्व 4,000 रु० होगा। (ii) ख को 50,000 रु० की वसीयत मिलती है और उसके पास (वसीयत से पूर्व) विशुद्ध सम्पत्ति 2,50,000 रु० की थी ऐसी स्थिति मे ख का दायित्व 40,000 पर 25% अर्थात् 10,000 रु० होगा। (iii) ग को अपने पिता से उत्तराधिकार मे 2,00,000 रु० मिलते हैं, उसके पास और कोई सम्पत्ति नहीं है तो उसका कर सम्बन्धी दायित्व 26,500 रु० का होगा। (iv) घ 5,00,000 रु० की सम्पत्ति का मालिक है; उसको 50000 रु० का उपहार मिलता है; उसकी करदेयता 40,000 रु० का 40% अर्थात् 16,000 रु० है। हमारा यह सुझाव है कि जब वार्षिक धन-कर क्रियान्वित हो जाय और वार्षिक विशुद्ध धन पर पर्याप्त प्रतिफल प्राप्त होने लग जाय तो उपर्युक्त उपहार-कर को पूरी तरह वर्तमान मृत-सम्पत्ति-कर का स्थान ले लेना चाहिए। मृत-सम्पत्ति-कर तो पुरानी धारणा पर ही टिका हुआ है। उत्तराधिकार करों का वास्तविक भार उत्तराधिकार की राशि पाने वालों पर पड़ता है, न कि मृत व्यक्ति पर। साथ में यह बात भी है कि जीवित दशा में दिये जाने वाले उपहारों और दाय अथवा उत्तराधिकार के रूप मे मिलने वाली प्राप्ति के बीच अंतर करने का न्याय की दृष्टि से तो कोई औचित्य नहीं है। अतः यह उचित होगा कि उपहारों पर एक ही आरोही कर मृत-सम्पत्ति-कर का स्थान ग्रहण करले और साथ में वह अन्य समस्त नि:शुल्क एवं अर्द्ध नि:शुल्क सम्पत्ति के हस्तान्तरणों पर भी कर का काम दे सके।[1] (वास्तव मे 10,000 रु० की छूट तो एक विशेष व्यक्ति के द्वारा प्राप्त प्रारम्भिक उपहार पर ही मिलनी चाहिए।)

1.

[1] /र ऊंचे होने
आकार के
आकार के
मृत-सम्पत्ति-

(इ) धन पर वार्षिक कर (Annual Tax on Wealth) :—

यह व्यक्तियों, हिन्दू अविभाजित परिवारों एवं साझेदारियों आदि पर लागू होगा। प्रस्तावित कर की दरें : वैयक्तिक विशुद्ध धन, जैसे, 1,00,000–4,00,000 रु० तक प्रति वर्ष $\frac{1}{3}$% ; 4,00,001–7,00,000 तक $\frac{1}{2}$%; 7,00,001 10,00,000 तक $\frac{3}{4}$%; 10,00,001–15,00,000 के पूंजीगत मूल्य पर 1% और 15 लाख से ऊपर $1\frac{1}{2}$% (कर का दायित्व शिला प्रणाली पर आंका जायगा)।

(ई) वैयक्तिक व्यय कर :—यह प्रति व्यक्ति के आधार पर दिया जायगा। यह प्रत्येक वयस्क (इस कार्य के लिए शिशुओं को आधे वयस्क के बराबर माना जायगा) के प्रति वर्ष 10,000 रु० से अधिक वैयक्तिक खर्च पर आरोही या वर्द्धमान ढंग से लागू किया जायगा। यह शिला-प्रणाली से आंका जायगा और 10,000—12,500 रु० के बीच के व्यय पर 25% से आरम्भ होकर 50,000 रु० प्रति वयस्क प्रति वर्ष से ऊपर के खर्च पर 300% तक लगाया जायगा। (दृष्टान्त : चार व्यक्तियों का एक परिवार जिसमें पिता, माता व २ बच्चे हैं, एक वर्ष में 40,000 रु० खर्च करता है। चूंकि परिवार में 3 व्यस्क इकाइयां हैं इसलिए प्रति वयस्क 13,333 रु० व्यय आता है और कर-देयता (tax liability) करदेय व्यय के प्रथम 3,333 रु० पर लगने वाले कर की तिगुनी होगी।[1]

(उ) सामान्य उपहार-कर :—यह किसी भी अकेले उपहार-प्राप्तकर्ता के लिए 10,000 रु० से अधिक के उपहारों पर दिया जायगा। कर की दर

---

1. खर्च-कर की ये प्रस्तावित दरें इस प्रकार से चुनी गई है कि इनकी वजह से कर तभी लागू होता है जब कि एक सामान्य पारिवारिक इकाई का विशुद्ध व्यय प्रति वर्ष 40,000 रु० की करदेय आय पर बचने वाली विशुद्ध आय से अधिक होता है। यह वह स्तर है जिस पर इस समय मिली-जुली आय व अधिकर (...) की दर एक रुपये में 7 आने की सीमान्त दर से अधिक होती ... रुपये 3 आने से ऊपर की शिला... एवज में प्रतिस्थापित हो जाता... सीमाओं को निर्धारित करना... ...वर्गों के रहन-सहन के...

प्राप्तकर्ता की कुल विशुद्ध सम्पत्ति पर निर्भर करेगी (जो वार्षिक धन-कर लिए आंकी गई है)। यह 1,00,000 रु० से नीचे की विशुद्ध सम्पत्ति पर 10% होगी, और अपेक्षाकृत ऊंची विशुद्ध सम्पत्ति पर उसी स्तर की प्रचलित मृत्यु कर अथवा मृत-सम्पत्ति-कर की दरों की दुगनी होगी, अर्थात् 15 से 80% व दर होगी जो पाने वाले की विशुद्ध सम्पत्ति की मात्रा पर निर्भर करेगी (उदाहरण : (i) क को अपने माता-पिता से 50,000 रु० का उपहार मिलत है; उसके पास अपनी सम्पत्ति नहीं है, उसका कर का दायित्व 4,000 रु होगा। (ii) ख को 50,000 रु० की वसीयत मिलती है और उसके पा (वसीयत से पूर्व) विशुद्ध सम्पत्ति 2,50,000 रु० की थी ऐसी स्थिति में ख व दायित्व 40,000 पर 25% अर्थात् 10,000 रु० होगा। (iii) ग को अपने पित से उत्तराधिकार में 2,00,000 रु० मिलते हैं, उसके पास और कोई सम्पि

(इ) धन पर वार्षिक कर (Annual Tax on Wealth) :—

यह व्यक्तियों, हिन्दू अविभाजित परिवारों एवं साझेदारियों आदि पर लागू होगा। प्रस्तावित कर की दरें : वैयक्तिक विशुद्ध धन, जैसे, 1,00,000–4,00,000 रु० तक प्रतिवर्ष $\frac{1}{3}\%$; 4,00,001–7,00,000 तक $\frac{1}{2}\%$; 7,00,001 10,00,000 तक $\frac{3}{4}\%$; 10,00,001–15,00,000 के पूंजीगत मूल्य पर 1% और 15 लाख से ऊपर $1\frac{1}{2}\%$ (कर का दायित्व शिला प्रणाली पर आंका जायगा)।

(ई) वैयक्तिक व्यय कर :—यह प्रति व्यक्ति के आधार पर दिया जायगा। यह प्रत्येक वयस्क (इस कार्य के लिए शिशुओं को आधे वयस्क के बराबर माना जायगा) के प्रति वर्ष 10,000 रु० से अधिक वैयक्तिक खर्च पर आरोही या वर्द्धमान ढंग से लागू किया जायगा। यह शिला-प्रणाली से आंका जायगा और 10,000—12,500 रु० के बीच के व्यय पर 25% से आरम्भ होकर 50,000 रु० प्रति वयस्क प्रति वर्ष से ऊपर के खर्च पर 300% तक लगाया जायगा। (दृष्टान्त : चार व्यक्तियों का एक परिवार जिसमें पिता, माता व २ बच्चे हैं, एक वर्ष में 40,000 रु० खर्च करता है। चूंकि परिवार में 3 व्यस्क इकाइयां हैं इसलिए प्रति वयस्क 13,333 रु० व्यय आता है और कर-देयता (tax liability) करदेय व्यय के प्रथम 3,333 रु० पर लगने वाले कर की तिगुनी होगी।[1]

(उ) सामान्य उपहार-कर :—यह किसी भी अकेले उपहार-प्राप्तकर्त्ता के लिए 10,000 रु० से अधिक के उपहारों पर दिया जायगा। कर की दर

1. खर्च-कर की ये प्रस्तावित दरें इस प्रकार से चुनी गई हैं कि इनकी वजह से कर तभी लागू होता है जब कि एक सामान्य पारिवारिक इकाई का विशुद्ध व्यय प्रति वर्ष 40,000 रु० की करदेय आय पर बचने वाली विशुद्ध आय से अधिक होता है। यह वह स्तर है जिस पर इस समय मिली-जुली आय व अधिकर (super tax) की दर एक रुपये में 7 आने की सीमान्त दर से अधिक होने लगती है जिससे यह कर प्रति रुपये 3 आने से ऊपर की शिलाओं पर वर्तमान अधि-कर के घाटे की एवज में प्रतिस्थापित हो जाता है। वास्तव में अपेक्षाकृत नीची छूट की सीमाओं को निर्धारित करना सम्भव होता है जो भारत में ऊंची आमदनी वाले वर्गों के रहन-सहन के स्तर एवं खर्च के स्तरों के ज्यादा अनुकूल होता है।

प्राप्तकर्ता की कुल विशुद्ध सम्पत्ति पर निर्भर करेगी (जो वार्षिक धन-कर के लिए मानी गई है)। यह 1,00,000 रु० से नीचे की विशुद्ध सम्पत्ति पर 10% होगी, और अपेक्षाकृत ऊंची विशुद्ध सम्पत्ति पर उसी स्तर की प्रचलित मृत्यु-कर अथवा मृत-सम्पत्ति-कर की दरों की दुगनी होगी, अर्थात् 15 से 80% की दर होगी जो पाने वाले की विशुद्ध सम्पत्ति की मात्रा पर निर्भर करेगी। (उदाहरण : (i) क को अपने माता-पिता से 50,000 रु० का उपहार मिलता है; उसके पास अपनी सम्पत्ति नहीं है; उसका कर का दायित्व 4,000 रु० होगा। (ii) ख को 50,000 रु० की वसीयत मिलती है और उसके पास (वसीयत से पूर्व) विशुद्ध सम्पत्ति 2,50,000 रु० की थी ऐसी स्थिति में ख का दायित्व 40,000 पर 25% अर्थात् 10,000 रु० होगा। (iii) ग को अपने पिता से उत्तराधिकार में 2,00,000 रु० मिलते हैं, उसके पास और कोई सम्पत्ति नहीं है तो उसका कर सम्बन्धी दायित्व 26,500 रु० का होगा। (iv) घ 5,00,000 रु० की सम्पत्ति का मालिक है; उसको 50000 रु० का उपहार मिलता है; उसकी करदेयता 40,000 रु० का 40% अर्थात् 16,000 रु० है। हमारा यह सुझाव है कि जब वार्षिक धन-कर क्रियान्वित हो जाय और वार्षिक विशुद्ध धन पर पर्याप्त प्रतिफल प्राप्त होने लग जाय तो उपर्युक्त उपहार-कर को पूरी तरह वर्तमान मृत-सम्पत्ति-कर का स्थान ले लेना चाहिए। मृत-सम्पत्ति-कर तो पुरानी धारणा पर ही टिका हुआ है। उत्तराधिकार करों का वास्तविक भार उत्तराधिकार की राशि पाने वालों पर पड़ता है न कि मृत व्यक्ति पर। साथ में यह बात भी है कि जीवित दशा में दिये जाने वाले उपहारों और दाय अथवा उत्तराधिकार के रूप में मिलने वाली प्राप्ति के बीच अन्तर करने का न्याय की दृष्टि से तो कोई औचित्य नहीं है। अत यह उचित होगा कि उपहारों पर एक ही आरोही कर मृत-सम्पत्ति-कर का स्थान ग्रहण करले और साथ में वह अन्य समस्त नि:शुल्क एवं अर्द्ध नि:शुल्क सम्पत्ति के हस्तान्तरणों पर भी कर का काम दे सके।[1] (वास्तव में 10,000 रु० की छूट तो एक विशेष व्यक्ति के द्वारा प्राप्त प्रारम्भिक उपहार पर ही मिलनी चाहिए।)

---

1. कर की दरें और आरोहीपन का अंश वास्तव में मृत सम्पत्ति-कर ऊंचे होने चाहिएं, क्योंकि दरें वैयक्तिक उपहार अथवा उत्तराधिकार के आकार के अनुसार बदलती हैं, न कि देने वाले की कुल सम्पत्ति के आकार के अनुसार; इसलिये यह सुझाव दिया गया है कि दरें चालू मृत-सम्पत्ति-कर की दरों की दुगुनी होनी चाहिए।

सम्पत्ति-मूल्य का सम्बन्ध एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के बीच इतना भिन्न होता है कि इस प्रश्न पर अर्जित आय पर छूट देने की पद्धति के द्वारा पर्याप्त रूप से विचार नहीं किया जा सकता है, चाहे वह छूट आय की सभी सीमाओं तक फैला दी जाय और वर्तमान की तुलना मे काफी अधिक कर दी जाय।)

(अ) आर्थिक प्रभावों के दृष्टिकोण से आय पर निर्धारित होने वाले करों के विपरीत सम्पत्ति-मूल्य पर निर्धारित होने वाले करों का एक बड़ा लाभ यह है कि सम्पत्ति-कर आयकर की भाँति पूजी के जोखिमयुक्त उपयोग के विपरीत भेद-भाव नहीं करता है। यदि एक व्यक्ति 3% आय वाले सरकारी बांडों में अपना द्रव्य लगाकर "सुरक्षित" प्रतिफल प्राप्त कर सकता है जबकि वह इसको उत्पादक व्यापार में लगाकर 10% प्राप्त करने की आशा कर सकता था, तो 7% का अंतर पूंजी के उत्पादक उपयोग से सम्बन्धित जोखिमों का विनियोगकर्ता के आत्मनिष्ठ अनुमान (subjective estimate) का माप माना जा सकता है। आय-कर जोखिम उठाकर प्राप्त की गई अतिरिक्त आय पर उसी तरह से कर लगाकर जैसे कि यह "सुरक्षित" आय हो, जोखिम उठाने के विपक्ष मे भेद-भाव करता है। सम्पत्ति-कर के अन्तर्गत एक से सम्पत्ति-मूल्य पर एक-सा कर लगता है चाहे यह सम्पत्ति 3% आय देने वाले सरकारी बांडों मे विनियोजित की गई हो अथवा 10% आय देने वाले उत्पादक उपयोगो मे अथवा नकद-राशि या हीरे-जवाहरात आदि मे जिनसे कोई मौद्रिक आय प्राप्त नहीं होती है।

यह तो सच है कि आयकर की वर्तमान प्रणाली मे जहाँ पूजीगत लाभों अथवा पूँजीगत मुनाफो को कराधान से बिलकुल मुक्त रखा जाता है, जोखिम उठाने के अतिरिक्त पारितोषिक का एक बड़ा भाग वास्तव मे कोई कर नही उठाता है क्योंकि यह करदेय आय की अपेक्षा पूजीगत लाभों का रूप ले लेता है। इसके विपरीत सम्पत्ति-कर पूजी की मूल्य-वृद्धि से उत्पन्न राशि को स्वतः कर के अन्तर्गत ला देता है। इतने पर भी वार्षिक पूजी-कर पूजी के उत्पादक उपयोग को वर्तमान सीमित आयकर की तुलना में कम निरुत्साहित करता है। इसका कारण यह है कि आयकर पूँजीगत लाभों को तो कर से मुक्त रखता है, लेकिन साथ में यह स्वर्ण एवं हीरे-जवाहरात आदि के रूप में धन के सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक संग्रह को भी कर से पूर्णतया मुक्त कर देता है। सम्पत्ति-कर इन सबको धन-संग्रह के रूप में कम आकर्षक बना देता है।

(ड) प्रशासनिक कुशलता के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट लगता होगा कि सम्पत्ति का मूल्य वर्तमान आय के भाग से कुछ भिन्न हो होता है, लेकिन व्यवहार में इन दोनों का इस अर्थ में निकट का सम्बन्ध होता है कि आय और सभी किस्म की सम्पत्ति की आय (विशेषकर एवं व्यावसायिक फर्मों के साझेदारी भागों के अलावा) के पीछे कहीं कुछ न कुछ परिसम्पत्ति खड़ी होती है, और इसी तरह से सम्पत्ति के अधिकांश रूप (हालांकि सभी नहीं) किसी-न-किसी तरह की मौद्रिक आय या लाभ प्रदान करते हैं। इसलिए यदि एक ही करअधिकारी के द्वारा आय और सम्पत्ति दोनों पर कर निर्धारित किये जाते हैं तो ऐसी स्थिति में व्यवस्था की प्रशासनिक कार्यकुशलता बढ़ जायेगी। इसका कारण यह है कि जब हम इस बात की जाँच करते हैं कि एक व्यक्ति के पास कितनी सम्पत्ति है तो उसकी छिपाई हुई आय का प्रायः पता लग जाता है। इसी प्रकार से किसी की आमदनी की जाँच से उसके द्वारा छिपाई हुई सम्पत्ति को अवश्य ढूँढा जा सकता है। अतः इनमें से किसी एक पर कर लगाने की अपेक्षा दोनों पर कर लगाने से कर की चोरी और कर को छिपाने पर ज्यादा अच्छी रोक लग सकेगी।

III. धन पर वार्षिक कर के विपक्ष में तर्क

विद्यास मात्रा में लाभ होने पर भी धन पर आरोही वार्षिक कर अभी तक कुछ ही देशों में अपनाया गया है। अन्य देशों में करापान के क्षेत्र से इसको बाहर रखने के लिए अनेक कारण दिये गये हैं जिनमें से बहुत थोड़े ही गम्भीर जाँच करने पर सही निकलते हैं। इस कर के विपक्ष में दिये जाने वाले तर्कों को भी न्याय, आर्थिक प्रभाव एवं प्रशासनिक कुशलता के वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

यह सुझाव दिया गया है (कभी कभी प्रोफेसर पीगू जैसे महान अर्थशास्त्री भी इसमें शामिल होते हैं) कि सम्पत्ति पर वार्षिक कर असमान (inequitable) होता है क्योंकि समस्त सम्पत्ति आय नहीं देती है और सम्पत्ति पर लगाया जाने वाला कर एक व्यक्ति को भुगतान के लिए बाध्य कर सकता है "चाहे उसके पास भुगतान के लिए आय न हो"। ये सब तर्क "आय" के आशय को सिद्ध करने की बजाय इसको पूर्णतया मान कर चलते हैं। जिस सम्पत्ति का धनात्मक बाजार मूल्य होता है (जो वर्तमान में खरीदी और बेची जा सकती है अथवा सम्पत्ति के अन्य रूपों से बदली जा सकती है) उससे उसके स्वामी को इतना लाभ तो अवश्य होना चाहिए जिसकी सम्पत्ति (जो वह खरीद सकता था) के अन्य रूपों से प्राप्त लाभ से तुलना अवश्य की जा सके।

यदि ऐसा नहीं हो सका तो वह इसे बेच देगा और इसके बदले में और कुछ ले लेगा (इसका एक मात्र अपवाद अहस्तान्तरणीय सम्पत्ति है जिसे उसका स्वामी हस्तान्तरित नहीं कर सकता है)। यदि किसी सम्पत्ति से मौद्रिक आय नहीं मिलती है तो इससे या तो उसके स्वामी को बराबर की काल्पनिक आय (psychic income) मिलती है अथवा यह इस आशा से रखी जाती है कि इससे मूल्य में कुछ वृद्धि हो जायगी। यह बात इसके धारक के लिए इसे कम-से-कम उस सम्पत्ति जितना आकर्षक बना देती है जिस पर प्रचलित मौद्रिक प्रतिफल प्राप्त किया जाता है।[1] अतः यह सम्पत्ति-कर के विपक्ष में एक तर्क होने के बजाय आयकर का एक अन्तर्निहित दोष बतलाता है जो सम्पत्ति से प्राप्त-राशि के एक विशेष रूप, जैसे मौद्रिक आय, पर अन्य रूपों को छोड़कर ध्यान केन्द्रित करता है।

धन-कर के विपक्ष में दिये जाने वाले आर्थिक तर्क कभी तो उत्पादक उद्यम पर कर के तथाकथित निरुत्साहित करने वाले प्रभाव को सूचित करते हैं और कभी करापात के करदाता से अन्तिम उपभोक्ता तक खिसका दिये जाने की सम्भावना को सूचित करते हैं।

(ख) जहाँ तक उद्यम को निरुत्साहित करने वाले प्रभावों का सम्बन्ध है वास्तव में यह तो सच है कि धन पर लगाया जाने वाला कर कोई भी कर न लगाने की स्थिति की तुलना में तो एक निरुत्साहित करने वाला प्रभाव डालता है। लेकिन जैसा कि हम बतला चुके हैं, यह उस स्थिति की तुलना में कम निरुत्साहित करने वाला प्रभाव डालता है जब कर की इतनी ही मात्रा आयकर के रूप में करदाता से एकत्र की जाती है। (यह तर्क कि पूंजीपति अब आय को पूंजीगत लाभों में बदल कर आयकर की चोरी कर सकते हैं, जब कि सम्पत्ति-कर के सम्बन्ध में उतनी चोरी की सम्भावनाएं नहीं पाई जाती है, सम्पत्ति-कर के विपक्ष में और आयकर के पक्ष में कोई उचित कारण नहीं माना जा सकता है।

1. यदि एक व्यक्ति, मान लीजिए, एक सोने की विकासशील खान के शेयर रखता है और प्रति वर्ष शेयरों के मूल्य में वृद्धि की आशा की जाती है और वृद्धि होती भी है, तो क्या हम वस्तुतः इस लाभ में (जो पूंजीगत लाभ का रूप ले लेता है) और उस लाभ में जो उन पर दिये जाने वाले लाभांश का रूप लेता है, अन्तर कर सकते हैं ?

(इ) प्रशासनिक कुशलता के दृष्टिकोण से यह स्मरण रखना होगा कि सम्पत्ति का मूल्य वार्षिक लाभ या आय से कुछ भिन्न तो होता है, लेकिन वास्तव में इन दोनों का इस अर्थ में निकट का सम्बन्ध होता है कि लाभ और सभी किस्म की सम्पत्ति की आय (पेशेवार एवं व्यावसायिक क्रियाओं से सम्बन्धित लाभों के अलावा) के पीछे सदैव कुछ स्थूल परिसम्पत्ति पाई जाती है, और इसी तरह से सम्पत्ति के अधिकांश रूप (हालांकि सभी नहीं) किसी-न-किसी तरह की मौद्रिक आय या लाभ प्रदान करते हैं। इसलिए यदि एक ही कराधिकारी के द्वारा आय और सम्पत्ति दोनों पर कर निर्धारित किये जाते हैं तो ऐसी स्थिति में व्यवस्था की प्रशासनिक कार्यकुशलता अवश्य सुधरेगी। इसका कारण यह है कि जब हम इस बात की जाँच करते हैं कि एक व्यक्ति के पास कितनी सम्पत्ति है तो उसकी छिपाई हुई आय का अवश्य पता लग जाता है। इसी प्रकार से किसी की आमदनी की जाँच से उसके द्वारा छिपाई हुई सम्पत्ति को अवश्य ढूंढ़ा जा सकता है। अतः इनमें से किसी एक पर कर लगाने की बनिस्बत दोनों पर कर लगाने से कर की चोरी और कर को छिपाने पर ज्यादा अच्छी रोक लग सकेगी।

III. धन पर वार्षिक कर के विपक्ष में तर्क

विशाल मात्रा में लाभ होते पर भी धन पर आरोही वार्षिक कर अभी तक कुछ ही देशों में अपनाया गया है। अन्य देशों में कराधान के क्षेत्र से इसको बाहर रखने के लिए अनेक कारण दिये गये हैं जिनमें से बहुत थोड़े ही गम्भीर जाँच करने पर सही निकलते हैं। इस कर के विपक्ष में दिये जाने वाले तर्कों को भी न्याय, आर्थिक प्रभाव एवं प्रशासनिक कुशलता के वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

यदि ऐसा नहीं हो सका तो वह इसे बेच देगा और इसके बदले में और कुछ ले लेगा (इसका एक मात्र अपवाद अहस्तान्तरणीय सम्पत्ति है जिसे उसका स्वामी हस्तान्तरित नहीं कर सकता है)। यदि किसी सम्पत्ति से मौद्रिक आय नहीं मिलती है तो इससे या तो उसके स्वामी को बराबर की काल्पनिक आय (psychic income) मिलती है अथवा यह इस आशा से रखी जाती है कि इससे मूल्य मे कुछ वृद्धि हो जायगी। यह बात इसके धारक के लिए इसे कम-से-कम उस सम्पत्ति जितना आकर्षक बना देती है जिस पर प्रचलित मौद्रिक प्रतिफल प्राप्त किया जाता है।[1] अत. यह सम्पत्ति-कर के विपक्ष मे एक तर्क होने के बजाय आयकर का एक अन्तर्निहित दोष बतलाता है जो सम्पत्ति से प्राप्त-राशि के एक विशेष रूप, जैसे मौद्रिक आय, पर अन्य रूपों को छोड़कर ध्यान केन्द्रित करता है।

धन-कर के विपक्ष में दिये जाने वाले आर्थिक तर्क कभी तो उत्पादक उद्यम पर कर के तथाकथित निरुत्साहित करने वाले प्रभाव को सूचित करते हैं और कभी करापात के करदाता से अन्तिम उपभोक्ता तक खिसका दिये जाने की सम्भावना को सूचित करते हैं।

(अ) जहाँ तक उद्यम को निरुत्साहित करने वाले प्रभावों का सम्बन्ध है वास्तव में यह तो सच है कि धन पर लगाया जाने वाला कर कोई भी कर न लगाने की स्थिति की तुलना में तो एक निरुत्साहित करने वाला प्रभाव डालता है। लेकिन जैसा कि हम बतला चुके हैं, यह उस स्थिति की तुलना में कम निरुत्साहित करने वाला प्रभाव डालता है जब कर की इतनी ही मात्रा आयकर के रूप मे करदाता से एकत्र की जाती है। (यह तर्क कि पूंजीपति अब आय को पूंजीगत लाभों में बदल कर आयकर की चोरी कर सकते हैं, जब कि सम्पत्ति-कर के सम्बन्ध मे उतनी चोरी की सम्भावनाएं नहीं पाई जाती हैं, सम्पत्ति-कर के विपक्ष में और आयकर के पक्ष मे कोई उचित कारण नहीं माना जा सकता है।

---

1. यदि एक व्यक्ति, मान लीजिए, एक सोने की विकासशील खान के शेयर रखता है और प्रति वर्ष शेयरों के मूल्य में वृद्धि की आशा की जाती है और वृद्धि होती भी है, तो क्या हम सचमुच इस लाभ मे (जो पूंजीगत लाभ का रूप ले लेता है) और उस लाभ मे जो उन पर दिये जाने वाले लाभांश का रूप लेता है, अन्तर कर सकते हैं ?

(आ) यह विचार त्रुटिपूर्ण है कि सम्पत्ति-कर का भार वस्तु-करों के भार की भांति ही खिसकाया या टाला जा सकता है। केवल इसलिए कि यह कर पूंजी के मूल्य पर लगाया जाता है, चाहे पूंजी का कुछ भी उपयोग क्यों न किया जाय इस कर में विभेदात्मक प्रभाव की कमी होती है जिसके द्वारा ही करभार को खिसकाना सम्भव हो सकता है। वास्तव में सम्पत्ति पर वार्षिक कर के भार को खिसकाने की सम्भावना आय पर लगाने वाले कर की तुलना में काफी कम होती है।

प्राय यह कहा जाता है कि प्रशासनिक दृष्टिकोण से वार्षिक सम्पत्ति-कर निम्न कारणों से कर-निर्धारण की विशेष समस्याएँ प्रस्तुत करता है: (अ) सम्पत्ति के सच्चे स्वामियों का 'पता लगाने" की कठिनाइयाँ, और (आ) मूल्यांकन की कठिनाइयां। इन पहलुओं पर कुछ विस्तार से नीचे चर्चा की जाती है।

"पता लगाने" की समस्या :—कम राशि बतलाने एवं छिपाने की समस्या के सम्बन्ध में वास्तव मे यह स्मरण रखना होगा कि एक व्यक्ति की सम्पत्ति का "पता लगाने" का उसकी आय का "पता लगाने" से गहरा सम्बन्ध होता है। यदि सम्पत्ति छिपाई जा सकती है तो आय भी छिपाई जा सकती है, यदि आय का पता होता है तो आय के पीछे होने वाली सम्पत्ति का भी पता लगाया जा सकता है। अतः वार्षिक सम्पत्ति-कर के लागू करने से पता लगाने की दृष्टि से जो समस्याएं पहले ही आयकर के कारण उठानी पड़ती हैं, उनसे कोई बहुत ज्यादा अतिरिक्त समस्याएं उत्पन्न नहीं हो जाती हैं। इसके विपरीत, करदाता पर उसके कुल विशुद्ध धन और उसकी आय का वार्षिक प्रविवरण भेजने का दायित्व डालने से आयकर की चोरी को रोकने मे काफी मदद मिलती है, ठीक उसी तरह जैसे कि आयकर के अस्तित्व से वार्षिक सम्पत्ति-कर की चोरी को रोकने मे मदद मिलती है। हम प्रथम अध्याय मे बतला चुके हैं कि यदि एक व्यक्तिक करदाता को उसके व्यक्तिगत मामलों का व्यापक हिसाब देने के लिए कहा जाता है—वर्ष के प्रारम्भ में और अंत में उसकी परिसम्पत्ति की स्थिति; उसको प्राप्त होने वाली कुल राशि और उसका वैयक्तिक खर्चों एवं विनियोगों के बीच उपयोग—तो एक भी मद को छिपाना बहुत मुश्किल हो जाता है क्योंकि इसके लिए खातों को मिथ्या बनाने में एक तरह का मेल बैठाना पड़ता है। इसके लिए आवश्यक शर्त यह है कि दोनों करों का निर्धारण एवं प्रशासन एक दूसरे से गहरा जुड़ा

हुआ होना चाहिए। कर-निर्धारण का कार्य एक ही व्यापक प्रविवरण के आधार पर एक ही कर-अधिकारी के द्वारा किया जाना चाहिए।

यहाँ पर कहने का आशय यह नहीं है कि वार्षिक धन-कर का (आय-कर से ज्यादा) प्रशासन कुशलतापूर्वक किया जा सकता है (अर्थात् केवल सीमित मात्रा में ही छल से कर की चोरी करके) और इसके लिए सम्पत्ति के स्वामित्व के पंजीयन एवं नियन्त्रण की वर्तमान पद्धतियों में काफी कड़ाई लाने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सुधारों का वर्णन नीचे किया जाता है :

(अ) चूंकि इस समय शहरी सम्पत्ति के सम्बन्ध में नगरपालिका के रिकार्ड दोषपूर्ण एवं अपूर्ण माने जाते हैं, इसलिए स्थानीय वित्त-जांच-समिति की सिफारिशों के अनुसार अखिल भारतीय आधार पर शहरी सम्पत्ति की सूची बनाने एवं मूल्यांकन करने के लिए एक केन्द्रीय रिकार्ड कार्यालय स्थापित करना ज्यादा उचित होगा।

(आ) अंत में कुछ-कुछ ऐसा ही ग्रामीण एवं कृषित सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी करना वांछनीय होगा। लेकिन इसमें निःसंदेह रूप से अधिक समय लगेगा और इस अवधि में ग्रामीण रिकार्डों पर भरोसा किया जाना चाहिए जो मेरी समझ में कम से कम गैर-जमींदारी क्षेत्रों में तो काफी ब्यौरेवार हैं, और उनमें कृषि के लिए प्रयुक्त भूमि और भवन-निर्माण के लिए प्रयुक्त भूमि में अंतर भी किया जाता है। (यहां पर यह भी स्मरण रखना होगा कि ग्रामीण सम्पत्ति का एक बड़ा भाग संभवत: उन व्यक्तियों के पास होगा जिनकी कुल सम्पत्ति छूट की उच [illegible] से नीचे होगी जो संभवतया कर के लिए सुझाई गई है।)

(इ) जहां तक काम [illegible] ों में विनियोग का प्रश्न है, "चोरे [illegible] से कर-विभाग की बजाय [illegible] दिये जा सकते हैं। यह [illegible] [illegible] करना कठिन [illegible] के [illegible] से [illegible] [illegible] है कि यदि [illegible] [illegible] है तो कम्पनियों के [illegible] [illegible] और

रूप में उन मदों मात्र के शेयरधारियों की कोई संस्थाओं को भी शामिल किया जा सकता है जिनके नामों में शेयरों का पंजीयन किया गया है।

(ई) सरकारी प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में ब्रिटेन की जैसी व्यवस्था को अपनाना ही उचित होगा जिसके द्वारा समस्त सरकारी प्रतिभूतियों के स्वामियों का रिकार्ड बैंक के पास रजिस्ट्रेशन किया जा सके, और स्वामित्व के परिवर्तनों का भी उसी तरह से रजिस्ट्रेशन (पंजीयन) किया जाना चाहिए जिस तरह से कि अन्य सम्पत्ति के परिवर्तनों का किया जाता है। भारत में सरकारी प्रतिभूतियों पर ब्याज कूपनों से दिया जाता है और हस्तान्तरण प्रतिभूतियों की पीठ पर कोरी बेचान से ही किये जाते हैं। कूपनों को नकद-राशि के लिए प्रस्तुत करते समय वर्तमान प्रतिभूतियों को रजिस्टर्ड किस्म की प्रतिभूतियों से विनिमय करना पूर्णतया सरल होगा।[1]

(उ) चालू स्टॉक मशीनरी और प्लान्ट के सम्बन्ध में समस्याएँ उनसे कोई भिन्न नहीं हैं जिनका हमें पहले ही आयकर के प्रशासन में सामना करना पड़ा था।

(ऊ) सभी किस्म की सम्पत्ति के लिए मैंने छठे अध्याय में यह सुझाव दिया है कि बेनामी धारण (benami holdings) अथवा निक्षेपधारियों (trustees) अथवा नामज़द व्यक्तियों के नाम से होने वाली सम्पत्ति के सम्बन्ध में लाभकारी स्वामित्व (beneficial ownership) का अनिवार्यतः बतलाया जाना आयकर और धन-कर दोनों के कुशल प्रशासन के लिए आवश्यक होता है। ऐसा सर्वश्रेष्ठ ढंग से तभी हो सकता है जब कि नाममात्र के धारक को

1. ब्रिटेन में कम्पनियों के स्टॉक व शेयर एवं सरकारी प्रतिभूतियों के हस्तान्तरण के लिए ठीक उसी तरह से एक हस्तान्तरण-दस्तावेज की आवश्यकता होती है जिस तरह से कि एक वास्तविक सम्पत्ति के हस्तान्तरण के लिए होती है। शेयरों के हस्तान्तरण के मामले में इससे स्टाम्प-शुल्क के भुगतान करने का उद्देश्य भी पूरा हो जाता है। मेरे विचार से भारत में केवल अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण के लिए ही हस्तान्तरण-दस्तावेज (transfer deed) भरने की ज़रूरत पड़ती है। मुझे इस बात के लिए कोई मूलभूत कारण नहीं दिखलाई यह प्रणाली ब्रिटेन की भाँति स्टॉक और शेयर और सरकारी प्रतिभूतियों पर क्यों नहीं लागू की जाती है।

इस बात के लिए एक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा जाय कि वह एक लाभ पाने वाला स्वामी है, अथवा केवल एक बेनामीदार, आदि है, और ऐसे घोषणा-पत्र की सम्पत्ति से सम्बन्धित वाद की दीवानी कार्यवाही के दृष्टिकोण से पूरी कानूनी मान्यता होनी चाहिए।

मूल्यांकन की समस्या (The Problem of Valuation)

मेरे विचार में सर्वश्रेष्ठ पद्धति यह होगी कि हिसाब-किताब के साधारण नियमों का पालन किया जाय और सम्पत्ति की प्रत्येक विशिष्ट मद का उसके बिकने तक मूल्यांकन इसके "बही-मूल्य" के आधार पर किया जाय। व्यवहार में इसका आशय यह है कि जब शुरु में एक खाता खोला जाता है तो सम्पत्ति की सारी मदों का मूल्यांकन उस चालू मूल्य पर किया जाता है जिसे लागत के रूप में खातों में ले जाया जाता है और उस लागत पर उनका मूल्यांकन उस समय तक होता है जब तक कि सम्पत्ति बिक्री, उपहार, अथवा वसीयत के रूप मे हस्तान्तरित नहीं हो जाती है (केवल उन मामलो को छोडकर जिनमें राजस्व-विभाग मूल्य-ह्रास की इजाजत दे देता है और उनका मूल्यांकन लागत में से उस समय तक का मूल्य-ह्रास घटाने के बाद बचने वाली राशि के आधार पर किया जाता है)। अतः सम्पत्ति का मूल्याकन निम्न दिशाओं मे किया जाना चाहिए : (अ) शुरु में जब कर लागू किया जाता है और वैयक्तिक खाते खोले जाते है; और (आ) बाद में जब सम्पत्ति का हस्तान्तरण बिक्री के अलावा और किसी विधि से किसी भिन्न व्यक्ति को किया जाता है।

सम्पत्ति के प्रारम्भिक मूल्यांकन की जिम्मेदारी करदाता पर होगी जिसे सभी मदो का मूल्य चालू बाजार-मूल्य पर आंकने के लिए कहा जायगा। यदि राजस्व-विभाग मूल्यांकन की एक विशेष मद पर आपत्ति उठाता है तो इसे करदाता से यह पूछने का अधिकार होना चाहिए कि वह सम्पत्ति की विवादास्पद मद की अपनी रिजर्व कीमत बतलावे। कर के प्रयोजनार्थ बाजार-मूल्य के बदले मे वह रिजर्व कीमत स्वीकार कर लेनी चाहिए। यदि राजस्व-विभाग की राय मे करदाता के द्वारा सुझाई गई रिजर्व कीमत फिर भी सम्पत्ति के वास्तविक चालू बाजार मूल्य से कम होती है तो वह केन्द्रीय लोक-निर्माण विभाग (P.W.D.)[1] को ऐसी ही सलाह दे सकता है। ऐसा करने पर लोक-निर्माण-विभाग करदाता के ही रिजर्व मूल्य पर सम्पत्ति को

1. अथवा और कोई विभाग जिसे सरकारी सम्पत्तियों की देखभाल करने का कार्य सौंपा गया है।

ले सकता है। इस प्रकार जो करदाता जानबूझ कर अपने प्रविवरणों में सम्पत्ति का मूल्य कम दिखलाते हैं उन्हें बाजार मूल्य के लिए अपनी ही रिज़र्व कीमत को प्रतिस्थापित करने का खतरा उठाना होगा जिसके फलस्वरूप उन्हें प्रचलित बाजार मूल्य से अधिक मूल्य पर कर देने की सजा भुगतनी पड़ेगी। यदि उनकी रिज़र्व कीमत वास्तविक बाजार मूल्य से कम भी बतलाई जाती है तो उन्हें यह खतरा उठाना पड़ेगा कि उस कीमत पर सरकार उनकी सम्पत्ति को "खरीद लेगी"।[1]

केन्द्रीय रेवेन्यू या राजस्व बोर्ड (C.B.R.) के अन्तर्गत केन्द्रीय-मूल्यांकन-विभाग की स्थापना और साथ में प्रादेशिक और उप-प्रादेशिक मूल्यांकन कार्यालयों की आवश्यकता इसलिए होगी कि करदाताओं के द्वारा दिये गये सम्पत्ति के मूल्यांकनों की जाँच की जा सके। (शेयर बाजार में जिन स्टॉक व शेयरों का भाव बतलाया जाता है उनके सम्बन्ध में यह समस्या उत्पन्न नहीं होती है, बल्कि यह मुख्यतः अचल सम्पत्ति के सम्बन्ध में होती है।) यह मुख्यतया सम्पत्तियों के प्रारम्भिक मूल्यांकन की जाँच के लिए आवश्यक होगा और साथ में निःशुल्क अथवा अर्द्ध-निःशुल्क हस्तान्तरण (उपहार, उत्तराधिकार, आदि) के मामलों में मूल्यांकन की जांच के लिए आवश्यक होगा जहाँ मूल्यांकन की आवश्यकता एक तरफ उपहार-कर व पूंजी-लाभ-कर के लिए और दूसरी तरफ नये स्वामियों के हाथों में वार्षिक धन कर[2] के लिए सम्पत्ति के मूल्यों

---

1. मेरी समझ में शायद ही ऐसा कोई देश होगा जहाँ यह प्रणाली वास्तव में प्रचलित हो; लेकिन प्रायः यह सुझाव दिया गया है (उदाहरण के लिए, प्रथम महायुद्ध के बाद ब्रिटेन में पूंजी-शुल्क के विवेचन के सम्बन्ध में) कि कराधान के उद्देश्य के लिए सम्पत्ति के मूल्यांकन की समस्या सभी प्रभावपूर्ण ढंग से हल की जा सकती है जबकि सम्पत्ति के मूल्यांकन की जिम्मेदारी पूर्णतया करदाता पर डाली जाय और सरकार विवाद की स्थिति में करदाता के स्वयं के मूल्यांकन पर सम्पत्ति को प्राप्त करने का अधिकार रखे।

2. ब्रिटेन में अन्तर्देशीय रेवेन्यू बोर्ड के नीचे केन्द्रीय मूल्यांकन-कार्यालय सम्पत्तियों का मूल्यांकन सम्पदा-कर एवं स्टाम्प-शुल्क दोनों के लिए करता है और इसे अब स्थानीय करों के लिए समस्त भूमि व इमारतों की सूची बनाने एवं इनका मूल्यांकन करने का अधिकार भी दे दिया गया है।

में संशोधन करने के लिए होती है। यहाँ पर जिस प्रणाली को सुझाया गया है उसमें प्रत्येक बार सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर पूंजी-लाभ-कर लगाया जाता है और इसके अतिरिक्त सभी नि.शुल्क हस्तान्तरणों पर प्राप्तकर्त्ता से उपहार-कर वसूल किया जाता है। सम्पत्ति पर वार्षिक कर के उद्देश्य की दृष्टि से पूंजीगत मूल्य वही मूल्य होगा जो नि.शुल्क हस्तान्तरणों के मामले में पूंजी-लाभ-कर एवं उपहार कर के लिए स्वीकार किया गया है और अन्य सौदों के सम्बन्ध में विक्रय व क्रय-लागत की वास्तविक राशि के बराबर होता है।[1]

---

1. यदि समस्त सम्पत्ति का मूल्यांकन प्रचलित बाजार मूल्यों के स्थान पर 'किताबी मूल्यों' से किया जाता है तो इसका आशय यह निकलता है कि वार्षिक कर के दृष्टिकोण से सम्पत्ति का मूल्यांकन इसके प्रचलित बाजार मूल्य से 8–10 वर्ष पीछे रह जाता है। यदि हम यह मान लेते हैं कि सम्पत्ति के मूल्य में दीर्घकाल में 3% की औसत चक्रवृद्धि दर से बढ़ोतरी होती है तो इसका आशय यह होगा कि कर एक ऐसे आधार पर लगाया जायगा जो औसत मामलों में एक कई वर्षों में प्रचलित बाजार मूल्य के लगभग दो-तिहाई के बराबर होगा। वास्तव में दरों की उपयुक्त सारणी का निश्चय करते समय इसका ध्यान रखा जाना चाहिए। 8–10 वर्षों के अन्तर का अनुमान निम्न विधि से लगाया जाता है। यदि सम्पत्ति का मृत्यु के अलावा और किसी तरह से हस्तान्तरण नहीं होता है तो किसी भी एक समय में सम्पत्तियों का औसत किताबी मूल्य आधी पीढ़ी पूर्व के बाजू मूल्यों के बराबर होगा और चूंकि एक पीढ़ी 25 वर्ष की होती है, इसलिए औसतन 12.5 वर्ष का विलम्ब (lag) पड़ जाता है। इसमें सभी किस्म की सम्पत्तियों के हस्तान्तरणों के कारण क्रय-विक्रय एवं एक जीवित व्यक्ति से दूसरों को दिये जाने वाले उपहारों (inter-vivos gifts) के जरिए और भी कमी करने की आवश्यकता

9

वैयक्तिक खर्च-कर

प्रोफेसर निकोलस केल्डॉर

62. प्रथम अध्याय में यह सुझाया गया था कि अन्य प्रस्तावित सुधारों के साथ वैयक्तिक खर्च पर एक आरोही या प्रगामी कर लगाया जाना चाहिए और आय कर की अधिकतम दर घटाकर एक रुपये में 7 आना (या सर-चार्ज सहित 45%) कर देनी चाहिए। इस प्रकार इन प्रस्तावों का प्रभाव यह होगा कि वैयक्तिक आय पर अधिकर की अपेक्षाकृत ऊँची सीमाओं के स्थान पर वैयक्तिक खर्च पर एक अधिकर लग जायगा। इस अध्याय का उद्देश्य इन प्रस्तावों को और भी विस्तार से समझाना है और साथ में कुछ ऐसी आपत्तियों पर विचार करना है जो भारत में वैयक्तिक खर्च कर के लागू करने के विषय में उठाई गई हैं।

I सामान्य धारणा

63. मैंने अपनी पुस्तक [1] में वैयक्तिक खर्च-कर के पक्ष में न्याय और आर्थिक आवश्यकता—दोनों के आधार पर कुछ विस्तार से चर्चा की है और मैं यहां पर उसके सामान्य तर्कों को दोहराना नहीं चाहता हूँ। मैंने अपनी पुस्तक में जो प्रस्ताव दिये थे उनके विरुद्ध में भारत की विशेष परिस्थिति में जो मुख्य तर्क दिये गये हैं उनका उल्लेख नीचे किया जाता है :

(अ) आय के वर्तमान करों के बावजूद भी खर्च-कर लागू कर देना व्यावहारिक नहीं होगा क्योंकि यह कराधान को बहुत कठोर बना देगा।

(आ) आय पर कराधान के बदले में खर्च पर कराधान लागू करने का आशय यह होगा कि बचतों को कर से छूट मिल जायगी जिससे धनिक-वर्ग के पास संचय को काफी प्रोत्साहन मिलेगा और सम्पत्ति के स्वामित्व का केन्द्रीयकरण और भी बढ़ जायगा। यदि सम्पत्ति-कर सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकने के लिए लगाये जाते हैं तो, बदले में, इससे बचत को प्रोत्साहित करने के सम्बन्ध में खर्च-कर के लाभ समाप्त हो जायेंगे।

1. An Expenditure Tax (London, Allen & Unwin, 19..)

(इ) आयकर की अपेक्षा खर्च-कर प्रशासकीय दृष्टि से अधिक जटिल होता है।

(ई) चूँकि कृषिगत आय में से किया गया खर्च कराधान से मुक्त रखा जायगा, इसलिए लोगों को इस बात के लिए प्रोत्साहन मिलेगा कि वे अपने खर्च का अधिकतम भाग अपनी कृषिगत आय में से किया हुआ बतलावें :

64. मेरे विचार में यह तो स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि यद्यपि खर्च-कर आयकर से अधिक उत्तम होता है, क्योंकि एक तो 'खर्च' कराधान के आधार के रूप में 'आय' की बनिस्बत ज्यादा कड़ाई से परिभाषित किया जा सकता है, और दूसरे 'खर्च' 'आय' की अपेक्षा करदेय क्षमता का ज्यादा अच्छा सूचक होता है, फिर भी आयकर और खर्च-कर दोनों को साथ-साथ रखने में कोई निहित दोष नहीं है। यदि हम यों भी तर्क करें कि आय पर वर्तमान कराधान आय और अधि-करों की ऊँची दरों पर प्रभावपूर्ण ढंग से लागू किया जाता है, तो भी खर्च-कर के लागू करने को उचित ठहराया जा सकता है, बशर्ते कि आर्थिक कारणों से वैयक्तिक खर्च पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता हो और वह प्रतिबन्ध आय व सम्पत्ति करों में और वृद्धि करके प्राप्त नहीं किया जा सके। यदि आय और सम्पत्ति पर काफी कड़ाई से कर लगाया जाता है और संचित धन में से किये जाने वाले खर्च पर कर नहीं लगाया जाता है अथवा इस पर रोक नहीं लगाई जाती है, तो इसका प्रभाव केवल यह होगा कि पूँजीपति अपना जीवन-स्तर कम करने के बजाय अपना धन व्यर्थ में ही नष्ट कर देने के लिए प्रोत्साहित होंगे।[1] मैंने पिछले अध्यायों में यह तर्क प्रस्तुत किया था कि यदि आय पर लगाये गये करों को प्रभावपूर्ण ढंग से लागू किया जाता है तो आय पर कराधान की वर्तमान ऊँची सीमान्त

1. इसके अलावा, ऐसी फिजूलखर्ची लाभ में वृद्धि करके पूँजीपति वर्ग की आय और बचत में कमी करने में ऊँचे कराधान के प्रभाव को मिटा देती है; यदि समुदाय का विनियोग-खर्च दिया हुआ है तो आय और सम्पत्ति पर करों का वास्तविक भार पूँजीपति-वर्ग पर उसी सीमा तक पड़ सकता है जिस सीमा तक कि इसके फलस्वरूप उस वर्ग की खर्च करने की प्रवृत्ति घट जाती है। इस प्रकार खर्च को प्रोत्साहित करके यह कर-प्रणाली अनजान में ही करों का भार लाभार्जन करने वाले वर्ग (समग्र रूप में लिये जाने पर) से समाज के अन्य वर्गों पर खिसकाने में सहायक सिद्ध होती है।

दरों का महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के व्यवहार पर और भी हानिकारक प्रभाव पड़ेगा (अर्थात् उनकी बचत अथवा विनियोग करने की प्रेरणाओं पर)। यह सत्य है कि ये प्रभाव बहुत कुछ टाल दिये जाते हैं, क्योंकि कर-प्रणाली में काफी बड़े छिद्र होते हैं जिनके कारण जोखिम-पूंजी के स्वामी कर-मुक्त लाभ प्राप्त कर पाते हैं और कर-मुक्त बचतों में से पूंजी एकत्रित कर पाते हैं, करारोपण की वर्तमान प्रणाली के विरुद्ध में एक तर्क है, न कि खर्च-कर के विरुद्ध में। कारण यह है कि यदि ये छिद्र बन्द कर दिये जाते हैं (अर्थात् सभी पूंजीगत लाभों आदि पर भी उसी तरह कर लगने लगता है जिस तरह कि आय पर लगता है) तो शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जायगा कि आय की ये ऊंची सीमान्त दरें कायम नहीं रखी जा सकेंगी। अतः यदि आरोही करारोपण को प्रभावपूर्ण एवं निष्पक्ष रखना है तो एक सीमा से परे यह आय के आधार पर नहीं बल्कि केवल खर्च के आधार पर ही लगाया जाना चाहिए।

65. यह कहना भी ग़लत होगा कि सम्पत्ति पर कर लागू करने से (चाहे यह धन पर वार्षिक कर के रूप में या सम्पदा-कर, अथवा सामान्य उपहार-कर के रूप में हो) व्यय-कर के व्यय को सीमित करने वाले लाभ मिट जायेंगे। इसके विपरीत, वैयक्तिक खर्च-कर के लागू हो जाने से धनिक वर्ग की खर्च करने एवं बचत करने की आदतों पर इन सम्पत्ति करों के प्रेरणाहारी प्रभावों पर रोक लगेगी। एक आरोही खर्च-कर यद्यपि बड़ी धन-राशि के संचय की दर में तो वृद्धि कर सकता है, लेकिन अपने आप में यह उच्च वर्गों के जीवन-स्तर में प्रभावपूर्ण कमी कर देता है। सम्पत्ति-कर संचय की दर को तो कम कर देते हैं लेकिन ये खर्च को प्रोत्साहित करते हैं। अतः दोनों किस्म के करों का मेल प्रत्येक के अच्छे प्रभावों को मिटाने के बजाय धनिक-वर्ग के जीवन-स्तर पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण को सम्भव बना देगा और साथ में सम्पत्ति के अधिक समान वितरण के दीर्घकालीन समाजवादी उद्देश्य का भी परित्याग नहीं करना पड़ेगा।

66. यद्यपि खर्च-कर का संचालन वर्तमान आय-कर की तुलना में प्रशासनिक दृष्टि से ज्यादा कठिन होगा, लेकिन यह आय-करारोपण की एक व्यापक एवं प्रभावपूर्ण प्रणाली के संचालन से ज्यादा कठिन नहीं होगा। इसके विपरीत वैयक्तिक करारोपण की ऐसी प्रणाली में जिसमें आय (पूंजीगत लाभ सहित) और सम्पत्ति दोनों पर कर लगे हुए हैं, खर्च-कर के शामिल कर लिए जाने से कर की चोरी को रोकने में काफी सहूलियत हो जायगी। ऐसा अंशतः तो इसलिए होगा कि खर्च-कर विशेष सौदों को छिपाने के सम्बन्ध में विभिन्न

दलों के बीच हितों का विरोध उत्पन्न कर देगा (जब कि वर्तमान व्यवस्था में यह सम्भव है कि एक सौदे से सम्बन्धित दोनों दलों का समान हित इस बात में हो कि एक विशेष सौदे के मूल्य को या तो पूर्णतया छिपा लिया जाय अथवा उसे कम करके बतलाया जाय), और अंशत. इसलिए भी होगा कि एक विशेष अवधि में वैयक्तिक कार्यों पर व्यय की गई धन-राशि का हिसाब देने की आवश्यकता के कारण एवं साथ में अवधि के प्रारम्भ एव अत मे वैयक्तिक विशुद्ध धन के तलपट को प्रस्तुत करने के दायित्व के कारण करदाता प्राप्त राशियों को पूर्ण रूप से बतलाने के लिए बाध्य हो; ठीक उसी तरह जिस तरह कि चालू प्राप्तियों एवं व्यय का पूरा प्रविवरण देने की आवश्यकता करदाता को पूँजीगत परिसम्पत्तियों की सम्पूर्ण जानकारी देने के लिए बाध्य करती है।

67. यह भी स्मरण रखना होगा कि जो वैयक्तिक खर्चे व्यावसायिक खर्च-खातों अथवा नकद की बजाय वस्तु रूप मे दिये गये लाभो से पूरे किये जाते हैं उनकी समस्या तो पहले ही आयकर के अन्तर्गत उत्पन्न होती है। जब एक करदाता पर वैयक्तिक खर्च और आमदनी दोनो का विवरण प्रस्तुत करने का दायित्व होगा तो आयकर की चोरी के ऐसे मामलों का पता लगाना अपेक्षाकृत सुगम हो जायगा क्योंकि ये मामले वैयक्तिक खर्च के अन्तर्गत दिखलाई जाने वाली अत्यधिक नीची राशि से स्वत प्रगट हो जायँगे। यह स्पष्ट है कि खर्च-कर लागू करने से आय-कर प्रशासन-कार्य बहुत ज्यादा प्रभावशाली भी हो जायगा। किसी व्यक्ति के लिए यह तो सम्भव हो सकता है कि वह अपने खर्च का भाग अपनी प्राप्तियों के उतने ही भाग को छिपाकर अथवा स्वय के खर्चों के कुछ भाग का भुगतान किसी दूसरे से करवा कर (अपने व्यावसायिक नियोक्ता अथवा किसी मित्र अथवा नीची आय वाले अपने किसी सम्बन्धी से) छिपाले, लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि जहां करदाता के द्वारा प्रविवरण मे बतलाई जाने वाली स्वय के खर्च की राशि उसके जीने के ढंग से स्पष्टतः बेमेल प्रतीत होती है वहां तक इस तरह से छिपा सकना सम्भव नहीं होता है।

मेरा विचार है कि आयकर अधिकारियों का अनुभव इस बात को प्रमाणित करेगा कि किसी भी व्यक्ति के खर्च के सम्बन्ध में बाह्य लक्षणों से काफी निश्चित ढग से अनुमान लगाना तो सम्भव नहीं होता है, लेकिन पर्याप्त

निश्चितता से ऐसा अवश्य किया जा सकता है।[1] एक व्यक्ति जिसके कई मकान, बहुत से नौकर-चाकर एवं कई कारें हैं और जो प्रायः मनोरंजन पर व्यय किया करता है, वह प्रति वर्ष अपने वास्तविक व्यय में से कुछ हजार रुपये कम करके भले ही दिखलादे, लेकिन उसके लिए यह सम्भव नहीं होगा कि वह अपने प्रविवरण में 10,000 रु० की राशि बतलादे जब कि वस्तुतः उसने 50,000 रु० अथवा 1,00,000 रु० व्यय किये हैं। लेकिन वर्तमान व्यवस्था में वह किसी भी सीमा तक ग़लत तरीकों से छिपाकर अपनी आमदनी को कम दिखा सकता है, अथवा अपनी आय को पूंजीगत लाभों में परिवर्तित करके करदेय आय में कमी दिखला सकता है अथवा सम्पत्ति को ट्रस्टों एवं बन्दो-बस्तों में हस्तान्तरित करके अधिकर (Super tax) में कमी करवा सकता है।

जहां तक कृषिगत आय का सम्बन्ध है संवैधानिक स्थिति तो खर्च-कर के पक्ष में ही प्रतीत होती है। संविधान में खर्च-कर को विशिष्ट रूप से केन्द्र अथवा राज्यों को नहीं दिया गया है और न उसमें कहीं पर यह बतलाया गया है कि कृषिगत आय में से किये जाने वाले खर्च पर (जो कृषिगत आय से भिन्न होता है) केन्द्र की तरफ से कर नहीं लगना चाहिए। अतः मेरे विचार में वैयक्तिक खर्च पर लगाया जाने वाला कर वैधानिक होता है, चाहे खर्च किसी भी स्रोत से क्यों न किया गया हो, और इससे प्राप्त होने वाली आय संविधान की सातवीं सारणी की प्रथम सूची की 97 वीं मद के अन्तर्गत पूर्णतया केन्द्र की ही मानी जा सकती है।

भारत में विशाल जन-समुदाय के उपभोग स्तर न्यूनतम स्तर के इतने समीप हैं कि मेरे विचार में आर्थिक विकास की अपेक्षाकृत ऊंची दर को बनाये रखने के लिए धनिक-वर्ग के उपभोग की प्रवृत्ति मे कमी लाना नितान्त आवश्यक जान पड़ता है। सच पूछा जाय तो विलासिताओं का उपभोग ही राष्ट्रीय खर्च का वह भाग है जिसमे पूंजी सचय की अपेक्षाकृत ऊची दर के लिए साधन जुटाने के वास्ते कमी की जा सकती है; और वैयक्तिक उपभोग पर लगाया जाने वाला क्रमिक आरोही कर इस लक्ष्य को प्राप्त करने की दृष्टि से निस्सदेह एक आदर्श साधन माना जा सकता है।

II. खर्च की परिभाषा और कर-निर्धारण व अनुक्रमण की विधि (Definition of Expenditure and Mode of Assessment and Graduation)

70. कर का वास्तविक आधार—नीचे यह और भी स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि करदाता को सामान्यतया उपभोग पर किये जाने वाले अपने व्ययों का विस्तृत विवरण देने की आवश्यकता नहीं होती है (बल्कि अपनी समस्त प्राप्त-राशियो, विनियोगों आदि, और उन समस्त मदो जिनके लिए वह छूट चाहता है, को प्रदर्शित करने वाले व्यापक प्रविवरण के अंग के रूप मे अपने कुल व्यय का हिसाब ही देना होता है), फिर भी इस कर के कानूनी आधार के रूप मे तो वैयक्तिक उपभोग (अथवा खर्च) की प्रति दिन के काम की एक उचित धारणा होनी ही चाहिए जिसमे न केवल वे मदें हो जो करदाता के स्वयं के खर्च से पूरी की जाती हैं, बल्कि वस्तु-रूप में प्राप्त होने वाले लाभों एवं उपहारों मे से किया गया उपभोग एव नियोक्ता, मित्र अथवा सम्बन्धी के द्वारा भरे गये खर्चे भी शामिल हो, हालाकि ऐसे उपहारों अथवा लाभों के लिए एक वार्षिक छूट की सीमा हो, जैसे प्रति वर्ष 2000 रु०। यदि यह कर इस तरह से परिभाषित वैयक्तिक उपभोग पर निर्भर करता है तो कम व्यय करने की क्षमता रखने वाले व्यक्तियों आदि को उपहार देकर (ताकि बदले मे ऐसे व्यक्ति करदाता के खर्चों का कुछ अंश चुका दें) किये जाने वाले कर टालने के प्रयत्न, अथवा अपने निजी बिलों का भुगतान नियोक्ताओं या व्यवसायियों से करवा कर किये जाने वाले कर टालने के प्रयत्न बिलकुल भी सम्भव नहीं हो सकेंगे। वास्तव में करदाताओं से तो वैयक्तिक उपभोग के लिए प्राप्त समस्त वस्तुओं एवं सेवाओ के मूल्य पर ही कर लिया जायगा, चाहे इनके लिए भुगतान किसी ने भी और कैसे भी क्यों न किया हो।

अथवा असामान्य मदों जैसे शादियों पर, करदाता की इच्छा के अनुसार पाँच वर्ष अथवा सम्भवतया दस वर्ष की अवधि पर फैलाये जा सकते हैं। चूँकि एक आरोही या प्रगामी प्रणाली के अन्तर्गत ऐसे असामान्य व्यय के कारण प्राप्त होने वाली कर की छूट स्वतः अगले एवं आगामी वर्षों में करदाता के लिए कर योग्य व्यय की राशि को बढ़ा देगी, इसलिए इस तरह का फैलाव करदाता के हित में नहीं होगा, सिवाय इसके कि यह एक अवधि में उसके व्यय की दर को समान करने में वास्तविक सहायता अवश्य करेगा। अतः इन श्रेणियों में उस तरह के प्रमाण की आवश्यकता नहीं होगी जिस तरह के प्रमाण की आवश्यकता ऊपर पैरा 71 में (अ) से (ई) तक की श्रेणियों के अन्तर्गत छूट की माँग करने के लिए हुई थी।[1]

कर-निर्धारण और क्रम-निर्धारण की विधि
(Mode of Assessment and Graduation)

74. चूँकि इस कर का उद्देश्य खर्च पर तेजी से बढ़ने वाली सीमान्त दरों को लगाकर व्यय के ऊँचे स्तर को निरुत्साहित करना है, इसलिए आयकर की अपेक्षा इस कर में यह ज्यादा आवश्यक होगा कि आवश्यकताओं के उन अंतरों पर ध्यान दिया जाय जो करदाता के द्वारा पालन-पोषण किये जाने वाले परिवार के आकार के अंतरों से उत्पन्न होते हैं। अतः आयकर के विपरीत (जहाँ प्रारम्भिक छूट की राशि के परिवर्तन से कर के दायित्व में बहुत मामूली-सा अंतर ही आता है) खर्च-कर की दरों में सम्पूर्ण परिवार के कुल खर्च की अपेक्षा प्रति व्यक्ति खर्च की राशि के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए। इसका आशय यह है कि तथाकथित भागफल की प्रणाली (quotient system) को अपनाया जाय जो आयकर के लिए पहले से ही फ्रांस में चल रही है। इसके अन्तर्गत एक परिवार के सभी सदस्यों की आय (या खर्च) को पहले जोड़ लिया जाता है, फिर उसे प्रत्येक परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर कई टुकड़ों में विभाजित कर लिया जाता है, और प्रत्येक अंश पर अलग-अलग कर वसूल किया जाता है। प्रत्येक बच्चे को आधी इकाई के बराबर माना जा सकता है (यद्यपि यह अंश उनकी उम्र व संख्या के अनुसार

---

1. एक वैकल्पिक विधि यह होगी कि कर के उद्देश्य के लिए समस्त खर्च को फैलाने की इजाजत दी जाय और कर की राशि एक विशेष वर्ष के वास्तविक खर्च की अपेक्षा पिछले पाँच वर्षों के व्यय की परिवर्ती (moving) औसत के अनुसार आँकी जाय।

बदला जा सकता है।)[1] स्त्री एवं बच्चों के अलावा "परिवार" की धारणा मे एक संयुक्त परिवार में रहने वाले अन्य पारिवारिक सदस्यों को शामिल करने की इजाजत भी दी जा सकती है, बशर्ते कि उनकी प्राप्त-राशियाँ आमदनी व सम्पत्ति कर के लिए परिवार के साथ प्रभावपूर्ण ढग से जोड दी जाती हैं। लेकिन ऐसे अतिरिक्त सदस्यों को भी उसी तरह से गिनना उचित होगा जिस तरह से कि बच्चों में प्रत्येक को पूरी इकाई न मानकर अंश के रूप मे माना जाता है। इसका कारण यह है कि, एक दिये हुए जीवन-स्तर को मान लेने पर, समग्र पारिवारिक खर्च में एक परिवार के सदस्यों मे होने वाली वृद्धि की तुलना मे अनुपात से कम वृद्धि ही होती है। अतएव मेरा यह सुझाव है कि अतिरिक्त पारिवारिक सदस्यो को क्रमशः घटते हुए क्रम मे वयस्क इकाइयो मे बदला जाना चाहिए ताकि जैसे चार सदस्यों के परिवार को तीन वयस्क इकाइयों के बराबर गिना जाय, सात सदस्यो के परिवार को चार वयस्क इकाइयों के बराबर माना जाय और एक परिवार के लिए वयस्क इकाइयो की अधिकतम संख्या पाँच रखी जानी चाहिए। इसका आशय यह है कि एक बड़े परिवार के सम्बन्ध में कर का न्यूनतम दायित्व जानने के लिए कुल पारिवारिक खर्च को पाँच से विभाजित किया जाता है, और इस दायित्व का पाँच गुना किया जाता है।

75. जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, कर लगाने की इस विधि की पूर्व-शर्त यह है कि परिवार के सदस्यो की समस्त प्राप्तियाँ, आमदनी व सम्पत्ति का प्रभावपूर्ण ढग से जोड़ लगाया जाना चाहिए। यद्यपि, सिद्धान्ततः ऐसा योग (aggregation) बिना आय व सम्पत्ति करों पर लागू किये केवल खर्च कर के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है, लेकिन यदि इस तरह के जोड़ के नियम वैयक्तिक करारोपण की सभी किस्मों पर समान रूप से लागू किये जाते हैं तो वह प्रशासनिक दृष्टिकोण से स्पष्टतः ज्यादा सुविधाजनक होगा। इंग्लैंड के विपरीत भारत मे कर के लिए पति-पत्नी की आय स्वतः नही जोड़ ली जाती है, हालांकि कर को टालने के विपरीत ऐसी विशिष्ट व्यवस्थाएँ हैं जो साझेदारी के भरों आदि के सम्बन्ध में जोड़ या एकत्रीकरण

1. इसका आशय यह है कि यदि एक परिवार मे दो प्रौढ़ व्यक्ति हैं तो उसे एक अकेले व्यक्ति की तुलना में जिसका खर्च आधा है दुगुना कर देना होगा, एक विवाहित दम्पति जिसके दो बच्चे हैं, उसे एक अकेले व्यक्ति की तुलना में जिसका व्यय सयुक्त पारिवारिक व्यय का एक-तिहाई है, तिगुना कर देना होगा, इत्यादि।

अथवा असामान्य खर्च जैसे शादियों पर, करदाता की इच्छा के अनुसार पाँच वर्ष अथवा सम्भवतया दस वर्ष की अवधि पर फैलाये जा सकते हैं। चूंकि एक आरोही या प्रगामी प्रणाली के अन्तर्गत ऐसे असामान्य व्यय के कारण प्राप्त होने वाली कर की छूट स्वतः अगले एवं आगामी वर्षों में करदाता के लिए कर योग्य व्यय की राशि को बढ़ा देगी, इसलिए इस तरह का फैलाव करदाता के हित में नहीं होगा, सिवाय इसके कि यह एक अवधि में उसके व्यय की दर को समान करने में वास्तविक सहायता अवश्य करेगा। अतः इन श्रेणियों में उस तरह के प्रमाण की आवश्यकता नहीं होगी जिस तरह के प्रमाण की आवश्यकता ऊपर पैरा 71 में (अ) से (ई) तक की श्रेणियों के अन्तर्गत छूट की मांग करने के लिए हुई थी।[1]

कर-निर्धारण और क्रम-निर्धारण की विधि
(Mode of Assessment and Gradation)

74 चूंकि इस कर का उद्देश्य खर्च पर तेजी से बढ़ने वाली सीमान्त दरों को लगाकर व्यय के ऊँचे स्तर को निरुत्साहित करना है, इसलिए आयकर की अपेक्षा इस कर में यह ज्यादा आवश्यक होगा कि आवश्यकताओं के उन अंतरों पर ध्यान दिया जाय जो करदाता के द्वारा पालन-पोषण किये जाने वाले परिवार के आकार के अंतरों से उत्पन्न होते हैं। अतः आयकर के विपरीत (जहाँ प्रारम्भिक छूट की राशि के परिवर्तन से कर के दायित्व में बहुत मामूली-सा अंतर ही आता है) खर्च-कर की दरों में सम्पूर्ण परिवार के कुल खर्च की अपेक्षा प्रति व्यक्ति खर्च की राशि के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए। इसका आशय यह है कि तथाकथित भागफल की प्रणाली (quotient system) को अपनाया जाय जो आयकर के लिए पहले से ही फ्रांस में चल रही है। इसके अन्तर्गत एक परिवार के सभी सदस्यों की आय (या खर्च) को पहले जोड़ लिया जाता है, फिर उसे प्रत्येक परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर कई टुकड़ों में विभाजित कर लिया जाता है, और प्रत्येक अंश पर अलग-अलग कर वसूल किया जाता है। प्रत्येक बच्चे को आधी इकाई के बराबर माना जा सकता है (यद्यपि यह अंश उनकी उम्र व संख्या के अनुसार

1. एक वैकल्पिक विधि यह होगी कि कर के उद्देश्य के लिए समस्त खर्च को फैलाने की इजाजत दी जाय और कर की राशि एक विशेष वर्ष के वास्तविक खर्च की अपेक्षा पिछले पाँच वर्षों के व्यय की परिवर्ती (moving) औसत के अनुसार आँकी जाय।

बदला जा सकता है।)[1] स्त्री एवं बच्चों के अलावा "परिवार" की धारणा में एक संयुक्त परिवार में रहने वाले अन्य पारिवारिक सदस्यों को शामिल करने की इजाजत भी दी जा सकती है, बशर्ते कि उनकी प्राप्त-राशियाँ आमदनी व सम्पत्ति कर के लिए परिवार के साथ प्रभावपूर्ण ढंग से जोड़ दी जाती हैं। लेकिन ऐसे अतिरिक्त सदस्यों को भी उसी तरह से गिनना उचित होगा जिस तरह से कि बच्चों में प्रत्येक को पूरी इकाई न मानकर यदा के रूप में माना जाता है। इसका कारण यह है कि, एक दिये हुए जीवन-स्तर को मान लेने पर, समग्र पारिवारिक खर्च में एक परिवार के सदस्यों में होने वाली वृद्धि की तुलना में अनुपात से कम वृद्धि ही होती है। अतएव मेरा यह सुझाव है कि अतिरिक्त पारिवारिक सदस्यों को क्रमशः घटते हुए क्रम में वयस्क इकाइयों में बदला जाना चाहिए ताकि जैसे चार सदस्यों के परिवार को तीन वयस्क इकाइयों के बराबर गिना जाय, सात सदस्यों के परिवार को चार वयस्क इकाइयों के बराबर माना जाय और एक परिवार के लिए वयस्क इकाइयों की अधिकतम संख्या पाँच रखी जानी चाहिए। इसका आशय यह है कि एक बड़े परिवार के सम्बन्ध में कर का न्यूनतम दायित्व जानने के लिए कुल पारिवारिक खर्च को पाँच से विभाजित किया जाता है, और इस दायित्व का पाँच गुना किया जाता है।

75. जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, कर लगाने की इस विधि की पूर्व-शर्त यह है कि परिवार के सदस्यों की समस्त प्राप्तियों, आमदनी व सम्पत्ति का प्रभावपूर्ण ढंग से जोड़ लगाया जाना चाहिए। यद्यपि, सिद्धान्ततः ऐसा योग (aggregation) बिना आय व सम्पत्ति करों पर लागू किये केवल खर्च कर के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है, लेकिन यदि इस तरह के जोड़ के नियम वैयक्तिक कराधान की सभी किस्मों पर समान रूप से लागू किये जाते हैं तो वह प्रशासनिक दृष्टिकोण से स्पष्टतः ज्यादा सुविधाजनक होगा। इंग्लैंड के विपरीत भारत में कर के लिए पति-पत्नी की आय स्वतः नहीं जोड़ी जाती है, हालांकि कर को टालने के विपरीत ऐसी विशिष्ट व्यवस्थाएँ हैं जो साझेदारी के पत्रों आदि के सम्बन्ध में जोड़ या एकत्रीकरण

1. इसका आशय यह है कि यदि एक परिवार में दो प्रौढ़ व्यक्ति हैं तो उसे एक अकेले व्यक्ति की तुलना में जितना खर्च आता है दुगुना कर देना होगा, एक विवाहित दम्पति जिसके दो बच्चे हैं, उसे एक अकेले व्यक्ति की तुलना में जितना व्यय संयुक्त पारिवारिक व्यय का एक-तिहाई है, तिगुना कर देना होगा, इत्यादि।

को आवश्यक बना देती है और इनमें परिवार के सदस्यों के बीच आय और
सम्पत्ति के हस्तान्तरणों पर कर के उद्देश्यों के लिए ध्यान नहीं दिया जाता
है। लेकिन विभिन्न करदाताओं के बीच यह ज्यादा न्यायोचित होगा कि
पति-पत्नी व नाबालिग बच्चों (कानूनी पृथक्करण को छोड़कर) एकत्रीकरण
का एक ही सामान्य नियम आय और सम्पत्ति करों एवं खर्च-कर के लिए
प्रयुक्त किया जाय। परिवार के अन्य सदस्यों के सम्बन्ध में आय व सम्पत्ति
करों के लिए तो एकत्रीकरण या जोड़ ऐच्छिक होगा, लेकिन खर्च-कर के लिए
एकत्रीकरण एक अनिवार्य पूर्व-शर्त के रूप में माना जायेगा।

शब्दावली

(अंग्रेजी-हिन्दी)

Ability to Pay	कर-दान क्षमता या करदेय क्षमता
Accrued Income	उपार्जित आय
Allocation	आवंटन, वितरण
Amortisation	ऋण-परिशोध
A priori Analysis	निगम्य विश्लेषण
Asset	परिसम्पत्ति
Balanced Budget Incidence	सतुलित बजट करापात
Betterment Levy	सुधार-कर
Bounty	आर्थिक सहायता
Budgetary surplus	बजट-अतिरेक
Cess	उपकर
Collective Consumption	सामूहिक उपभोग
Convexity	उन्नतोदरता
Corporate Sector	निगम-क्षेत्र
Deficit Financing	घाटे की वित्त-व्यवस्था
Deflationary	अपस्फीतिकारी
Demand Function	मांग-फलन
Differential Incidence, Tax	भेदात्मक करापात
Disguised Unemployment	छिपी हुई बेरोजगारी
Disincentive Effect	प्रेरणाहारी प्रभाव
Disposable Income	प्रयोज्य आय, खर्च कर सकने योग्य आय
Distorting Effect	विपरीत या विकृत प्रभाव
Diversion Effect	मोड़-प्रभाव, व्यपवर्तन-प्रभाव
Diversion of Resources	साधनों का मोड़ या व्यपवर्तन
Duties	शुल्क
Dynamic	प्रावैगिक
Employer	नियोक्ता

Equal ad valorem Outlay Tax	समान मूल्यानुसार व्यय-कर
Equity	न्याय, समानता
Employment oriented	रोजगारोन्मुख
Entrepreneurship	उद्यमशीलता
Estate Duty	मृत-सम्पत्ति कर
Fiscal Analysis	राजकोषीय या राजस्व विश्लेषण
Fiscal Operation	राजस्व-क्रिया
General Equilibrium	सामान्य सतुलन
Grants	अनुदान
Horizontal Equity	क्षैतिज समानता
Impact of Tax	कराघात, करदेयता
Implicit Assumptions	अव्यक्त मान्यताएं या प्रच्छन्न मान्यताएं
Incentive Effect	प्रेरणाजन्य प्रभाव
Incidence of Tax	करवाह्यता, करापात
Incidence, Formal and *Effective*	औपचारिक एव प्रभावपूर्ण करवाह्यता
Incremental Saving Ratio	बचत वृद्धि-अनुपात
Indifference Map	तटस्थता-मानचित्र या समभाव-मानचित्र
Individual Consumer	वैयक्तिक उपभोक्ता
Income Tax Function	आयकर-फलन
Initiative	पहल
Investment	विनियोग, निवेश
Interpersonal Comparison	अन्तर्व्यक्तिगत तुलना
Inter-vivos gift	एक जीवित व्यक्ति द्वारा दूसरे को दिया जाने वाला उपहार
Inconsistencies	असंगतियां
Lag	विलम्ब, पश्चायन
Laissez Faire	निर्बाध-नीति
Maladjustment	कुसमायोजन या कुसमंजन
Marketing	विपणन
Mode of Assessment	कर-निर्धारण विधि
Monetary Purge	मौद्रिक मार्जन

Monetised Economy	मुद्राधारित अर्थ-व्यवस्था
Net Rate of Return	प्रतिफल की विशुद्ध दर या खरी दर
Non-agricultural	कृषीतर
Non-developmemt	विकासेतर
Non-tax	करेतर
Oligopoly	अल्पविक्रेताधिकार
Partial Equilibrium	आंशिक संतुलन
Poll Tax	प्रतिव्यक्ति कर
Potential Saving	सम्भाव्य बचत
Product Mix	वस्तु-मिश्रण
Progression	आरोहीपन
Progressive Tax	आरोही या प्रगामी कर
Propensity to Consume	उपभोग-प्रवृत्ति
Proportional	आनुपातिक
Proposition	प्रस्थापना
Psychic Income	काल्पनिक आय
Readjustment	पुनर्समायोजन
Realised Income	वसूल या प्राप्त हो चुकी आय
Regressive Tax	अवरोही या प्रतिगामी कर
Regressivity	अवरोहीपन, प्रतिगामिता
Revenue Account	राजस्व-खाता
Revenue Approach	आय-दृष्टिकोण
Skewness	वैषम्य
Shifting of Tax	करान्तरण, कर का हस्तान्तरण
	कर-भार निवा
Social Welfare Function	सामाजिक कल्याण-फलन
Specific Incidence of Tax	विशिष्ट करापात
Specific Tax	विशिष्ट कर
Static	स्थैतिक
	जीवन-निर्वाह या गुज़र-बसर करने वाले कृषक
	आधिक्य, अतिरेक या अधिशेष

Tax-System, Depth and Range	कर-प्रणाली में गहनता व व्यापकता
Taxable Capacity	करदेय क्षमता या सामर्थ्य
Taxation	कराधान, करारोपण
Taxation Enquiry Commission	कराधान जांच आयोग
Tax Evasion	कर-वंचन या कर छिपाना
Tax Formula	कर-सूत्र
Tax Liability	कर-देयता
Tax Structure	*कर का ढांचा*
Transfer Deed	हस्तान्तरण दस्तावेज
Trustee	निक्षेपधारी, ट्रस्टी, न्यासी
Valuation	मूल्यांकन
Vertical Equity	लम्बवत् या उदग्र समानता